सौंदर्य विज्ञान
और
हिन्दी का रीति काव्य

औचित्य सिद्धांत और हिन्दी का रीति-काव्य

डॉ॰ सुरेशचन्द्र त्रिवेदी

प्रकाशक : शोध-प्रबन्ध-प्रकाशन
दिल्ली-७

मुद्रक : सतीश कंपोजिंग एजेन्सी द्वारा
नवप्रभात प्रिंटिंग प्रेस,
शाहदरा, दिल्ली-३२

मूल्य : ३५.००

प्रथम संस्करण . दीपावली, १९७७

प्रमुख वितरक :

सूर्य-प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६

सहधर्मिणी

सौ० पुष्पावती त्रिवेदी

को

सप्रेम



भूमिका

प्रस्तुत ग्रंथ सरदार पटेल विश्वविद्यालय द्वारा पीएच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत मेरे शोध-प्रबन्ध का किंचित् सस्पृष्ट व मुद्रित रूप है।

पूर्वसूत्र

भारतीय काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान छात्र-जीवन से ही मेरी रुचि के विषय रहे हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् १९५७ मे एम० ए० कर जब मै वल्लभ-विद्यानगर के भीखाभाई जीवाभाई वाणिज्य महाविद्यालय में प्राध्यापक के रूप मे नियुक्त होकर आया, तब हिन्दी मे अनुसन्धान कार्य करने की यहाँ कोई सुविधा न थी। दो वर्ष पश्चात् विश्वविद्यालय मे समृद्ध स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग की स्थापना हुई और विभाग मे प्राध्यापक के रूप में मेरी नियुक्ति भी। फलत मेरे लिए अनुसन्धान कार्य करने की सम्भावनाएँ व सुविधाएँ उपलब्ध हुई।

किसी काव्यशास्त्रीय विषय को लेकर हिन्दी मे अनुसन्धान कार्य करने के सकल्प के साथ जब मैंने शोध-क्षेत्र में दृष्टिपात किया, तो पाया कि रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति आदि प्राय सभी काव्यशास्त्रीय विषयो पर कार्य हो चुका था या हो रहा था। केवल 'औचित्य' ही एक ऐसा काव्यशास्त्रीय विषय था, जिसे हिन्दी के किसी युग-विशेष के साथ संयुक्त कर कार्य करने के लिए क्षेत्र उर्वर जान पड़ा। मेरी रुचि और विवेच्य क्षेत्र की शोध-सम्भावना ने ही मुझे 'औचित्य-सिद्धान्त और हिन्दी का रीति-काव्य' विषय पर शोध-कार्य करने को प्रेरित किया।

शीर्षक की व्याख्या

'औचित्य-सिद्धान्त और हिन्दी का रीति-काव्य' शीर्षक से सामान्यत तीन कार्यों का बोध होता है—(१) औचित्य का स्वरूप निर्णय—पूर्व और पश्चिम के मनीषियों की औचित्य-विषयक अवधारणाओ के परिप्रेक्ष्य मे 'औचित्य' का तात्त्विक चिन्तन, उसकी काव्यशास्त्रीय स्थिति पर विचार तथा तत्सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाओ पर विमर्श करते हुए 'औचित्य' का स्वरूप निर्धारण, (२) हिन्दी के रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियों का युगीन परिस्थितियो व परिवेशादि के परिप्रेक्ष्य मे निदर्शन तथा (३) औचित्य का हिन्दी के रीति-काव्य में व्यावहारिक समायोग।

प्रश्न उठ सकता है कि 'औचित्य' के व्यावहारिक समायोग व परीक्षण के लिए

भूमिका

प्रस्तुत ग्रंथ सरदार पटेल विश्वविद्यालय द्वारा पीएच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत मेरे शोध-प्रबन्ध का किंचित् संस्पृष्ट व मुद्रित रूप है।

पूर्वसूत्र

भारतीय काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान छात्र-जीवन से ही मेरी रुचि के विषय रहे है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् १९५७ मे एम० ए० कर जब मैं वल्लभ-विद्यानगर के भीखाभाई जीवाभाई वाणिज्य महाविद्यालय मे प्राध्यापक के रूप मे नियुक्त होकर आया, तब हिन्दी मे अनुसन्धान कार्य करने की यहाँ कोई सुविधा न थी। दो वर्ष पश्चात् विश्वविद्यालय मे समृद्ध स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग की स्थापना हुई और विभाग मे प्राध्यापक के रूप मे मेरी नियुक्ति भी। फलत मेरे लिए अनुसन्धान कार्य करने की सम्भावनाएँ व सुविधाएँ उपलब्ध हुई।

किसी काव्यशास्त्रीय विषय को लेकर हिन्दी में अनुसन्धान कार्य करने के सकल्प के साथ जब मैंने शोध-क्षेत्र मे दृष्टिपात किया, तो पाया कि रस, ध्वनि, अलकार, वक्रोक्ति आदि प्राय सभी काव्यशास्त्रीय विषयो पर कार्य हो चुका था या हो रहा था। केवल 'औचित्य' ही एक ऐसा काव्यशास्त्रीय विषय था, जिसे हिन्दी के किसी युग-विशेष के साथ सयुक्त कर कार्य करने के लिए क्षेत्र उर्वर जान पडा। मेरी रुचि और विवेच्य क्षेत्र की शोध-सम्भावना ने ही मुझे 'औचित्य-सिद्धान्त और हिन्दी का रीति-काव्य' विषय पर शोध-कार्य करने को प्रेरित किया।

शीर्षक की व्याख्या

'औचित्य-सिद्धान्त और हिन्दी का रीति-काव्य' शीर्षक से सामान्यत तीन कार्यों का बोध होता है—(१) औचित्य का स्वरूप निर्णय—पूर्व और पश्चिम के मनीषियों की औचित्य-विषयक अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य मे 'औचित्य' का तात्त्विक चिंतन, उसकी काव्यशास्त्रीय स्थिति पर विचार तथा तत्सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाओं पर विमर्श करते हुए 'औचित्य' का स्वरूप निर्धारण, (२) हिन्दी के रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियो का युगीन परिस्थितियो व परिवेशादि के परिप्रेक्ष्य मे निदर्शन तथा (३) औचित्य का हिन्दी के रीति-काव्य मे व्यावहारिक समायोग।

प्रश्न उठ सकता है कि 'औचित्य' के व्यावहारिक समायोग व परीक्षण के लिए

हिन्दी का रीति-काव्य ही क्यो चुना गया ? वस्तुत हिन्दी के रीतिकालीन काव्य ने अपना प्रस्थान-बिंदु वही से लिया है, जहाँ संस्कृत का काव्यशास्त्र पंडितराज जगन्नाथ की समीक्षक मेधा से चरम परिणति को प्राप्त हो गया था। अत. रीतिकालीन कविता इस सैद्धान्तिक समायोग के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त भूमि मानी जा सकती है। साथ ही आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रभृति विद्वानों ने रीतिकालीन काव्य को विशुद्ध साहित्य की सज्ञा दी है। चूंकि औचित्य का सम्बन्ध काव्य के अतर्बाह्य दोनो प्रकार के चारुत्व से है, शुद्ध काव्य—रीतिकाव्य में ही उसके व्यावहारिक समायोग की समीचीनता स्वत सिद्ध प्रतीत होती है। यों भी रीति-काव्य या शुद्ध-काव्य को सामाजिकता विषयक औचित्य के निकष पर परखना अपने-आप मे स्वय एक उपलब्धि मानी जा सकती है।

प्राप्त सामग्री और उसका परीक्षण

इधर पिछले कुछ वर्षों मे 'औचित्य-सिद्धान्त' तथा 'रीति-काव्य' पर पृथक्-पृथक् अपेक्षाकृत अधिक सामग्री प्रकाश मे आयी है, परन्तु 'औचित्य-सिद्धान्त' पर कोई स्वतन्त्र शोध-ग्रथ प्रकाशित नही हुआ है। (सम्प्रति ज्ञात हुआ है कि डॉ० चन्द्रहस पाठक का 'औचित्य-सम्प्रदाय का हिन्दी-काव्यशास्त्र पर प्रभाव : प्रत्यक्ष और परोक्ष' विषय पर आगरा विश्वविद्यालय मे स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १९६७ मे प्रकाशित हो चुका है।) डॉ० वी० पी० महाजन ने अंग्रेजी मे 'Kshemendra : An Author Study' विषय लेकर पूना विश्वविद्यालय में अपना शोध-कार्य सम्पन्न किया था। इसके अतिरिक्त प्राप्त सामग्री का इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—(क) पुस्तकाकार प्रकाशित सामग्री, (ख) समीक्षा-ग्रन्थो में उपलब्ध आनुषंगिक सामग्री तथा (ग) पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखादि।

पुस्तकाकार सामग्री मे पूर्वोल्लिखित डॉ० पाठक के शोध-प्रबन्ध के अतिरिक्त अन्य उल्लेख्य ग्रंथ है—डॉ० मनोहरलाल गौड़ रचित 'आचार्य क्षेमेन्द्र', 'औचित्य-विचार-चर्चा' (हिन्दी अनुवाद); डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी रचित 'औचित्य-विमर्श', डॉ० रामपाल विद्यालंकार प्रणीत 'क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि' और डॉ० सूर्यकान्त रचित अंग्रेजी ग्रथ 'Kshemendra Studies'।

डॉ० पाठक का शोध-प्रबन्ध मुख्यत: रीतिकालीन काव्यशास्त्र पर पडे औचित्य के प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रभाव से सम्बद्ध है। डॉ० गौड के दोनों ग्रंथ क्रमशः क्षेमेन्द्र की जीवनी, औचित्य का इतिहास एवं क्षेमेन्द्र की प्रमुख तीन कृतियों का अनुवाद होने के कारण सामान्यत: क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोण को ही प्रस्तुत करते है। 'औचित्य-विमर्श' मे डॉ० त्रिपाठी ने औचित्य के स्वरूप, औचित्य के इतिहास पर प्रकाश डाला है और अंत मे मूल 'औचित्य-विचार-चर्चा' को सानुवाद प्रस्तुत किया है। यद्यपि उक्त ग्रंथ मे औचित्य-विषयक समस्त जिज्ञासाओं का समाधानमूलक विशद् विवेचन कम ही उपलब्ध है तथा औचित्य का समग्र रूप उभर नहीं पाया है तथापि ग्रंथकार का पांडित्य व ग्रथ

की उपादेयता सन्देहातीत है। डॉ० विद्यालंकार ने क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि को आशय की गम्भीरता व शैली की मनोरंजकता के साथ स्पष्ट किया है, किन्तु अन्ततः वह है, तो औचित्य की विषयीनिष्ठ व्याख्या ही; क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त अन्य विद्वानों के विचारो का पूर्णत. प्रतिनिधित्व न होने के कारण उसमे औचित्य का स्वरूप निर्धारण एकांगी ही रह गया है। डॉ० सूर्यकान्त ने 'Kshemendra Studies' मे क्षेमेन्द्र के जीवन की चर्चा करते हुए उनकी प्रमुख तीन कृतियो का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत कर दिया है। औचित्य की अपेक्षा इसमे क्षेमेन्द्र ही प्रमुखता पा गये है, परिणामतः सिद्धान्त-निरूपण में सभी पहलुओ पर परिपूर्ण विचार नहीं हो पाया है।

समीक्षा ग्रन्थों में उपलब्ध आनुषंगिक सामग्री

इस प्रकार की सामग्री हमें निम्नलिखित ग्रंथों में प्राप्त होती है—पं० बलदेव उपाध्याय रचित 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' भाग १ और २; डॉ० रामलाल सिंह रचित 'समीक्षा-दर्शन' भाग २; पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रणीत 'वाङ्मय-विमर्श'; डॉ० तारकनाथ बाली कृत 'रस-सिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या, म० म० कुप्पु स्वामी शास्त्री रचित' High ways and by ways of literary criticism in Sanskrit' तथा डॉ० वी० राघवन् रचित 'Some concepts of the Alankar Shastra'.

उक्त सभी सामग्री का—जो मूलत: आनुषंगिक है—मूल्याकन करने से ज्ञात होता है कि क्रमश पं० बलदेव उपाध्याय का औचित्य-इतिहास; डॉ० रामलालसिंह का औचित्य-सम्प्रदाय-परिचय; पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का औचित्य विषयक सामाजिक सन्दर्भ; डॉ० तारकनाथ बाली का औचित्य का नैतिक आख्यान, म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री की औचित्य की सर्वोपरिता; डॉ० राघवन का अंग्रेजी में प्रस्तुत औचित्य का इतिहास आदि औचित्य को देखने के विशिष्ट दृष्टिकोण मात्र है।

पत्र-पत्रिकाओ में जो सामग्री प्राप्त होती है, उसमें भी प्रधान रूप से औचित्य के इतिहास पर ही विचार किया गया प्रतीत होता है; औचित्य के विषय में विभिन्न जिज्ञासाओ एवं स्वरूप-विषयक प्रश्नो पर अधिक विचार नही किया गया है।

औचित्य सम्बन्धी सामग्री के अतिरिक्त रीतिकाल पर भी प्रभूत सामग्री प्राप्त होती है। डॉ० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' मे—जो उनके डी० लिट् के शोध-प्रबन्ध के पूर्वार्द्ध का मुद्रित रूप है—रीतियुगीन सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियों के परिवेश में रीतिकालीन काव्य व जीवन का विस्तृत परिचय दिया है। डॉ० नगेन्द्र सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' भाग ६ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) मे भी रीतिकालीन जन-जीवन, साहित्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला आदि की प्रभूत व प्रमाणभूत जानकारी प्राप्त होती है। डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ने 'रीतिकालीन कविता और शृंगार-रस का विवेचन' नामक अपने शोध-प्रबन्ध मे युग और जीवन को स्पष्ट करते हुए रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं मे शृंगार

रस के निर्वाह पर चर्चा की है डा० ओमप्रकाश ने रीतिकालीन अलकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन' मे नवीन सामग्री के प्रकाश मे अलकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन किया है। डॉ० कृष्णदत्त त्रिपाठी ने 'रीतिकाल एव आधुनिक काल के सधि सूत्र' (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध) मे रीतितत्त्व और रीतिकाल को स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है। डॉ० अरविन्द पाण्डेय ने 'रीतिकालीन काव्य मे लक्षणा का प्रयोग एक आलोचनात्मक अध्ययन' मे प्रथम लक्षणा के स्वरूप एव भेदो का विवेचन किया है, तदुपरान्त रीतिकाल के प्रमुख प्रतिनिधि कवियो की रचनाओ मे उन भेदो का व्यावहारिक समायोग किया है।

उपर्युक्त सभी प्रकार की उपादेय सामग्री के होते हुए भी हमारे विवेच्य विषय पर शोध की सम्भावनाएँ यथावत् हैं और हमारा विषय अब तक नितान्त अस्पृष्ट रहा है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध द्वारा लेखक का प्रस्तावित योगदान

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के योगदान के विषय मे अत्यन्त विनम्र भाव से यह निवेदन किया जा सकता है कि—

(१) प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे लेखक ने औचित्य की अवधारणा को यथासम्भव निष्ठापूर्वक स्पष्ट करते हुए औचित्य की स्वरूप सम्बन्धी जिज्ञासाओ का यथामति समाधान प्रस्तुत करने का प्रामाणिक प्रयत्न किया है। और

(२) तत्त्वत· विचार करते हुए उसमें लेखक ने रीतिकालीन प्रमुख कवियों की कविता मे औचित्य का व्यावहारिक समायोग किया है। इस प्रकार इस शोध-प्रबन्ध के द्वारा हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र मे और अन्यत्र भी किसी काल-विशेष के काव्य की औचित्य-परक व्याख्या करने का द्वार उद्घाटित किया गया है।

शोध-प्रक्रिया व प्रविधि

अनावश्यक विस्तार व पिष्टपेषण से बचने का प्रयत्न करते हुए इस शोध-प्रबन्ध मे औचित्य का स्वरूप निर्धारण करने एवं पूर्व-पश्चिम के अनेक मनीषियो के विचारो का परिचय करने-कराने के लिए ऐतिहासिक क्रम के स्थान पर तत्त्व-क्रम को ग्रहण किया गया है। तत्त्व-क्रम का यही आधार तृतीय अध्याय मे औचित्य का रीति-काव्य मे समायोग करते समय अपनाया गया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह तत्त्व क्रम क्षेमेन्द्र द्वारा स्वीकृत तत्त्व क्रम ही है इस तत्त्व क्रम मे लोक कला एव सामाजिकता के आधारो को भी सन्निविष्ट कर लिया गया है। क्षेमेन्द्र द्वारा 'सुवृत्त तिलक' मे चर्चित छन्दौचित्य को भी समायोग के लिए ग्रहण किया गया है।

अध्याय संक्षिप्ति

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध तीन अध्यायों मे विभक्त है—(१) औचित्य · सैद्धान्तिक विवेचन (२) रीतितत्त्व और रीतियुग और (३) रीतिकाव्य मे औचित्य व्यावहारिक समायोग।

प्रथम अध्याय मे 'औचित्य' की व्युत्पत्ति, परिभाषा, औचित्य के भारतीय एव पश्चिमी पर्याय आदि पर विचार करके व्याकरण, साहित्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र आदि से औचित्य का सम्बन्ध स्थिर किया गया है। साथ ही औचित्य तथा अन्य काव्य-सम्प्रदायो का पारस्परिक सम्बन्ध भी स्पष्ट किया गया है। 'औचित्य' के स्वरूप सम्बन्धी कतिपय जिज्ञासाओ पर भी यहाँ विचार किया गया है। अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये है।

द्वितीय अध्याय मे रीतितत्त्व और रीतियुग पर विस्तृत विमर्श किया गया है। रीतितत्त्व पर विमर्श करते समय 'रीति' की व्युत्पत्ति, परिभाषा, 'रीति' के सामान्य विशिष्ट अर्थ, 'रीति' के अन्य भारतीय पर्याय तथा पश्चिमी 'शैली' तत्त्व के सन्दर्भ मे 'रीति' के स्वरूप पर विचार किया गया है। रीति के इतिवृत्त पर प्रकाश डालते हुए रीति का रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति, औचित्य आदि से सम्बन्ध भी स्पष्ट किया गया है। 'रीतियुग' शीर्षक के अन्तर्गत रीतियुगीन जीवन की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक परिस्थितियो व कला एवं साहित्य, सगीत, चित्रकला इत्यादि की अवस्था पर सामूहिक रूप से विचार कर रीतिकालीन जीवन के चित्र को पूर्णत उभारने की यथाशक्ति चेष्टा की गई है।

तृतीय अध्याय में औचित्य व अनौचित्य के अनेक भेदो का—जो सुविधा के कारण क्षेमेन्द्रीय ही है—रीतिकालीन प्रमुख कवियो की रचनाओ मे समायोग कर उपसहार मे औचित्य के परिवेश मे समस्त रीतिकाव्य की उपलब्धियों व अभावो पर विचार किया गया है।

परिशिष्ट मे आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी का पत्र है तथा अकारादिक्रम मे ग्रथानुक्रमणिका प्रस्तुत की गई है।

आभार-दर्शन

अपने शोध-कार्य मे मुझे अनेक विद्वानो व सस्थाओ से विविध प्रकार की प्रेरणा व सहायता मिलती रही है, जिनसे उऋण होना मेरे लिए सम्भव नही है :

विषय-विमर्श के प्रथम बिन्दु पर स्व० प्रो० मोहनवल्लभजी पंत, स्व० आचार्य नन्ददुलारेजी वाजपेयी एवं स्व० डॉ० पी० के० गोडेजी से जो सत्परामर्श प्राप्त हुआ, तदर्थ मैं इन तीनो दिवगत आत्माओं के प्रति श्रद्धावनत हूँ।

अनेक स्थलो पर मेरी उलझनो को सुलझाने मे पत्रोत्तर देकर अथवा प्रत्यक्ष समय देकर प० विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी एव डॉ० नगेन्द्र जी ने मेरी अत्यन्त सहायता की है। अत मैं आचार्य मिश्रजी तथा आचार्य डॉ० नगेन्द्रजी का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

श्रद्धेय डॉ० रामेश्वरलालजी खण्डेलवाल 'तरुण' (भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर एव सम्प्रति प्रोफेसर एव अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र), जिनके कृपापूर्ण मार्ग-दर्शन मे प्रस्तुत शोध-कार्य आद्यन्त सम्पन्न हुआ है और जिनके स्नेहपूर्ण प्रश्रय के बिना यह

कार्य सम्भवत. अधूरा ही रह गया होता, के प्रति आभार प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नही हैं—केवल श्रद्धावनत हूँ ।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय के व्यवस्थापक, भाण्डारकर ओरियण्टल इस्टिट्यूट के अधिकारी-गण, भाई काका पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष आदि के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ । उन्होंने मुझे समय-समय पर आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की हैं ।

विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग ने शोध-कार्य के दिनो मे पुस्तको के क्रय के लिए मुझे ५००) रु० का अनुदान दिया था, जिसका यहाँ सधन्यवाद उल्लेख करना प्रसंगोचित है । इसी प्रकार इस प्रबन्ध को प्रकाशित करने की अनुमति देने के लिए मै सरदार पटेल विश्वविद्यालय के अधिकारियो के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ ।

प्रवन्ध को प्रकाशित करने में जो तत्परता व स्नेह सूर्य-प्रकाशन के श्री तनसुख-रामजी गुप्त ने दिखाया है, उसके लिए मैं उनका हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ ।

डॉ० विजयेन्द्रजी स्नातक, डॉ० विजयपालसिंह जी तथा डॉ० राममूर्तिजी त्रिपाठी ने शोध-प्रवन्ध पर अपना अभिमत भेजकर मुझे विशेष रूप से अनुगृहीत किया है, मै उनका चिर-कृतज्ञ हूँ ।

विभिन्न प्रकार के सहयोग निमित्त सर्वश्री प्रो० विष्णुप्रसाद जानी, डॉ० मधुसूदन मेहता, श्रीमती अरविन्दा मेहता, प्रो० भूरतिराम झाकरिया, प्रो० रमणभाई पटेल के प्रति मैं अपना आभार व धन्यवाद व्यक्त करता हूँ ।

विगत कुछ वर्षो के विघ्नसंकुल व रुग्णावस्था से ग्रस्त जीवन मे मेरी प्रत्येक छोटी-बडी आर्थिक-सामाजिक समस्या से मुझे निरन्तर चिन्तामुक्त रखने का सेवाभाव-पूर्ण व तपनिरत सहयोग देने का जो उद्योग किया है, तन्निमित्त मै अपने अनुज प्रो० जगदीशचन्द्र त्रिवेदी को हार्दिक साधुवाद देता हूँ ।

डॉ० श्रीराम नागर के प्रति आभार व्यक्त करूँ भी तो कैसे ? वे मेरे अभिन्न है और मैं आत्म-स्तुति से बचना चाहता हूँ ।

इस शोध-प्रवन्ध के लिखने के प्रारम्भ से प्रकाशन तक के विभिन्न सोपानो पर जिन ज्ञात-अज्ञात व्यक्तियों व संस्थाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग मिला है, उन सभी का आभारी हूँ ।

विद्वानो के सुझावों व सत्परामर्शों का स्वागत है । यदि इस ग्रंथ से हिन्दी-साहित्य के ज्ञान-क्षेत्र में किंचिन्मात्र भी वृद्धि हुई या किसी भी व्यक्ति को लाभ हुआ, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा । 'क्लेश. फलेन हि पुन. नवतां विधत्ते ।'

श्रावणी,
वि० सं० २०३३
२८-८-१९७७

—सुरेशचन्द्र त्रिवेदी

अभिमत

(१)

भारतीय साहित्य शास्त्रियो ने काव्य और काव्यास्वाद का विवेचन करने के साथ काव्य की आत्मा का विचार पूरे आग्रह के साथ किया है। इस आग्रह का ही परिणाम है कि प्रत्येक सम्प्रदाय काव्य की आत्मा अपने स्वीकृत सिद्धान्त मे ही स्थिर करता है। रस, ध्वनि, रीति, अलकार और वक्रोक्ति के बाद आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य को जीवित औचित्य में स्थिर किया तथा पूर्ववर्ती आचार्यो के मन्तव्यों का समाहार औचित्य मे कर लिया। यह एक मनीषी पंडित की प्रतिभा की ही देन समझी जायेगी। रचनाकार के कर्त्तव्य कर्म का नियामक औचित्य को होना चाहिए; यदि उचित-अनुचित के विवेक से रहित साहित्य लिखा जाता है तो उसे सत्साहित्य नही माना जा सकता। सभवत: क्षेमेन्द्र ने इसी व्यापक दृष्टि से यह सिद्धान्त स्थापित किया था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास मे रीतिकालीन काव्य का मूलाधार शृगार, प्रेम, प्रणय, रति, नायक-नायिका भेद ही है। इस काल के साहित्य को सामत युगीन मानसिकता मे संश्लिष्ट माना जाता है, जिसमे न तो स्वस्थ सामाजिक मूल्यो की स्वीकृति है और न जीवन्त चरित्रो तथा वास्तविक अनुभूतियों का चित्रण ही। अत औचित्य की मर्यादा के निकष पर उसे कसने की उदारता नही दिखाई गई। कुछ समीक्षको ने उसे अनैतिक और मासल शृंगारी भी ठहरा दिया, किन्तु समस्त रीतिकालीन काव्य को इस प्रकार निरस्त कर देना इस समृद्ध काव्य के साथ न्याय नही है। इसी दृष्टि से डॉ० सुरेशचन्द्र त्रिवेदी ने रीतिकाव्य के बहिरग एवं अन्तरग का परीक्षण करने का निश्चय किया और औचित्य सिद्धान्त की कसौटी पर इस काव्य की शोध की वैज्ञानिक पद्धति से परीक्षा की। डॉ० त्रिवेदी के शोध-प्रबन्ध मे रीतिकाव्य के साथ मात्र सहानुभूति नही है वरन् उनकी दृष्टि तटस्थ और निस्सग रहते हुए काव्य मे औचित्य के बिन्दुओ को स्पष्ट करने की ओर रही है। बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर, घनानन्द आदि कवियो ने शृंगार और प्रेम-वर्णन मे भी किसी मर्यादा को सामने रखा है—वह क्या है और किस सीमा तक औचित्य की मर्यादा का निर्वाह करती है, यही देखना डॉ० त्रिवेदी का लक्ष्य रहा है। मैं डॉ० त्रिवेदी को इस प्रयास के लिए साधुवाद देता हूँ।

—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
आचार्य, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्य

(२)

प्रस्तुत कृति डॉ० सुरेशचन्द्र त्रिवेदी के पी-एच० डी० के निमित्त लिखे गये शोध-प्रबन्ध का परिष्कृत रूप है। यों शोध-प्रबन्ध अपने मूलरूप में ही पर्याप्त सुविचारित स्वस्थ और स ं त रहा है। कृति में विवेचन के तीन मुख्य बिन्दु हैं—औचित्य का तात्त्विक निरूपण, रीति और शैली की समशीलता और उसके अंग-प्रत्यंग तथा रीतियुगीन रचनाओं की औचित्यान्वयी और औचित्य व्यतिरेकी विवेचना।

प्रथम खण्ड में 'औचित्य' शब्द की व्युत्पत्ति, चिन्तन की विभिन्न धाराओं के सन्दर्भ में औचित्य, 'औचित्य' का अलंकार शास्त्रान्तर्गत स्वरूप-गत विकास और अन्ततः उसकी सिद्धान्त रूप में मान्यता निरूपित हुई है। विद्वान लेखक ने 'औचित्य' समानार्थी पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय तत्त्व का भी ऐतिहासिक क्रम में अत्यन्त विशद् और बोधगम्य उपस्थापन द्वारा जो तुलना प्रस्तुत की है—उससे 'औचित्य' के स्वरूप के क्षितिज को व्यापक विस्तार मिला है। इस विवेच्य बिन्दु के अन्तर्गत न केवल पूर्ववर्ती विवेचनाओं का ही समाहार किया गया है, अपितु अपनी ओर से भी उसको व्यवस्थित किया गया है। साथ ही यथासंभव कोई कोण नहीं बचा है, जिसमें 'औचित्य' को न देखा गया हो। लेखक वस्तुमुखी विश्लेषणजन्य अपनी स्थापनाओं, मान्यताओं, निष्पत्तियों और निष्कर्षों के प्रति पर्याप्त आश्वस्त और सचेत है।

दूसरा बिंदु है—रीतितत्त्व और उसका समवेत विवेचन। इसमें पश्चिमी विषयिनिष्ठ शैली और उसके उपकरणों के साथ पौरस्त्य वस्तुमुखी 'रीति' के घटकों का स्वरूपत और तुलनात्मक निरूपण है। पता नहीं, लेखक ने 'रीतिकाल' के घटक 'रीति' का 'काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों' के सन्दर्भ में विचार क्यों नहीं किया। 'रीति साहित्य' नियमानुधावी रचनाओं का काल है। लगता है लेखक ने 'रीति' के संस्कृत तथा लक्षण ग्रंथीय परम्परा के ही सन्दर्भ में विशेष रूप से देखा है।

ग्रंथ का तृतीय विवेच्य भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कारण, इस अध्याय में रीतिकालीन रचनाओं के साक्ष्य पर औचित्य के अन्वयी और व्यतिरेकी रूपों का क्षोदक्षम प्रयोग और परीक्षण है। कहीं क्वचित् मतभेद संभव है पर कुल मिलाकर विवेचन साफ और सुथरा है। निश्चय ही इस प्रयास से 'औचित्य' तत्त्व के जिज्ञासुओं का ज्ञान क्षितिज विस्तृत होगा और विद्वानों के बीच कृतिकार को प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। आलोचना के क्षेत्र में 'परम्परा' को आत्मसात् कर उसे और युगोचित विकास देने की दिशा में इस 'प्रयोग' का मैं स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ—कि विद्वान् लेखक इस दिशा को और भी आलोकित करता रहेगा।

—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
डीन, कला-संकाय
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन (म० प्र०)

विषय-सूची

द्वितीय अध्याय

रीति-तत्त्व और रीति-युग

पृ० सं०

तृतीय अध्याय

रीति-काव्य में औचित्य : व्यावहारिक समायोग

परिशिष्ट

१ | औचित्य : सैद्धान्तिक विवेचन

प्रकरण प्रवेश

'औचित्य सिद्धान्त और हिन्दी का रीति-काव्य' नामक प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के इस प्रथम अध्याय मे विषय-प्रवेश करते ही सर्वप्रथम औचित्य की स्वरूप-विषयक सहज ही उपस्थित कतिपय जिज्ञासाओं का समाधान आवश्यक प्रतीत होता है। औचित्य-सिद्धान्त के यथार्थ स्वरूप-बोध के लिए औचित्य की व्युत्पत्ति, औचित्य की परिभाषा, औचित्य और उसके अन्य पर्याय, औचित्य का महत्त्व, औचित्य तथा अन्य शास्त्र, औचित्य की काव्य-शास्त्रीय स्थिति, औचित्य तथा अन्य काव्य-सम्प्रदाय, आचार्यो का औचित्य-विषयक दृष्टिकोण, पूर्व-पश्चिम की औचित्य-चिंता का परिचय, औचित्य के भेद व उनका वर्गीकरण आदि पर विचार करना अनिवार्य है।

व्युत्पत्ति

'उचित' विशेषण मे भाववाचक 'ष्यञ्'[1] प्रत्यय लगाकर 'औचित्य' शब्द साधित किया जाता है। 'उचित' शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण के अनुसार दो धातुओ से सिद्ध की जाती है: 'वच्' (परिभाषणे), 'उच्' (समवाये) से।[2] किन्तु 'उचित' का आज जो अर्थ ग्रहण किया जाता है, (योग्य, अनुरूप) वह न तो 'वच्' 'परिभाषणे' (बोलना) से प्राप्त होता है न 'उच्' 'समवाये' (एकत्र करना) से। संस्कृत के शब्द-कोषो मे से कुछ ने प्रस्तुत अर्थ मे 'उचित' की व्युत्पत्ति 'वच्' धातु से मानी है,[3] तो कुछ ने 'उच्'

---

१. वर्ण दृढादिभ्य: ष्यञ् च सि० कौ०, ५।१।१२३
गुण वचन ब्राह्मणादिभ्य: कर्मणि च, सि० कौ०, ५।१।१२४

२ भट्टोजि दीक्षित: सि० कौ०, पृ० ३३५, ४०६

३ जयशंकर जोशी . हलायुध कोश, पृ० ८६, १६५; राधाकान्त देव शब्द कल्पद्रुम, पृ० २२०; सवाईलाल बोरा शब्द चिन्तामणि, पृ० १७५

धातु से,[1] एक स्थान पर उसे 'उच्' और 'वच्' दोनों धातुओं से व्युत्पन्न माना गया है।[2]

डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने 'उचित' की व्युत्पत्ति तो 'उच' धातु से ही मानी है, परंतु उन्होंने 'उच्' का अर्थ दिया है—'प्रसन्न होना'।[3]

प० महादेव शास्त्री ने 'उचित' शब्द को 'उच्' (समवाये) से व्युत्पन्न माना है। वे 'समवाय' का अर्थ 'गुणों का समुदाय' करते है और 'उचित' का अर्थ 'योग्य गुणो का समुदाय' करते है।[4]

श्री आप्टे महोदय ने इसे 'उच्' से व्युत्पन्न मान कर इसके चार अर्थ बताये है—(1) To collect, (2) To take pleasure in, (3) To be accustomed or used to; (4) To be suitable, suit, fit.[5]

इसी प्रकार सर मोनियर विलियम्स ने भी इसे 'उच्' से व्युत्पन्न माना है और अर्थ भी प्राय. वे ही दिये है, जो आप्टे महोदय द्वारा दिए गये है।[6]

'हलायुध कोश'[7] मे 'उचित' की व्युत्पत्ति 'वच्' से मानी गई है—उचितम् (त्रि०) (वच्+क्तिच्—रुचि वचि कुचि कुटिभ्य क्तिच्।) और उनके अर्थ बताये गए हैं—"विदितं, न्याय्य, प्राप्तं, औपयिक, युक्त, ग्राह्य, परिमितम्।" सपादक महोदय ने औपयिक के सामने अग्रेजी मे '*Proper*' '*Fit*' लिख कर अधिक स्पष्टता कर दी है। 'शब्द कल्पद्रुम'[8] और 'शब्द चिंतामणि'[9] भी व्युत्पत्ति एव अर्थ के विषय में 'हलायुध कोश' का ही अनुसरण करते प्रतीत होते है।

'वाचस्पत्यम्'[10] कोश में इस शब्द को 'वच्' और 'उच्' दोनो धातुओं से व्युत्पन्न मानकर इसके अर्थ इस प्रकार दिये गये है—"न्यस्ते परिचिते युक्ते"।

इन विद्वानो एव कोशकारों ने 'उच्' धातु का यह अर्थ कहाँ से ग्रहण किया, यह कहना कठिन है। उच् (समवाये) की अपेक्षा 'वच्' (परिभाषणे) से 'उचित' का 'योग्य', 'उपयुक्त', 'अनुकूल'—अर्थ निकालना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

---

१ द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी : संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ० २१९-२०
V. S. Apte · Sanskrit-English Dictionary, p. 397
Monier Williams : Sanskrit-English Dictionary, p. 172
२ तारानाथ तर्क वाचीश : वाचस्पत्यम्, पृ० १०५८, १५६६
३ काव्यशास्त्र का मूल और औचित्य (लेख), आलोचना, अप्रैल, १९५७
४ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य विमर्श, पृ० १६०-६१
5 V. S Apte : Sanskrit-English Dictionary, p 397
6 Monier Williams Sanskrit-English Dictionary, p 172
७. जयशंकर जोशी : हलायुध कोश, पृ० ८६, १६५
८. राधाकान्त देव · शब्द कल्पद्रुम, पृ० २२०
९. सवाईलाल बोरा शब्द चिन्तामणि, पृ० ९७५
१०. तारकनाथ तर्क वाचीश : वाचस्पत्यम्, पृ० १०५८, १५६६

सम्भवत प्रारम्भ मे यह शब्द 'भाषण मे उचितानुचित-विवेक' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ होगा, जो कालान्तर मे अर्थ-विस्तार की प्रवृत्ति के अनुसार 'योग्यायोग्य-विवेक' के अर्थ मे सर्वत्र प्रयुक्त होने लगा। 'हलायुध' और 'शब्द कल्पद्रुम' से इसका समर्थन भी हो जाता है।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि 'रूपविचार' की दृष्टि से 'उचित' शब्द 'उच्' धातु के अधिक निकट प्रतीत होता है और 'अर्थ विचार' की दृष्टि से 'उचित' शब्द को 'वच' धातु से व्युत्पन्न मानना ही समीचीन होगा।

'औचित्य' 'उचित' विशेषण मे बनी हुई भाववाचक संज्ञा है। यह शब्द सस्कृत मे त्रिलिंगी है। स्त्रीलिंग मे उसका रूप 'औचिती' होता है, यथा—

"औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नया।"[1] नपुसक लिंग मे उसका रूप 'औचित्यम्' होता है यथा—"औचित्य रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"।[2]

परिभाषा

'उचित' के भाव को औचित्य कहते है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"उचितस्य च यो भाव तदौचित्यं प्रचक्षते।"[3] और 'उचित' की स्पष्टता करते हुए वे कहते है कि "उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।"[4] अर्थात् जो जिसके सदृश या अनुकूल होता है, वह उसके लिए उचित है।

इस प्रकार 'औचित्य' एक सम्बन्ध विशेष है और काव्यशास्त्र मे उसका सापेक्ष महत्त्व है। वह एक सापेक्ष पदावली है और तीन उपकरणो की पूर्व-कल्पना करती है—(१) वह पदार्थ जिसे अन्य पदार्थ अनुकूल होते है: काव्य के प्रसग मे हम उसे अगी अर्थात् रस कह सकते है, (२) वह पदार्थ जो अनुकूल होता है काव्य के सदर्भ मे समस्त रसेतर पदार्थ—जिन्हे अंग-रूप माना जाता है—इसके अंतर्गत आ सकते है; तथा (३) अगी (रस) और अग (रसेतर पदार्थ) के बीच अनुकूलता का सम्बन्ध।

अन्य पर्याय

भारतीय काव्य-शास्त्र मे औचित्य के अन्य पर्यायों के रूप मे भरत द्वारा प्रयुक्त 'अनुरूपता'[5]; भामह द्वारा प्रयुक्त 'न्याय्य'[6] और 'युक्तता'[7]; दण्डी का 'सिधि दर्शित

---

१ बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र भाग २ पृ० २५
२. क्षेमेन्द्र . औचित्य विचार चर्चा, पृ० ११५
३ वही, पृ० ११६
४ वही, पृ० ११६
५ वयोऽनुरूप. प्रथमस्तु वेष', वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगत च पाठ्य, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥ —भ० ना० शा० १४।६८
६ कलकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्। —काव्यालकार १।३५
७ युक्त लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। —काव्यालकार १।२१

भाग [1], पण्डितराज जगन्नाथ का 'योग्यता'[2] आदि प्रमुख है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में ... ...अरस्तू[3] एवं होरेस[4] द्वारा प्रयुक्त 'Propriety': सिसेरो[5] द्वारा प्रयुक्त 'Decorum' 'औचित्य' के मुख्य पर्याय हैं। इनके अतिरिक्त Appropriateness; Adoption; Harmony; Symmetry; Fitness, In Keeping आदि शब्द भी पर्याय रूप में प्रयुक्त होते हैं। डॉ० राघवन्[6] ने Mutual Conformity of parts के अर्थ में 'Sympathy' शब्द को भी औचित्य के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है।

महत्त्व

डॉ० सूर्यकान्त[7] ने 'काव्य-शास्त्र का मूल और औचित्य' नामक अपने लेख में 'औचित्य' को जीवन और जगत् का आधारतत्त्व बताया है और साहित्य में उसकी महत्ता समझाते हुए उसकी अतिप्राचीनता पर प्रकाश डाला है। साहित्य एवं जीवन में सुसंवादिता स्थापित करने वाले इस 'औचित्य' का मूल उन्होंने अथर्ववेद में प्रयुक्त 'स' 'सह' 'एव 'सम्' शब्दों में देखा है।[8] उनका कहना है कि काव्याचार्यों ने 'उचित' शब्द के व्यापक अर्थ पर ध्यान न देकर उसके सीमित अर्थ 'समंजसता' पर अधिक ध्यान दिया और वह अपने व्यापक अर्थ 'भद्रता' से च्युत होकर आलोचकों की टीका-टिप्पणियों का भाजन बन गया।[9] क्षेमेन्द्र का 'औचित्य-तत्त्व' अपने भीतर व्यापक और सीमित इन दोनों अर्थों को समाहित करके काव्य-सिद्धान्त के रूप में खिल उठा है और 'सौन्दर्य' का वह सर्वांगपूर्ण लक्ष्य बन गया है।[10]

वस्तुतः 'औचित्य' शब्द और 'औचित्य-तत्त्व' इतना विशाल है कि उसकी परिधि—भावात्मक और अभावात्मक—में सभी कुछ समाविष्ट हो जाता है। 'उचित' और 'अनुचित' के भीतर क्या कुछ समाविष्ट नहीं होता ? जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में

---

१. व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तनीभिः।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभिः धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम् ॥ परि० काव्यादर्श ३।१८७

२ योग्यता च मुक्तमिदमिति लौकिक व्यवहार गोचरता। रस गंगाधर प्रथमा औचिती योग्यता।
—रस गंगाधर, द्वि० भा०

3 Aristotle : Poetics, Humphry House, p. 83

4 Cleanth Brooks · Literary Criticism a short History, p. 80

5 Ditto, p. 80

6. Dr. V Raghavan : Some Concepts of the Alamkar Shastra p. 208

७ डा० सूर्यकान्त : काव्यशास्त्र का मूल और औचित्य (लेख), आलोचना, अप्रैल, १९५७

८ वही

९ वही

१०. वही

उसकी सत्ता अबाधित है। अनेक दृष्टियों से 'औचित्य' का अपना महत्त्व है। एक प्रमुख व व्यापक-महत्त्वपूर्ण काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में तो इसकी प्रतिष्ठा सर्वविदित है ही; अन्य अनेक शास्त्रों में भी वह एक आवश्यक कसौटी और उपयोगी तत्त्व के रूप में पर्याप्त प्रतिष्ठित है। बहुधा वह सीमा-निर्धारण करने व सामंजस्य स्थापित करने वाले सिद्धान्त के रूप में समादृत है।

औचित्य की शास्त्रीय स्थिति

• 'औचित्य' की व्युत्पत्ति, परिभाषा तथा अन्य पर्यायों पर दृष्टिपात कर लेने के पश्चात् 'औचित्य' की शास्त्रीय स्थिति को स्पष्ट करने के हेतु काव्य-शास्त्र की परम्परा में गृहीत 'वाद', 'सिद्धान्त', 'सम्प्रदाय तथा 'विचारधारा'—पदावली पर विचार करना अपेक्षित ही होगा।

वाद

'वाद' न्याय-शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। 'तर्कसंग्रह'[1] में 'वाद' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'तत्त्व बुभुत्सो: कथा वाद:।' अर्थात, तत्वार्थ बोध की इच्छा से किया गया दो व्यक्तियों का परस्पर संवाद 'वाद' कहलाता है। इस परिभाषा में निम्न लक्षण फलित होते है—

(१) 'वाद' तत्वार्थ बोध की इच्छा से होता है न कि विजय-पराजय के विचार से, न ही अपने ज्ञान के प्रदर्शन की भावना से।

(२) 'वाद' दो व्यक्तियों के बीच होता है। 'वेदान्त शब्दकोष'[2] में विजय-पराजय की भावना से मुक्त होकर गुरु-शिष्य के बीच तत्त्वार्थ बोध के लिए हुए प्रश्नोत्तरमूलक संवाद को 'वाद' कहा गया है।

हिन्दी में 'वाद' शब्द अंग्रेजी के 'इज्म' शब्द के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त होता है—अभिव्यजनावाद, अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद। वहाँ पर 'वाद' शब्द का अर्थ है—क्षेत्र विशेष में खण्डन-मण्डन का आश्रय लेते हुए स्व-पक्ष का समर्थन तथा अन्यान्य विचारधाराओं का विरोध करते हुए अपने मन्तव्य का ही प्रतिपादन।

'औचित्य' न तो भारतीय न्यायशास्त्र की शब्दावली के अर्थ में वाद है, न ही अंग्रेजी पदावली 'इज्म' के अर्थ में ही। तत्त्वार्थ बोध होते हुए भी वह प्रश्नोत्तरमूलक गुरु-शिष्य-संवाद नहीं है और काव्यगत चारुता का परम रहस्य होते हुए उसने स्व-पक्ष के समर्थन के लिए अन्यान्य सम्प्रदायों के खण्डन-मण्डन का उपक्रम नहीं किया है।

अत. औचित्य न 'वाद' है और न 'इज्म' ही।

सिद्धान्त

'सिद्धान्त' भी भारतीय दर्शन-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। 'तर्क-संग्रह' में

---

१. अन्नम् भट्ट . तर्क-संग्रह, पृ० ६४

२. स्वामी आत्मानन्द गिरि : वेदान्त शब्द कोश, पृ० ८४

सिद्धान्त का लक्षण इस प्रकार दिया गया है — 'प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थ सिद्धान्त ।'[1] अर्थात्, प्रामाणिकता द्वारा उपलब्ध अर्थ सिद्धान्त है। 'प्रामाणिकता' और 'अर्थ' शब्दो की विशेष विवक्षा अपेक्षित है। प्रामाणिकता का सम्बन्ध साधन-सामग्री की शुद्धि और प्रयत्न की सन्निष्ठा मे है। 'अर्थ' किसी सुनिश्चित फल, परिणाम या अन्त को कहते है। अत 'सिद्धान्त' का अर्थ हुआ—प्रामाणिक साधनो व प्रयत्नो द्वारा प्राप्त किया गया परिणाम व फल।

किसी भी सिद्धान्त मे उन्ही तथ्यो को स्वीकृति प्राप्त हुई होती है जिनके परिणाम प्रयोग व परीक्षानन्तर स्थिरीभूत हो चुके हो। अव्यभिचरणशीलता, अपरिवर्तनशीलता, अपवादरहितता आदि उसके लक्षण है। काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त और भौतिकी के सिद्धान्त सर्वांगत: एक से नही होते। भौतिकी के सिद्धान्तो की भाँति ये सर्वथा निरपवाद एव अटल नही होते (यद्यपि आजकल तो विज्ञान के नियमों की अटलता पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा हुआ है)।

'औचित्य' उस अर्थ मे सिद्धान्त नही है जिस अर्थ मे न्यूटन के गति एव गुरुत्वाकर्षण विषयक नियम है, और न उस अर्थ मे ही है जिस अर्थ मे रस एवं ध्वनि-सिद्धान्त हैं। इस सम्बन्ध मे पं० शंकरदत्त ओझा का मत द्रष्टव्य है—

'औचित्य' सिद्धान्त कुछ ऐसा सिद्धान्त नहीं था जो अलंकार रीति इत्यादि की भाँति केवल बाह्य शोभाधायक तत्त्व बनकर रह गया हो अपितु क्षेमेन्द्र की दृष्टि मे औचित्य रस के ऊपर की वस्तु या यों कहिए कि रस का भी नियामक तत्त्व बनकर रह गया, जिसका प्रतिपादन एक सिद्धान्त रूप मे क्षेमेन्द्र ने किया।"[2]

उन्होंने 'औचित्य' को एक क्रांतिकारी तथा बड़ा ही व्यावहारिक सिद्धान्त माना है।[3]

यद्यपि औचित्य का स्वरूप देश-कालानुसार न्यूनाधिक रूप मे परिवर्तित होता रहता है तथापि वह किसी दृढ तात्त्विक आधार से रहित नहीं है। उसका आधार मुख्यत: नैतिकता है, जो स्वय एक सापेक्षिक मूल्य है। काल और परिस्थिति के अनुसार जिस प्रकार नैतिकता सम्बन्धी दृष्टिकोण मे अन्तर आता रहता है, उसी प्रकार औचित्य-सम्बन्धी धारणाओ मे भी यत्किंचित् परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

सम्प्रदाय

प्राय 'सम्प्रदाय' के साथ दो अनिवार्यताएँ लगी रहती है—(१) सम्प्रदाय चाहे धार्मिक हो या काव्य-शास्त्रीय, वह अपने इष्ट तत्त्व को ही आत्मस्थानीय मानकर चलता है तथा (२) प्राय: सम्प्रदाय' का अनुवर्त्तन होता है—अर्थात्, प्रत्येक सम्प्रदाय के कुछ-न-कुछ अनुयायी कुछ काल तक तो अवश्य बने रहते है।

१ अन्नम् भट्ट : तर्क-सग्रह, पृ० ६४
२ साहित्य शास्त्र में औचित्य विचार (लेख), ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ६६, अक १
३. वही

'औचित्य' को 'सम्प्रदाय' कहना उचित नही, क्योंकि औचित्य के समर्थकों ने उसे काव्यात्मा के रूप मे प्रतिष्ठित करने या कराने का कोई उपक्रम नही किया (यद्यपि कुछ विद्वान् उसे काव्यात्मा के रूप मे स्वीकृति देते हुए प्रतीत होते है और कुछ के अनुसार क्षेमेन्द्र भी औचित्य को काव्य की आत्मा मानते प्रतीत होते है)।[1]

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को 'रस' का प्राण माना है। 'रस' की अनुपस्थिति म वे औचित्य को कोई महत्त्व नही देते। न तो उन्होंने 'औचित्य' की सम्प्रदाय के रूप मे परिकल्पना ही की है और न 'औचित्य' का उनके बाद कोई अनुवर्तन ही हुआ।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि 'औचित्य' को सम्प्रदाय मानना भी समीचीन नही है। सम्भवत उक्त तथ्यों को ध्यान मे रखते हुए ही आचार्य प० विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र ने अपने ग्रन्थ मे 'औचित्य मत' शब्द का प्रयोग कर औचित्य को 'मत' के रूप मे स्वीकार किया है।

विचारधारा

विचारधारा मे जहाँ एक ओर ऐतिहासिक अनुक्रम, शृखलाबद्धता, व्यवस्था होती है, वहाँ दूसरी ओर उसमे सामयिकता तथा परिवर्तनशीलता भी होती है। कुछ आचार्य औचित्य को एक विचारधारा अथवा साहित्यिक विचारणा भी मानते है। स्वयं क्षेमेन्द्र ने ही अपने ग्रन्थ का नाम 'औचित्य विचार चर्चा' रखा है; परन्तु यह उनकी विनय मात्र है। प्रकृति से सरल होने से उन्हे अपने पक्ष का घटाटोपमूलक किंवा आडम्बरपूर्ण मण्डन करना इष्ट न था।

आधुनिक पण्डितो मे स्वर्गीय आचार्य पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी जी औचित्य को 'एक साहित्यिक-विचारणा' मानते है। उनका कथन है कि -

"औचित्य मत का परम्परागत विवेचन क्षेमेन्द्र द्वारा एक विशिष्ट केन्द्र पर लाया गया और तब से औचित्यमत को एक स्वतन्त्र साहित्य-विचारणा का स्वरूप प्राप्त हुआ। परन्तु यह विचारणा साहित्य-शास्त्र के किसी सिद्धान्त का निर्माण नही करती वरन् वह अनेक सिद्धान्तों मे अन्तर्भूत रहकर सबका सयमन और एक सीमा तक एकीकरण करती है।"[2]

एक अन्य स्थान पर आचार्यजी ने औचित्य को व्यावहारिक समीक्षा का एक 'आवश्यक उपकरण' माना है।[3]

सामान्यत औचित्य को एक साहित्यिक-विचारधारा या विचार-पद्धति मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती, किन्तु वह उसकी अन्तिम या एकमात्र स्थिति नही है। ऐतिहासिक अनुक्रम, देशकालानुसार परिवर्तन-क्षमता एव व्यवस्था से युक्त होने तथा

१ डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री · डॉ० रामलालसिंह, डॉ० मनोहरलाल गौड़।
२ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी औचित्य-विमर्श (भूमिका—नन्ददुलारे वाजपेयी)।
३ वही।

केवल सामयिक तत्त्व से निर्मित न होने व ठोस नीतिशास्त्रीय धरातल पर स्थित होने के कारण औचित्य की धारणा को एकान्तत. एक विचारधारा मानना उसके साथ अन्याय करना है।

औचित्य तथा अन्य शास्त्र

व्याकरण, साहित्य, कला, सौन्दर्यशास्त्र, आचारशास्त्र, राजनीति, लोकव्यवहारादि मे 'औचित्य' का अपना महत्त्व किसी-न-किसी रूप मे है ही। उसकी सत्ता व महत्ता से ये सभी शास्त्र व्याप्त है।

औचित्य और व्याकरण

व्याकरण का साहित्य से—विशेषत: काव्यशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। 'ध्वनि' का 'प्रसिद्ध सिद्धान्त' व्याकरण के 'स्फोट' सिद्धान्त पर खडा है। व्याकरण और काव्य-शास्त्र के परस्पर-सम्बन्ध के विषय मे डॉ० नगेन्द्र का यह कथन द्रष्टव्य है

"वास्तव मे व्याकरण-शास्त्र हमारे काव्य-शास्त्र का एक प्रकार से मूलाधार है। वाणी के अलंकरण के जो सिद्धान्त काव्य-शास्त्र मे स्थिर किये गये, उन पर व्याकरण के सिद्धान्तो का स्पष्ट प्रभाव है। भामह, वामन तथा आनन्दवर्द्धन जैसे आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे व्याकरण की स्थान-स्थान पर सहायता ली है।"[1]

महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य के प्रारम्भ मे ही शब्दो की साधुता-असाधुता की चर्चा की है। व्याकरण-सम्मत होते हुए भी कुछ धातुओ का तत्तदर्थ मे प्रयोग न करने का उन्होने आदेश भी दिया है—यथा 'शव्' धातु का गत्यर्थक प्रयोग व्याकरण-लब्ध होने पर भी निषिद्ध है।[2] उनका यह विवेचन व्याकरण मे 'औचित्य' की प्रारम्भिक एव अप्रत्यक्ष चर्चा के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। संभवत. औचित्य-सिद्धान्त के मूल मे इसकी कुछ प्रेरणा स्थित रही हो।

व्याकरण में 'औचित्य' का प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम तो वैयाकरण भर्तृहरि के ग्रंथ 'वाक्यपदीय' मे मिलता है जहाँ नानार्थक शब्दो के अर्थ-निर्णयार्थ 'औचित्य' को भी एक आवश्यक कसौटी के रूप में ग्रहण किया गया है।[3] भोज, मम्मट, विश्वनाथ आदि सभी प्रमुख परवर्ती आचार्यो ने 'अभिधा' के विवेचन के प्रसंग मे भर्तृहरि की इन्ही प्रसिद्ध कारिकाओ का आधार लिया है। शब्दार्थ-निर्णय केवल 'रूप' के आधार पर ही नही किया जा सकता; अपितु वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देश, कालादि के आधार पर होता है। जिन बारह कसौटियों के आधार पर अर्थ-निर्णय होता है, वे हैं—संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यसन्निधि,

---

१ डॉ० नगेन्द्र . रीति काव्य की भूमिका, पृ० २६

२. वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर : व्याकरण महाभाष्य, भाग १ (अनु०), पृ० २१

३ वाक्यात्प्रकरणार्थादौचित्याद्देशकालत.।
शब्दार्था: प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥३१६ वा० प०

सामान्य औचित्य देश और काल ।[1]

औचित्य और सौंदर्यशास्त्र

सौंदर्य विषयनिष्ठ है और विषयिनिष्ठ भी । वस्तुजगत् मे उसकी जितनी सत्ता है, अंतर्जगत् भी उसकी सत्ता मे उतना ही व्याप्त है । डॉ० कुमार विमल के अनुसार औचित्य-विचार भारतीय सौंदर्यशास्त्र का वह आधार-सूत्र है, जो सभी ललित कलाओं पर समान रूप से लागू हो सकता है ।[2] इतना ही नहीं वे उसे सभी ललित कलाओ के लिए एक सर्वमान्य निकष प्रस्तुत करने वाला व्यापकतम सिद्धान्त मानते हैं तथा रस एव ध्वनि-सिद्धान्तो की मूल भावना की अवस्थिति भी औचित्य-भावना मे मानते है ।[3] जहाँ एक ओर डॉ० कुमार विमल ने 'औचित्य' की सौंदर्यशास्त्रीय महत्ता निरूपित करते हुए उसकी व्यापक महत्ता प्रतिपादित की है, वहाँ कुछ अन्य सौंदर्य-शास्त्रियो ने उसे बाह्य-सौंदर्य के एक आवश्यक उपकरण या तत्त्व के रूप मे प्रतिपादित किया है । डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने उसे बाह्य-सौंदर्य के एक तत्त्व के रूप मे ग्रहण किया है ।[4] और यदि देखा जाय तो 'सगति' और 'प्रमाणबद्धता' भी मूलत औचित्य की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ है । सौंदर्य ललित-कलाओ का प्राण है और काव्य मे तो हम उसे आनन्द या रस के पर्याय के रूप मे स्वीकार कर चुके है । वस्तुत 'सरस' और 'सुन्दर' मे कोई मौलिक भेद नही है । काव्य एव अन्य कलाओ मे रस अथवा सौंदर्य की स्थिति 'तदगभूत उपकरणो' की परस्पर अनुकूलता और प्रमाणबद्धता पर ही निर्भर है । औचित्यमयी होने से ही कृति सुन्दर होती है । सुन्दरता का एक आवश्यक गुण है—व्यवस्था । औचित्य के अभाव मे व्यवस्था सभव नही और व्यवस्था के अभाव मे 'सुन्दरता' की स्थिति दुष्कर है । काव्य-गत सौंदर्य की खोज के सुदीर्घ-कालीन उद्योग का ही यह सुफल है कि 'रस', 'ध्वनि', 'औचित्य' आदि मुख्य काव्य-सिद्धान्त आविर्भूत हुए ।

सौन्दर्य, सौन्दर्यानुभूति एवं सौन्दर्याभिव्यक्ति सभी मे औचित्य-दृष्टि आवश्यक है । व्यक्ति-वैचित्र्य को अपने स्थान पर यथोचित महत्त्व प्रदान करके भी सौन्दर्य की विषयगत सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी । सुन्दर वस्तु अनलंकृत अवस्था मे भी

---

१. सयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थ. प्रकरण लिंग शब्दस्यान्यस्य सन्निधि ॥
सामर्थ्यमौचिती देश कालोव्यक्ति स्वरादय ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृति हेतव ॥ ३१७ वा० प० १ और २—
—(डॉ० राघवन् सम्पादित: भोज प्रणीत 'शृगार प्रकाश' से उद्धृत)

२ डॉ० कुमार विमल . सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, पृ० १०

३. वही, पृ० १०

४ डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त : सौन्दर्यतत्व, पृ० ६, बाह्य-सौन्दर्य के तत्व · सम्मात्रा, सुव्यवस्था, विविधता, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, सगति, प्रमाणबद्धता, आनुगुण्य, संयम, व्यजना, स्पष्टता, मसृणता, कोमलता, वर्णप्रदीप्ति—ये वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के तत्व माने गये हैं ।

सुन्दर ही लगती है।[1] इसी प्रकार यह भी सत्य है कि अननुकूल अलंकरण सुन्दर वस्तु को भी असुन्दर बना देती है।[2] यह सम्भव है कि प्रकृत्या सुन्दर वस्तु भी सब को एक-सी समान सुन्दर प्रतीत न हो क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि भी सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया का एक प्रमुख अंग है। मात्रा-भेद से कोई वस्तु न्यूनाधिक सुन्दर प्रतीत हो सकती है, किन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं कि कला के क्षेत्र में किसी निश्चित, स्थिर मानकों या मापदण्डों की निर्मिति अनावश्यक या असम्भव है। व्यक्ति-वैचित्र्य या विषयि-निष्ठता से व्यतिरिक्त कलांश में सौन्दर्य के सर्व-साधारण व सर्वग्राह्य आधारों की स्थिति सहज सम्भाव्य है। कलागत इन्हीं आधारों को 'औचित्य' से परिभाषित किया जा सकता है। इसकी तनिक-सी विच्युति या उपेक्षा सौन्दर्य को सौन्दर्याभास में परिणत कर देती है।

पानी में नमक गल जाता है, परन्तु एक सीमा तक ही। उस सीमा से आगे पानी नमक को गला नहीं सकता। इसे रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) में संतृप्त बिन्दु (प्वाइन्ट आफ सैच्युरेशन) कहते हैं। उसी प्रकार सभी कलाओं में एक सीमा तक ही सौन्दर्याधान या अलंकरण सुखकर किंवा सह्य होता है, जिसके आगे किया गया किंचिन्मात्र अलंकरण या वर्द्धन सौन्दर्य की हानि कर डालता है। संगीत, चित्रकला, शिल्पादि सभी कलाओं में यह सीमा सदैव दृष्टिगत रहती है। उसे ही 'औचित्य' संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। प्रादेशिक भिन्नताओं अथवा कलाकारों के वैयक्तिक वैचित्र्य के रहते हुए भी इनमें अवश्य ही कुछ अंश सामान्य रहता है। यह सामान्य अंश सर्वत्र समान एवं ग्राह्य होता है। इसे हम कला का 'विज्ञानांश' कह सकते हैं। चित्रकला को ही लीजिए – बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर प्रदेश के चित्रकारों में अपनी-अपनी प्रदेशगत विशेषताएँ अवश्य रहेंगी। नेत्र, नासिका, कपोल, बाहु, वक्ष-स्थलादि के अंकन में इसका प्रभाव भी पड़ेगा किन्तु इसका मूल ढाँचा (स्ट्रक्चर) तो मानव-शरीर-गठन विषयक विज्ञान (एनाटामी) पर ही आधृत रहेगा। यही बात विदेशी कलाकारों के विषय में भी कही जा सकती है। किसी सुनिश्चित परिमाण से अधिक लम्बी या छोटी नासिका सौंदर्यगत सीमा, सम्मात्रा का अभाव ही समझा जाएगा। इसी प्रकार इन अंगों की बेमेल योजना भी औचित्य का अनिर्वाह ही समझी जाएगी।

शिल्प-विद्या में लम्बाई-चौड़ाई एवं गहराई - तीन आयामों से काम लिया जाता है। अतः उसमें प्रत्यंगीण सुन्दरता व आनुपातिक सुसंगति का होना आवश्यक है। किसी एकांग की सुन्दर निर्मिति से कोई कृति सफल शिल्प नहीं बन पाती।

संगीत में स्वरों की साधना प्रमुख है। एक निश्चित सीमा में ही स्वरों का आरोह-अवरोह करना इष्ट होता है। तनिक भी न्यूनाधिक आरोह-अवरोह वांछित परिणाम निष्पन्न नहीं कराता। अतः संगीत में भी सुर की मात्रा का अर्थात् औचित्य

---

१. किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। —कालिदास : शाकुन्तलम्।
२. अशरीरा तनुर्भवति। रूपति पापयामुया। —डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त : सौन्दर्य तत्त्व, पृ० ३८

का निर्वाह आवश्यक है।

संक्षेप में यही कलागत औचित्य का स्वरूप है। प्रत्येक कला में सौदर्य की स्थिति एवं सौदर्य की अभिव्यक्ति के लिए 'औचित्य' का समधिक महत्त्व है। सौदर्य-निर्णय की अनेक महत्त्वपूर्ण कसौटियों में से एक 'औचित्य' भी है। वस्तु के बाह्य सौदर्य के परीक्षण का एक आधार 'औचित्य' है। सभी ललितकलाओं के अन्त सौदर्य की आधार-शिला भी औचित्य है। डॉ० कुमार विमल और डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने क्रमश सौंदर्य-शास्त्र के सन्दर्भ में 'औचित्य' की 'अन्तरंग व बहिरंग महत्ता' पर प्रकाश डाला है। दोनों के दृष्टिकोण अपने-अपने क्षेत्र व स्थान में समीचीन प्रतीत होते है।

औचित्य और आचार-शास्त्र

आचार-शास्त्र अथवा नीति-शास्त्र की तो आधार-शिला ही 'औचित्य' है। आचार-शास्त्र मानव-व्यवहार का शास्त्र है। मानव-आचरण के औचित्य-अनौचित्य, शिवत्व एवं अशिवत्व का निर्णय करनेवाला शास्त्र आचार-शास्त्र है। मैकेन्जी ने आचार-शास्त्र की यही परिभाषा की है कि—

'Ethics may be defined as the study of what is right or good in conduct'[1]

आचार-शास्त्र के अध्ययन का विषय ही 'मानव-आचरण' है। आचार-शास्त्र के प्रमुख उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए आस्टरले कहते है कि—

'we may therefore propose as a definition of Ethics that it is the science which deals with those acts that proceed from the deliberative will of man especially as they are ordered to the ultimate end of man.''[2]

अर्थात् सोद्देश्य व स्वेच्छा-चालित मानव-आचरण का विश्लेषण एवं अध्ययन करना आचार-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

मनुष्य के आचरण के विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व आचार-शास्त्र का अध्येता उसके सम्पूर्ण परिवेश को ध्यान में रखेगा। उसकी चतुर्दिक् परिस्थितियों पर भी उसे दृष्टिपात करना पड़ेगा। व्यक्ति के आचरण का सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ में अध्ययन करना आचार-शास्त्र का एक लक्ष्य है। आचार-शास्त्र का प्रमुख कार्य यह खोजना है कि मानव का चरित्र और उसका आचरण कैसा होना चाहिए।[3]

मनुष्य के चरित्र का सम्बन्ध उसके भीतरी पहलू से है और आचरण का सम्बन्ध बाह्य पहलू से। चरित्र के इन अन्तर्बाह्य पहलुओं पर विचार करते समय यह 'औचित्य'

1. J. S. Mackenzie : A Manual of Ethics p 1
2 Osterle, Ethics, p 4 5
३ डा० कचनलता सब्बरवाल : आचार शास्त्र, पृ० ६

ही आचार-शास्त्र का पथ-निर्देश करता है। आचार-शास्त्र व्यक्ति को अपने लिए श्रेयस को चुनने में सहायता करता है।[1]

प्रत्येक व्यक्ति अपने सामाजिक परिवेश में अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न दायित्वों का निर्वाह करता रहता है। व्यक्ति के 'दायित्व-सज्ञान' का 'प्रेरक-तत्त्व' 'औचित्य' है। भारतीय धर्मशास्त्र में आचरण' की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। हमारा चरित्र निर्मल व आचरण अनुकरणार्ह होना चाहिए। गीता में भी कहा गया है कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठ· तत्तदेवेतरो जन ।"[2] प्राय बड़े व्यक्तियों के चरित्र का छोटे लोग अनुकरण करते है। अच्छा और अनुकरणीय आचरण वही है, जो व्यष्टि के लिए अच्छा होने के साथ-साथ समष्टि के लिए भी अच्छा हो, जिससे अपना और दूसरो का कल्याण हो।

औचित्य और लोक-व्यवहार

लोक-व्यवहार भी आचार-शास्त्र का एक अग है अत लोक-व्यवहार में औचित्य के महत्त्व पर विचार कर लेना यहाँ प्रासगिक ही होगा। उचित-अनुचित के विवेक के अभाव में हमारा व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन बहुत ही विशृंखल हो जाएगा। जीवन के प्रवाह को सहज एव सुचारु रूप से प्रवहमान रहने देने के लिए सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है। सामाजिक नियन्त्रण का आधार भी औचित्य है। साहित्यिक औचित्य भी मूलत सामाजिक औचित्य की भित्ति पर खड़ा है। इसीलिए तो किसी रचना के प्रकाशन, प्रदर्शन, क्रय-विक्रय, पठन-पाठन इत्यादि का— उनमें निष्पन्न सामाजिक प्रभाव को ध्यान में रखते हुए ही--निर्णय किया जाता है।[3]

प्रसिद्ध विद्वान् ब्रेड्ले का कथन है कि······

"The problem of social control of Art arises then from the possibilities of such a conflict, and from the fact that, though the aesthetic object is itself but an object neither right nor wrong, neither legal nor illegal, the act of producing, performing, acting, presenting, publishing, exibiting or selling that object is an act that must like all acts be judged by its social ends for it is an act with consequences '[4]

इस प्रकार के निर्णय के मूल में औचित्य-बुद्धि ही अवस्थित रहती है। केवल साहित्य में ही नही जीवन में भी 'रामादिवत् न तु रावणादिवत्' आचरण उपकारक होता है। प्रसंग, परिस्थिति एवं समय के प्रतिकूल आचरण करने वाला व्यक्ति या तो घृणा-पात्र बनता है या हास्यास्पद। केवल दाँत, केश, नख और नर तक ही यह उक्ति सीमित नही कि 'स्थान भ्रष्टा न शोभन्ते दन्ता: केशा: नखा: नराः।'

---

१ डॉ० कचनलता सब्बरवाल · आचारशास्त्र, पृ० ६

२ श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ३, श्लो० २१

3 Breadsley · Aesthetics, p. 577

4. Ditto, p. 577

जीवन के प्रत्येक कार्य में पद पद पर अपने व्यवहार में हमें औचित्य-निर्वाह करना पड़ता है। वाणी का तनिक असंयम वक्ता की कपालक्रिया करा देता है। वाणी का माधुर्य बिछुड़े हुए दो प्राणियों को मिला देता है। आचरण की जरा-सी विच्युति स्वर्ग से पाताल में पतन करा देती है, राजा नहुष का उदाहरण हमारे समक्ष मौजूद ही है।

औचित्य और साहित्य-शास्त्र

काव्य में औचित्य कथ्य और कथन की परस्पर अनुकूल स्थिति के रूप में सदैव विद्यमान रहता है। आस्वाद-प्रक्रिया में जहाँ कहीं कुछ विरोधी, अपकर्षक किंवा अवरोधक पाया जाता है, वहाँ हम अनौचित्य की सहज ही स्थिति पाते हैं। चारुत्व प्रवाह में खटकनेवाली बात 'अनौचित्य' और पोषक बात 'औचित्य' संज्ञा पा जाती है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र का निम्नोद्धृत मन्तव्य द्रष्टव्य है—

"भारतीय साहित्य-शास्त्र ने काव्य आदि का विचार करने के लिए एक विशेष प्रकार की दृष्टि विकसित की, जिसका मुख्य आधार रस हुआ। यह रस आस्वाद से उपमित किया गया है। किसी पदार्थ के खाने में उसका स्वाद अनेक कारणों से बिगड़ता है। स्वाद को बिगाड़नेवाले इन कारणों, तत्त्वों आदि को जो रोके रहे वही औचित्य है।"[1]

औचित्य जहाँ अवांछनीय तत्त्वों को रोकने का कार्य करता है, वहाँ नवीन चारुत्व सन्निवेश के लिए काव्य के विभिन्न उपकरणों की संवादिता भी योजित करता है। इस दृष्टि से वह एक सामंजस्य-स्थापक काव्य-सिद्धान्त (Harmonising principle) सिद्ध होता है। इसके अभाव में रस, 'रसाभास'; सौन्दर्य 'सौन्दर्याभास' बन जाता है। रसदृष्टि के अतिरिक्त आधुनिक भाव-बोध के विचार से भी औचित्य का महत्त्व है। अनुचित वस्तु प्रतीतिकर नहीं बन पाती। और प्रतीतिकरता के अभाव में उनसे संवेदना जग नहीं सकती, न उनका प्रत्यक्ष प्रत्यय ही हो पाता है।

औचित्य और राजनीति शास्त्र

राजनीति के क्षेत्र में भी औचित्य की महत्ता कम नहीं है। एक कुशल राजनीतिज्ञ अथवा शासक को औचित्य का सदैव ध्यान रखना चाहिए। अपने निर्णयों घोषणाओं या विधि-विधानों में वह निरन्तर इस बात का ध्यान रखे कि ये सारे निर्णय देश-काल व परिस्थितियों के संदर्भ में ठीक तो हैं।

माघ ने अपने 'शिशुपाल वध' में एक अत्यन्त सटीक बात इस सन्दर्भ में कही है—

तेजः क्षमा वा नैकान्तात् कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः ॥ ८५।२

जिस प्रकार रसज्ञ एवं रसाभिनिवेशी कवि के लिए एकान्त ओज या प्रसाद गुण की साधना इष्ट नहीं है, उसी प्रकार कालज्ञ महीपति के लिए भी सर्वथा तेज अथवा

---

१ देखिए परिशिष्ट में दिया गया आचार्य जी का पत्र।

द्वा आचार-शास्त्र का पथ-निर्देश करता है। आचार-शास्त्र व्यक्ति को अपने लिए श्रेयस को चुनने में सहायता करता है।[1]

प्रत्येक व्यक्ति अपने सामाजिक परिवेश में अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न दायित्वों का निर्वाह करता रहता है। व्यक्ति के 'दायित्व-सज्ञान' का 'प्रेरक-तत्त्व' 'औचित्य' है। 'भारतीय धर्मशास्त्र मे आचरण' की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। हमारा चरित्र निर्मल व आचरण अनुकरणार्ह होना चाहिए। गीता मे भी कहा गया है कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठ तत्तदेवेतरो जन।"[2] प्राय: बड़े व्यक्तियो के चरित्र का छोटे लोग अनुकरण करते है। अच्छा और अनुकरणीय आचरण वही है, जो व्यष्टि के लिए अच्छा होने के साथ-साथ समष्टि के लिए भी अच्छा हो, जिससे अपना और दूसरो का कल्याण हो।

औचित्य और लोक-व्यवहार

लोक-व्यवहार भी आचार-शास्त्र का एक अंग है अत: लोक-व्यवहार मे औचित्य के महत्त्व पर विचार कर लेना यहाँ प्रासंगिक ही होगा। उचित-अनुचित के विवेक के अभाव मे हमारा व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन बहुत ही विश्रृंखल हो जाएगा। जीवन के प्रवाह को सहज एव सुचारु रूप मे प्रवहमान रहने देने के लिए सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है। सामाजिक नियन्त्रण का आधार भी औचित्य है। साहित्यिक औचित्य भी मूलत सामाजिक औचित्य की भित्ति पर खड़ा है। इसीलिए तो किसी रचना के प्रकाशन, प्रदर्शन, क्रय-विक्रय, पठन-पाठन इत्यादि का—उनमे निष्पन्न सामाजिक प्रभाव को ध्यान मे रखते हुए ही—निर्णय किया जाता है।[3]

प्रसिद्ध विद्वान् ब्रेडले का कथन है कि······

"The problem of social control of Art arises then from the possibilities of such a conflict, and from the fact that, though the aesthetic object is itself but an object neither right nor wrong, neither legal nor illegal, the act of producing, performing, acting, presenting, publishing exibiting or selling that object is an act that must like all acts be judged by its social ends for it is an act with consequences."[4]

इस प्रकार के निर्णय के मूल मे औचित्य-बुद्धि ही अवस्थित रहती है। केवल साहित्य मे ही नही जीवन मे भी 'रामादिवत् न तु रावणादिवत्' आचरण उपकारक होता है। प्रसंग, परिस्थिति एवं समय के प्रतिकूल आचरण करने वाला व्यक्ति या तो घृणा-पात्र बनता है या हास्यास्पद। केवल दाँत, केश, नख और नर तक ही यह उक्ति सीमित नही कि 'स्थान भ्रष्टा न शोभन्ते दन्ता: केशा: नखा नरा'।'

---

[1] डॉ० कचनलता सब्बरवाल : आचारशास्त्र, पृ० ६

[2] श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ३, श्लो० २१

3 Breadsley . Aesthetics, p. 577

4. Ditto, p. 577

जीवन के प्रत्येक कार्य में पद पद पर अपने व्यवहार में हमें औचित्य-निर्वाह करना पड़ता है। वाणी का तनिक असंयम वक्ता की कपालक्रिया करा देता है। वाणी का माधुर्य बिछड़े हुए दो प्राणियों को मिला देता है। आचरण की जरा-सी विच्युति स्वर्ग से पाताल में पतन करा देती है, राजा नहुष का उदाहरण हमारे समक्ष मौजूद ही है।

औचित्य और साहित्य-शास्त्र

काव्य में औचित्य कथ्य और कथन की परस्पर अनुकूल स्थिति के रूप में सदैव विद्यमान रहता है। आस्वाद-प्रक्रिया में जहाँ कहीं कुछ विरोधी, अपकर्षक किंवा अवरोधक पाया जाता है, वहाँ हम अनौचित्य की सहज ही स्थिति पाते हैं। चारुत्व प्रवाह में खटकनेवाली बात 'अनौचित्य' और पोषक बात 'औचित्य' संज्ञा पा जाती है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र का निम्नोद्धृत मन्तव्य द्रष्टव्य है—

"भारतीय साहित्य-शास्त्र ने काव्य आदि का विचार करने के लिए एक विशेष प्रकार की दृष्टि विकसित की, जिसका मुख्य आधार रस हुआ। यह रस आस्वाद में उपमित किया गया है। किसी पदार्थ के खाने में उसका स्वाद अनेक कारणों से बिगड़ता है। स्वाद को बिगाड़नेवाले इन कारणों, तत्त्वों आदि को जो रोके रहे वही औचित्य है।"[1]

औचित्य जहाँ अवांछनीय तत्त्वों को रोकने का कार्य करता है, वहाँ नवीन चारुत्व सन्निवेश के लिए काव्य के विभिन्न उपकरणों की संवादिता भी योजित करता है। इस दृष्टि से वह एक सामंजस्य-स्थापक काव्य-सिद्धान्त (Harmonising principle) सिद्ध होता है। इसके अभाव में रस, 'रसाभास', सौन्दर्य 'सौन्दर्याभास' बन जाता है। रसदृष्टि के अतिरिक्त आधुनिक भाव-बोध के विचार से भी औचित्य का महत्त्व है। अनुचित वस्तु प्रतीतिकर नहीं बन पाती। और प्रतीतिकरता के अभाव में उनमें संवेदना जग नहीं सकती, न उनका प्रत्यक्ष प्रत्यय ही हो पाता है।

औचित्य और राजनीति शास्त्र

राजनीति के क्षेत्र में भी औचित्य की महत्ता कम नहीं है। एक कुशल राजनीतिज्ञ अथवा शासक को औचित्य का सदैव ध्यान रखना चाहिए। अपने निर्णयों, घोषणाओं या विधि-विधानों में वह निरन्तर इस बात का ध्यान रखे कि ये सारे निर्णय देश-काल व परिस्थितियों के संदर्भ में ठीक तो है।

माघ ने अपने 'शिशुपाल वध' में एक अत्यन्त सटीक बात इस सन्दर्भ में कही है—

तेजः क्षमा वा नैकान्तात् कालज्ञस्य महीपते।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवे ॥ ८५१२

जिस प्रकार रसज्ञ एवं रसाभिनिवेशी कवि के लिए एकान्त ओज या प्रसाद गुण की साधना इष्ट नहीं है, उसी प्रकार कालज्ञ महीपति के लिए भी सर्वथा तेज अथवा

---

1 देखिए परिशिष्ट में दिया गया आचार्य जी का पत्र।

एकान्त क्षमा भाव का आश्रयण उचित नही है। अर्थात् कवि यथा-प्रसग कभी ओज तो कभी प्रसाद गुण की योजना करता रहे। ठीक वैसे ही राजा भी यथावसर कभी तेज तो कभी क्षमा का उपयोग करे। आनन्दवर्द्धन ने उसे 'काले च ग्रहणत्यागौ' कह कर व्याख्यायित किया है।

परिवर्तनशील राजनीति, देश, काल एव परिस्थिति-सापेक्ष होती है। उचित-निर्णय का अवसरानुरूप ग्रहण व समयानुरूप किसी निर्णय का त्याग करते रहना राजनीति में अत्यावश्यक है। आज के इस विज्ञान-विध्वसक युग मे तो राजनीतज्ञो का उत्तरदायित्व अनेकश बढ गया है। औचित्य की ईषत् उपेक्षा कैसे-कैसे भयकर परिणाम उपस्थित कर देती है, यह सर्वविदित है। अनेक अनर्थ केवल इसीलिए उत्पन्न हो जाते है कि उसके कारण-रूप निर्णय जब लिए गये होगे तब अधिकारियो ने औचित्य को दृष्टि-पथ मे रखा न होगा।

राजनीति मे तो औचित्य का महत्त्व स्वत सिद्ध है।

औचित्य एवं अन्य काव्य-सम्प्रदाय

औचित्य और रस

काव्य मे 'औचित्य' और 'रस' के परस्पर-सम्बन्ध, स्थान एव महत्त्व के विषय मे क्षेमेन्द्र का अभिमत क्या था ?—इस पर विद्वानो मे मतैक्य नही है। तद्विषयक प्रमुख तीन धारणाएँ इस प्रकार है :

(१) क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को एक काव्य-सम्प्रदाय माना है और 'औचित्य' को काव्य की आत्मा। इस धारणा के पोषक है—डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री, डॉ० मनोहरलाल गौड और डॉ० रामलालसिंह।[1]

(२) क्षेमेन्द्र रस को ही काव्यात्मा मानते है, किन्तु 'रससिद्ध' काव्य को भी औचित्य-नियन्त्रित मानते हैं। प० बलदेव उपाध्याय और डॉ० राघवन इसी मत के हैं।[2]

(३) क्षेमेन्द्र का काव्यात्मा से कोई सम्बन्ध नही, वे तो मात्र समीक्षक की दृष्टि से 'औचित्य' को लेकर किसी भी कृति मे अगागि की परस्पर सुनियोजना पर विचार करते है और रस को भी विवेचन के प्रसग मे अग-रूप मे स्वीकार करते है। डॉ० रामपाल विद्यालंकार इसी धारणा

---

1. Dr Suryakant · Kshemendra Studies, p. 38-39
   डॉ० मनोहरलाल गौड आचार्य क्षेमेन्द्र, पृ० १४
   डॉ० रामलालसिंह समीक्षा दर्शन, भाग २, पृ० १११-११२
2. प० बलदेव उपाध्याय . भारतीय साहित्य, भाग २, पृ० ३३
   Dr. V. Raghavan : Some Concepts of the Alamkar Shastra, p. 198, 245

के समर्थक हैं।

उक्त तीनों धारणाओं की उत्पत्ति क्षेमेन्द्र के ही निम्नलिखित सूत्र के व्याख्या-भेद में हुई प्रतीत होती है—

"औचित्यम् रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्।"[2]

प्रस्तुत सूत्र में 'जीवितम्' शब्द का अर्थाख्यान ही महत्त्वपूर्ण व व्याख्या-भेद का कारण है। क्षेमेन्द्र के समय 'जीवित' शब्द 'आत्मा' के अर्थ में प्रयुक्त होता था। स्वयं क्षेमेन्द्र ने भी 'रसजीवितभूतस्य विचार क्रियतेऽधुना।'[3] लिखकर 'जीवित' शब्द का प्रयोग 'आत्मा' के अर्थ में किया है। वक्रोक्तिकार भी 'वक्रोक्ति काव्य-जीवितम्' कहकर 'जीवितम्' को 'आत्मा' के अर्थ में ग्रहण करता है, किन्तु, क्षेमेन्द्र उक्त सूत्र में काव्य' को 'रससिद्ध' कहकर प्रथमतः रस को काव्यात्मा मान लेते हैं, तत्पश्चात् 'जीवितम्' शब्द को 'स्थिर' विशेषण से संयुक्त करके उसे 'दीर्घजीवन' के पर्याय-रूप में ग्रहण करते हैं। अतः स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र 'औचित्य' को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार न करके उसे मात्र रसयुक्त काव्य के दीर्घ जीवन के रूप में ही ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार आचार्य आनन्दवर्द्धन 'रस ध्वनि' की बात करते हुए भी 'रस' को ही काव्यात्मा मानते हैं और अन्ततः 'प्रसिद्ध औचित्य बन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा' कहकर औचित्य को रस का परम रहस्य स्वीकार करते हुए भी 'रसवादी' धारा से वियुक्त नहीं होते, उसी प्रकार उनकी शिष्य-परम्परा में (क्षेमेन्द्र आचार्य अभिनव गुप्त के शिष्य थे) क्षेमेन्द्र भी 'रसौचित्य' की चर्चा करते हुए उक्त सूत्रानुसार रस को ही काव्यात्मा मानते हैं और 'रसवादी' धारा से वियुक्त नहीं होते। अतः क्षेमेन्द्र द्वारा औचित्य को काव्यात्म-स्थानीय मानने की एवं तदनुसार 'औचित्य' को सम्प्रदाय मानने की धारणा का स्वतः खण्डन हो जाता है। इसी प्रकार 'रसौचित्य' को पृथक् भेद मानकर भी समीक्षक-दृष्टि से रस और औचित्य का परस्पर अंगांगि भाव भी क्षेमेन्द्र को अभिप्रेत नहीं था—यह भी सहज स्पष्ट है। साथ ही समीक्षक की दृष्टि से औचित्य को रस का नियन्त्रक तत्त्व मानकर इनमें परस्पर 'अंगांगि भाव' की भ्रांत प्रकल्पना करना कुछ ऐसा माना जाएगा, जैसे शरीर और आत्मा को पुष्ट करने वाले पौष्टिक भोजन व पठनादि को ही सब कुछ मानकर उन्हें आत्मस्थानीय महत्त्व प्रदान करना।

परिणामतः प्रथम व तृतीय धारणाओं के स्वतः खण्डित हो जाने पर तथा उपर्युक्त सूत्र की उक्त व्याख्या के परिवेश में दूसरी धारणा ही स्वीकार्य जान पड़ती है।

गम्भीरतापूर्वक देखने से औचित्य काव्य के आवश्यक और उपयुक्त सभी उपकरणों की यथोचित सुनियोजना ही है, जिसका सम्बन्ध मूलतः आलोचक के साथ है। यही आलोचक जब किसी कृति की आलोचना करने बैठता है, तब रस तथा अन्य उप-

१ डॉ० रामपाल विद्यालंकार : क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि, पृ० १०
२ क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा (काव्यमाला सीरीज), गुच्छ १, पृ० ११५
३ वही।

करण उसके अध्ययन का अंग बन जाते है। ये अग पूर्णत स्वतन्त्र न होकर एक-दूसरे की स्थिति से अनुशासित होते रहते है। इस अनुशासन की सहिता को औचित्य कहा जा सकता है, किन्तु यह औचित्य भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है, अपितु उपकरणो के समवाय से वह उत्पन्न होती है और उनके विघटन से नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति मे वह भी रस की भाँति अन्य मुखापेक्षी है। तब स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि रस और औचित्य का परस्पर-सम्बन्ध क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर प० बलदेव उपाध्याय के शब्दो ने इस प्रकार है—

"काव्य की आत्मा (Soul) रस है और जीवित (Life) है औचित्य। आत्मा के बिना जिस प्रकार जीवन असंभव है, उसी प्रकार रस के बिना औचित्य की सत्ता निरर्थक है। इसी प्रकार मैं तो यह भी कहूँगा कि फिर जीवन के न रहने पर निर्गुण अनभिव्यक्त आत्मा की तरह रस का भी क्या आस्वाद्य अस्तित्व होगा ?"[1]

आत्मा मे जिनका विश्वास नही, ऐसे शुद्ध पदार्थवादियो के सन्तोष के लिए यही कहा जा सकता है कि औचित्य और रस परस्पराश्रित तत्त्व है और उनके बीच 'अन्वय-व्यतिरेक' सम्बन्ध मानना ही पूर्णत निरापद है।

औचित्य और ध्वनि

'रस', 'ध्वनि' और 'औचित्य' - ये तीन – 'काव्य' के तीन पाद है। किसी एक के अभाव मे काव्य स्थिर नहीं खडा रह पाता है।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने इन तीनो का यथार्थ महत्त्व समझा था। अत उन्होने काव्य की आत्मा 'ध्वनि', 'ध्वनि' का प्राण 'रस' और 'रस' का रहस्य 'औचित्य' स्वीकार किया। जहाँ एक ओर उन्होने 'रस-ध्वनि' को स्वीकार कर रस-सिद्धान्त का ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा विस्तार किया, वहाँ दूसरी ओर रस के परम रहस्य के रूप मे 'औचित्य' को ग्रहण कर औचित्य की महत्ता भी स्थापित की। इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रस, ध्वनि और औचित्य—इन तीन तत्त्वो को एक साथ सवलित कर दिया। ध्वनि के समस्त प्रभेदो का नियामक तत्त्व वे औचित्य को मानते हैं। आचार्य आनन्दवर्द्धन अनौचित्य को ही समस्त रसभगो का एकमात्र कारण मानते है—

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभगस्य कारणम्।"[2] और औचित्य निबन्धन को रस का परम गूढ रहस्य मानते है—"प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।"[3]

आचार्यपाद के विचार से कोई भी ध्वनि—चाहे वह वस्तु-ध्वनि हो, अलंकार-ध्वनि हो या रस-ध्वनि हो — यदि उचित रीति से निबद्ध नही है, तो ग्राह्य नही हो सकती। उचित ध्वनि ही सहृदय ग्राह्य बनती है, अनुचित-ध्वनि नही। औचित्य से विरहित ध्वनि का अपना कोई महत्त्व नही है। इस विषय मे प० बल्देव उपाध्याय

१ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी · औचित्य विमर्श, पृ० १५७ पर उद्धृत।
२ डॉ० रामसागर त्रिपाठी · ध्वन्यालोक (उत्तरार्द्ध), पृ० ७८०
३ वही।

का निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है "रस-ध्वनि से समन्वित काव्य भी औचित्य-वर्जित होने पर आनन्दोल्लास कथमपि विकसित नहीं कर सकता। रस की चारुता औचित्य के कारण ही होती है।"[1] वे 'रस-ध्वनि' और 'औचित्य' को परस्पर प्रगाढ़ रूप से अनुस्यूत मानते है। परन्तु ध्वनि के अभाव में कोरे औचित्य की स्थिति स्वीकार करने वालो को वे मूल को छोड़कर पल्लव-सिंचन करने वालो के सदृश मानते है। आनन्दवर्द्धन ने भी ललित एव उचित सन्निवेश को ही काव्य की चारुता का कारण माना है। उनके द्वारा प्रयुक्त 'उचित' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त कहते है—

"उचित शब्देन रसविषयमेवौचित्य भवतीति दर्शयन रस-ध्वनेर्जीवितत्व सूचयति। तदभावे हि किमपेक्ष्येदमौचित्य नाम सर्वत्रोद्घोष्यते।"[2]

अर्थात् 'उचित' शब्द से रस-विषयक औचित्य का जो कि 'रस-ध्वनि' का जीवातुभूत है—ही ग्रहण किया जाय, क्योकि उसके अभाव मे (रस के अभाव मे) किस को लेकर यह औचित्य सर्वत्र अपना उद्घोष कर सकेगा? अत स्पष्ट है कि रस-ध्वनि के अभाव में कोरे औचित्य की कोई महत्ता नही है।

निष्कर्ष यह है कि औचित्य के अभाव मे ध्वनि सहृदयाह्लादकारी नहीं बन पाती, फलत अग्राह्य ही होती है, तो ध्वनि के अभाव मे औचित्य अपनी कोई सत्ता नही रखता। दोनो परस्परावलम्बित है, अन्योन्याश्रित है।

औचित्य और वक्रोक्ति

'औचित्य' लोकसीमानुवर्त्तन पर बल देता है और 'वक्रोक्ति' लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा के प्राधान्य पर। इस दृष्टि से दोनो में परस्पर विरोध की कल्पना सहज ही की जा सकती है, किन्तु इनमें वास्तविक विरोध नही है। 'लोकसीमातिवर्तिनी' का अर्थ लोकसीमातिक्रमण नहीं बल्कि लोकोत्तर वैशिष्ट्य है।

वस्तुत औचित्य और वक्रोक्ति तो परस्पर प्रगाढ रूप से सम्बद्ध हैं। आचार्य बलदेव उपाध्यायजी ने औचित्य सिद्धान्त को वक्रोक्ति का पूरक कहा है।[3] वक्रोक्ति को वे औचित्य का ही दूसरा नाम मानते है।[4] कुन्तक द्वारा निरूपित वक्रता के भेदोपभेदो का आधार 'औचित्य' है और इस प्रकार उन्होंने इन वक्रता-भेदो मे औचित्य के तद्विषयक भेदो की स्थिति मानी है।[5]

'औचित्य' को वक्रोक्ति का आधार अथवा रहस्य मानने में तो कोई विरोध नही है, किन्तु उसे वक्रोक्ति का पर्याय मानने पर तो दोनो आचार्यो की स्वतन्त्र व

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग २, पृ० ३२
२. डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (लोचन टीका), भाग १, पृ० ७३
३ प० बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग २, पृ० ८१
४ वही, भाग २, पृ० ८७
५ वही, भाग २, पृ० ८७

मौलिक चिंतन-दृष्टियों का अस्तित्व ही संदिग्ध हो जाएगा। आचार्य डॉ० नगेन्द्र ने इन दोनों सिद्धान्तों में प्राप्त साम्य-वैषम्य को भली-भाँति स्पष्ट किया है।

औचित्य और वक्रोक्ति में साम्य

"वास्तव में वक्रोक्ति और औचित्य दोनों सिद्धान्तों की प्रतिपादन-योजना में ही मूलगत साम्य है। कुन्तक और क्षेमेन्द्र दोनों ने काव्य के सूक्ष्मतम तत्त्व से लेकर महत्तम रूप तक प्रायः एक ही क्रम में अपने सिद्धान्त का विस्तार कर उसे सर्वव्यापक बनाने का प्रयत्न किया है।"[1]

अर्थात् दोनों ने वर्ण-योजना से लेकर महाकाव्य की प्रबन्ध-योजना तक में वक्रता एवं औचित्य का निर्वाह विवक्षित किया है। दोनों की प्रतिपादन शैली में साम्य है।

"वक्रोक्ति का आधार है वस्तुनिष्ठ कल्पना और औचित्य का आधार है व्यक्तिनिष्ठ विवेक—आधुनिक शब्दावली में वक्रोक्तिवाद जहाँ रोमानी काव्यरूप की प्रतिष्ठा करता है, वहाँ औचित्य-सिद्धान्त विचारगत सौष्ठव की, और इन दोनों का मिलन तीर्थ है रस, जहाँ दो भिन्न दिशाओं से आकर ये लीन हो जाते हैं।"[2]

डॉ० नगेन्द्र के उपर्युक्त कथन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य सौष्ठववादी सिद्धान्त है और वक्रोक्ति रोमानवादी सिद्धान्त है। औचित्य काव्य के बाह्याभ्यंतर दोनों अंगों में अपनी व्याप्ति रखता है। वक्रोक्ति काव्य के बहिरंग अर्थात् कलापक्ष (अभिव्यक्ति-पक्ष) से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। कृति के सर्वांग सौंदर्य के लिए उसके विभिन्न अंगों में औचित्य की अवस्थिति अनिवार्य है, किन्तु औचित्य के विविध रूपों में वक्रोक्ति की अनिवार्यता स्वयं कुन्तक को भी स्वीकार्य नहीं है। अतः औचित्य वक्रोक्ति की अपेक्षा व्यापकतर सिद्ध होता है। वक्रोक्ति के संदर्भ से औचित्य की कुन्तक-सम्मत स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं कि—

"अतएव कुन्तक के मत से औचित्य काव्य-सौंदर्य अथवा वक्रता का अनिवार्य किन्तु सामान्य गुण मात्र है, न व्यावर्तक धर्म है और न पर्याय ही।"[3]

सारांशतः यही कहा जा सकता है कि औचित्य वक्रोक्ति से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होते हुए तथा वक्रोक्ति का आधार होते हुए भी, उसमें एकरूप नहीं, उसका स्थानापन्न नहीं, उसका पर्याय नहीं है। स्वयं कुन्तक ने भी उसे उसी रूप में ग्रहण नहीं किया। कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवितम्' में औचित्य का ग्रहण तीन स्थानों पर इस रूप में हुआ है—

(१) कुन्तक द्वारा निरूपित काव्य-परिभाषा में गृहीत 'साहित्य' शब्द का

---

१. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० २१२

२. वही, पृ० २१३

३. वही।

आधार औचित्य है। शब्द और अर्थ का 'उचित' सहभाव अथवा सम्बन्ध ही कुन्तक को ग्राह्य है।[1]

(२) कुन्तक द्वारा विवेचित काव्य के दो सामान्य गुणों मे प्रथम गुण 'औचित्य' है। इस 'औचित्य' गुण का आधार है—उचित अर्थात् यथानुरूप कथन।[2]

(३) कुन्तक द्वारा विस्तार मे प्रतिपादित वक्रता के अनेक भेदोपभेदों का आधार भी औचित्य है। वक्रता आह्लादकारिणी होती है और औचित्य के अभाव मे किसी भी प्रकार का आह्लाद संभव ही नही है।[3]

संक्षेप मे यही कुन्तक के औचित्य-विषयक दृष्टिकोण का सार है। औचित्य वक्रोक्ति का भी नियामक तत्त्व प्रतीत होता है।

औचित्य और रीति

आचार्य वामन ने 'रीति' की स्वतंत्र प्रतिष्ठा कर 'रीति-सम्प्रदाय' स्थापित किया। रसवादी-धारा से वियुक्त होकर पहली बार भारतीय काव्य-शास्त्र मे अनात्मवादी तत्त्व की काव्यात्मा के रूप मे प्राण-प्रतिष्ठा उनके द्वारा की गई। अब तक काव्य के बाह्यांग के रूप मे प्रसिद्ध इस 'रीति' तत्त्व को आचार्य वामन ने बड़े प्रबल शब्दो मे अंतरंग तत्त्व के रूप में प्रस्थापित किया। काव्य-मीमांसा के क्षेत्र में उनकी यही मुख्य देन है कि उन्होने काव्य के प्रमुख एवं गौण तत्त्वों का पार्थक्य स्पष्ट किया तथा बहिरंग को अन्तर्तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित कर जीवन के अनात्मवादी दृष्टिकोण को काव्य के क्षेत्र मे आरोपित किया।[4] इस रूप मे वे भरतादि आचार्यों—जिन्होंने रस को प्राण-तत्त्व माना है—से अलग पड़ जाते है।

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'।[5] और आगे रीति की परिभाषा इस प्रकार देते है—'विशिष्टा पद-रचना रीतिः।'[6] अर्थात् विशेष प्रकार की पद-रचना रीति है। 'विशेष' की स्पष्टता करते हुए वे कहते है कि 'विशेषोगुणात्मा।' इस प्रकार 'रीति' की पूर्ण परिभाषा यों हुई—

"गुण-सम्पन्न पद-रचना काव्य की आत्मा है।" यहाँ पर 'पद-रचना' पर विशेष बल दिये जाने से काव्य का अभिव्यक्ति पक्ष (बहिरंग) प्रमुख बन जाता है और अर्थ अर्थात् वस्तु-पक्ष शिथिल पड़ जाता है। अतः एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि काव्य मे वस्तुपक्ष एवं रीतिपक्ष का पारस्परिक महत्त्व, सम्बन्ध एवं स्थिति क्या हो?

---

१ डा० नगेन्द्र, हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० २०६
२ वही, पृ० २१०
३ वही, पृ० २११-१२
४. डॉ० नगेन्द्र (सपा०) हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, पृ० २८
५ वही (व्याख्या भाग), पृ० १८
६ वही पृ० १६

इस विषय मे भारतीय समीक्षा का सार-सग्रह प्रस्तुत करते हुए डॉ० नगेन्द्रजी ने निम्न बाते कही है—[1]

वस्तु और रीति के सापेक्षिक महत्त्व के विषय मे साधारणत चार सिद्धान्त है—

(१) काव्य का मूल तत्त्व तो वस्तु तत्त्व (भाव एवं विचार) ही है। रीति सर्वथा उसी के आश्रित है। रीति केवल वाहन या माध्यम है जो वस्तु की अनुवर्तिनी है।

(२) काव्य मूलत आत्माभिव्यक्ति है अतः वस्तु और रीति दोनो को ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति माना गया है।

(३) आधुनिक अभिव्यंजनावादियो के अनुसार केवल रीति अर्थात् अभिव्यंजना की ही सत्ता है वस्तु का उससे (रीति-अभिव्यंजना से) स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नही है।

(४) वस्तु और रीति दोनो का समन्वय ही वाछित है। काव्य मे अर्थ और शब्द दोनो का समान अस्तित्व है।

यदि 'रीति'—जैसा कि वामन ने प्रतिपादित किया है—काव्य का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व है, तब तो उसके किसी प्रकार के नियंत्रण का या सयमन का प्रश्न ही उपस्थित नही होता, किन्तु यदि वह काव्य मे किसी अन्य प्रमुख तत्त्व की अनुवर्तिनी है, (जैसाकि वामनेतर बहुत से आचार्य मानते हैं) तब तो उसके नियन्त्रण का प्रश्न अवश्य उठता है और वह प्रश्न विचारणीय भी है।

तब प्रश्न यह है कि 'रीति' का नियामक तत्त्व कौन-सा है ?

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने उसका उत्तर देते हुए रीति को रसाश्रित कहा है तथा रस को रीति का नियंत्रक तत्त्व स्वीकार किया है।[2] रस के अतिरिक्त वे वक्तृविषयक औचित्य, विषयगत औचित्य और वाच्य-सम्बन्धी औचित्य को भी रीति का नियन्त्रण करने वाले तत्त्व के रूप में स्वीकार करते है।[3]

आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' के लिए 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया है। अत वामन की 'विशिष्ट पद-रचना' और आन्दवर्द्धन की 'संघटना' मे कोई मौलिक अन्तर नही है। अन्तर है तो इतना ही कि जहाँ आनन्दवर्द्धन ने पद-रचना अर्थात् घटना के लिए 'सम्यक्' विशेषण का बन्धन लगाकर उस पर औचित्य एवं रस का नियन्त्रण स्वीकार किया है, वहाँ वामन ने उसे स्वतन्त्र मानकर उसके वैशिष्ट्य को ही स्वीकार किया है। वामन के अनुसार पद-रचना का वैशिष्ट्य अपने शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से अभिन्न है, जबकि आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' को रस-रूप सौंदर्य की अभिव्यक्ति करने वाली साधन मात्र माना है—'व्यनक्ति सा रसादीन्।'[4]

पश्चिम में भी 'शैली' को (क्रोचे को छोड़कर) स्वतन्त्र महत्त्व न देकर, उसे

---

१. डॉ० नगेन्द्र (सपा०) . हिन्दी काव्यालकार सूत्र (भूमिका), पृ० १०
२ डा० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (उत्तरार्द्ध), पृ० ७२०
३ वही, पृ० ७४१
४ डॉ० रामसागर त्रिपाठी ध्वन्यालोक (उत्तरार्द्ध), पृ० ७२०

'औचित्य से अनुशासित स्वीकार किया गया है।' अरस्तू ने औचित्य को शैली के एक गुण के रूप मे तथा गरिमा के नियन्त्रक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया है।[1] वाल्टर पेटर ने भी शैली और वस्तु का अनिवार्य सहभाव ही 'साहित्य' माना है और शब्द को वही सिद्ध माना है, जहाँ वह अर्थ के साथ तदाकार हो जाता है।[2]

निष्कर्ष यह कि 'औचित्य', 'रीति' का नियामक तत्त्व है। दोनो भारतीय एव पाश्चात्य दृष्टियो से रीति की स्वतन्त्र सत्ता मानने वाले आचार्य अल्पसख्यक ही है तथा उनका विशेष अनुवर्त्तन भी नही हुआ।

• 'औचित्य' शैली का अग भी है और नियात्मक तत्त्व भी। भारतीय समीक्षा मे 'औचित्य' रीति का सयमन करनेवाला तत्त्व है।

औचित्य और अलकार

भारतीय आचार्यो के अलंकार-सम्बन्धी विवेचन से इतना स्पष्ट होता है कि 'अलकार' के प्रति उनका द्विविध दृष्टिकोण इस प्रकार रहा है—

(१) 'अलकार' काव्य का स्थिर धर्म है। काव्यगत सौदर्य का वह पर्याय है।[3] तथा काव्य मे उसकी आत्म-स्थानीय सत्ता है।[4] 'अलंकार' यहाँ व्यापक अर्थ में गृहीत किया गया है। इस व्यापक सन्दर्भ मे वह 'काव्य-सौदर्य' का ही—चाहे वह वर्ण्य मे हो या वर्णन में—वाचक है।[5]

(२) 'अलकार' काव्य के अस्थिर धर्म हैं।[6] काव्य में उनका स्थान अगदस्थानवत् है[7] तथा वे काव्य की बाह्य शोभा बढाने वाले मात्र है।[8] 'अलकार' का यह अर्थ सकुचित किन्तु अधिकाश आचार्यों द्वारा गृहीत अर्थ है।

इस 'व्यापक' और 'संकीर्ण' अर्थ के बीच 'अलकार' का एक अन्य अर्थ भी कुछ काल तक साहित्य और जीवन के प्रागण मे पल्लवित हुआ जिसके अनुसार 'अलकार' न तो 'काव्यात्मा' ही सिद्ध होता है, न ही कटक-कुण्डलादिवत् शरीर पर अलग से विन्यस्त किए जाने वाले आभूषण मात्र। वहाँ पर वह शरीर अथवा काव्य-शरीर के शोभा-वृद्धि करने वाले सभी सौंदर्यकारी साज-सामान का वाचक हो जाता है, जिसके अन्तर्गत काव्य के प्रसग में भाषा के विभिन्न तत्त्व (रीति गुणादि) समाविष्ट हो जाते है और शरीर के प्रसंग मे आभूषणो के अतिरिक्त अन्य बहुत से प्रसाधन (अलक्तक, वस्त्र-परिधान, केश-विन्यासादि) अन्तर्भुक्त हो जाते है।

---

१ डॉ० नगेन्द्र . हिन्दी काव्यालकार सूत्र, पृ० १०१
२ वही, पृ० १२३
३. सौन्दर्यमलकार, वामन . काव्यालकार सूत्र, १।१।२, पृ० ५
४ जयदेव चन्द्रालोक, पृ० ४ (चौ० सं० सी० १९३८)
५. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (सपा०) . काव्यशास्त्र, पृ० १५७
६. डॉ० सत्यव्रत सिंह (सपा०) · साहित्य दर्पण, पृ० ६६५
७. डॉ० सत्यव्रत सिंह (सपा०) काव्यशास्त्र, पृ० २८५
८ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (सपा०) . काव्यशास्त्र, पृ० ११६

इन तीनों अवस्थाओं में 'अलंकार' को 'औचित्य' का नियन्त्रण स्वीकार करना पड़ता है। यद्यपि काव्य में 'अलंकार' की आत्म-स्थानीय स्थिति आज किंचिन्मात्र भी समादृत नहीं होती तथापि उसे 'सौंदर्य' का पर्याय मान लिये जाने पर भी उसे 'औचित्य' से अनुशासित तो रहना ही पड़ेगा। क्योंकि 'सौंदर्य' की 'वस्तुनिष्ठ' एवं 'विषयिनिष्ठ'—दोनों स्थितियों में किसी-न-किसी रूप में, किसी-न-किसी स्तर पर 'औचित्य' विद्यमान रहता है ही। 'वस्तुनिष्ठ सौंदर्य का एक उपकरण' 'औचित्य' स्वीकार कर लिया गया है।[1] सौन्दर्य की विषयिनिष्ठ स्थिति भी औचित्य का सर्वथा परित्याग कर नहीं चल सकती। अनुचित वस्तु सुन्दर लग ही नहीं सकती।

अंग-रूप में 'अलंकार' की स्थिति तो 'औचित्य' की आधार-शिला पर खड़ी है। अलंकार्य के अभाव में, अलंकार्य के अनौचित्य में—दोनों अवस्थाओं में अलंकार व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। आचार्य अभिनव गुप्त के ये शब्द अत्यन्त महनीय हैं—

"तथाहि—अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यति शरीरं कटकादि युक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यानौचित्यात्। न हि देहस्य किंचित् अनौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालंकार्यः, अहमलंकृत—इत्यभिमानात्।"[2]

अर्थात् कुण्डलादि से अलंकृत शव-शरीर शोभित नहीं होता, क्योंकि वहाँ अलंकार्य का अभाव है। इसी प्रकार यति शरीर पर विन्यस्त अलंकार भी अपनी शोभा खो देते हैं, क्योंकि वहाँ अनुचित अलंकार्य की स्थिति है।

उचित अलंकार्य की स्थिति (प्रसंग में) में भी अलंकारों की यादृच्छिक विन्यस्ति ग्राह्य नहीं होती। भरत एवं क्षेमेन्द्र ने इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। भरत का कथन है कि—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभा जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥[3]

मेखला को हृदय पर धारण करना हास्यास्पद ही है। क्षेमेन्द्र ने कहा है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।[4]
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्?
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नोऽलंकृतिर्नो गुणा॥

साराश यह कि 'उचित स्थान पर विन्यस्त होने पर ही अलंकार अपनी सार्थकता दिखाते हैं।'

---

१ डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त : सौन्दर्य तत्त्व, पृ० ६
२ डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक, पृ० ४१६, प्र० ख० (लोचन टीका)
३ भरत : नाट्यशास्त्र, २३।६९
४ क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा, पृ० ११६

निष्कर्ष यह कि अलकार चाहे 'अगी' हो या 'अग' 'उन्हें औचित्य का अनुशासन स्वीकार करना पडेगा।

(१) अनुचित वस्तु सुन्दर नही हो सकती।
(२) अलंकार्य के अभाव में अलकार की कोई सत्ता नहीं।
(३) अनुचित अलंकार्य के सन्दर्भ मे भी अलकार निरर्थक है।
(४) उचित स्थान पर आयोजित अलंकार ही सार्थक है।

औचित्य-सम्बन्धी कतिपय दृष्टियाँ

औचित्य अंग-संगति के रूप में

काव्य अथवा किसी भी कलाकृति मे अवयवी के अनुरूप अवयवो की योजना के सिद्धान्त को पश्चिम मे अंग-सगति का सिद्धान्त कहा गया है। पूर्व मे नाटक के सन्दर्भ मे यशोवर्मन् ने तथा महाकाव्य के सन्दर्भ मे लोल्लट ने इस पर विचार किया है (यद्यपि इसे उन्होने 'अंग-सगति' ऐसा नाम नही दिया है); पश्चिम मे 'अरस्तू एव होरेस' ने इसका विशेष विचार किया है। यशोवर्मन् द्वारा प्रयुक्त 'सन्निवेशप्राशस्त्यम्' पश्चिमी अग-सगति का ही बोध कराता है। यशोवर्मन् के विचार मे महाकाव्य मे कथा के मुख्य अग के साथ गौण अंगो की संगतिपूर्ण स्थिति, गौण अगों का अनतिविस्तृत एवं यथावश्यक विनिवेश और नाटक मे पात्र का वय, जाति व प्रकृति के अनुरूप वचनादि का व्यवहार, रस की यथावसर पुष्टि, अर्थ एव शब्द की प्रौढ स्थिति एव कथा की अव्यतिक्रामी सस्थिति ही 'सन्निवेश प्राशस्त्यम्' है[1] जो अपनी मूल चेतना मे अग-संगति का अन्तर्भाव कर लेती है। इसी प्रकार लोल्लट के ये विचार[2]—जहाँ वे नाटक एव महाकाव्य में रस के उद्भावक एव पोषक विभिन्न तत्त्वों की परस्पर सुसगति एवं तार्किक-सगति तथा प्रकृति-वर्णन व अलकार-योजना की अवयवी-अनुरूपता का प्रवल शब्दों मे प्रतिपादन करते है—भी अग-सगति मे सर्वाशत: मेल खाते है। परन्तु वस्तुत: अग-संगति के इस विचार का मूल तो अरस्तू का वह विवेचन है, जहाँ वे महाकाव्य एवं त्रासद के विभिन्न अगो की समुचित योजना पर बल देते प्रतीत होते है।[3] होरेस ने तो अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही प्रत्यक्ष विवेचन के रूप में अग-सगति का प्रश्न उठाया है। चित्रकार द्वारा घोडे की गरदन

---

१ औचित्य वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुत संविधानक विधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयो
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैः एतावदेवास्तु नः॥

—डॉ० राघवन, शृंगार प्रकाश, भाग २, पृ० ४११

२ डॉ० गगासागर राय हिन्दी काव्य मीमासा, पृ० ११६ पर उद्धृत लोल्लट के श्लोक—
श्री रसिकलाल परीख. काव्यानुशासन, पृ० ३०७ पर उद्धृत लोल्लट के श्लोक।

3. S. H Butcher · Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts, p 30-39
Every man's Library Aristotle-Poetics, pp 24 and 61-62

पर मनुष्य का सिर, अथवा किसी स्त्री के मुख के अधोभाग मे कुरूप मछली को अकित किए जाने पर कौन अपनी हँसी रोक सकता है ? इसी प्रकार रचना मे असम्भव प्रतीत होने वाली बोझिल अलंकार-योजना तथा रुग्णव्यक्ति के स्वप्न की भाँति बेसिर-पैर की निराधार बाते भी हास्यास्पद सिद्ध होती है ।[1] यहाँ कलाकृति मे अगो की परस्पर अनुकूल अन्विति का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है ।

किन्तु औचित्य और 'अग-संगति' को परस्पर अभिन्न मानना या एक-दूसरे के पर्याय के रूप मे ग्रहण करना समीचीन नही है । औचित्य-सिद्धान्त अग-सगति से भी अधिक व्यापक काव्य-सिद्धान्त है । इन दोनो का भेद स्पष्ट करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी कहते है कि 'औचित्य के समकक्ष पश्चिमी विवेचन मे मुख्यत अग-संगति की वह विचारणा आती है, जिसका प्रथम विन्यास एरिस्टाटिल ने किया था, परन्तु पश्चिमी साहित्य-शास्त्र मे अग-सगति केवल कलापक्ष की वस्तु बनी रही । 'भारतीय औचित्य' मत उससे कही अधिक व्यापक है और काव्य के वस्तु एवं कलापक्ष का अलग-अलग और सम्मिलित रूप में नियमन करता है ।"[2]

अग-संगति का सम्बन्ध केवल नाट्य-कृतियों एव प्रबन्ध-काव्यो तक सीमित है । जबकि औचित्य काव्य के सभी अगो तक व्याप्त है । औचित्य की व्यापकता पर आचार्य वाजपेयी जी का निम्न कथन द्रष्टव्य है—" यद्यपि अग-सगति के भीतर पश्चिमी विचारको ने प्राय प्रबन्ध-काव्यो और नाट्य-कृतियो के अंग-संगठन को ही अधिकतर विवेचन का विषय बनाया है, जबकि औचित्य मत की सीमा में भाषा-योजना, छद-योजना, अलकार-योजना जैसे व्यापक तत्त्वो को ग्रहण किया गया है । इस प्रकार एक मत के रूप मे औचित्य का क्षेत्र अधिक स्पष्ट है और व्यापक है ।"[3]

साराश यह कि 'अंग-सगति' की अपेक्षा 'औचित्य की प्रसक्ति' अधिक व्यापकतर है । औचित्य जहाँ काव्य के सर्वांग से सम्बद्ध होकर उसका अन्तर्बाह्य संयमन करता है, अग-सगति केवल अगी और अग की अन्विति तक सीमित है । आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र जी भी औचित्य की प्रसक्ति व्यापक मानकर उसे 'अंग-संगति' से व्यापक स्वीकार करते है ।[4]

औचित्य में अग-संगति का अन्तर्भाव हो सकता है । अग-सगति मे औचित्य का अन्तर्भाव नही हो सकता । बल्कि औचित्य अंग-सगति का भी नियन्त्रण करनेवाला तत्त्व है । कलाकृति अथवा काव्य मे अंगी-अंग की या विभिन्न अवयवो की अन्विति भी औचित्य के सूत्र से शासित व सग्रथित रहती है । दो तत्त्वों या पदार्थो मे परस्पर अन्विति तभी सभँव है, जब ये परस्पर अनुकूल, औचित्यपूर्ण रीति से सम्बद्ध हो । अग-सगति एक स्थिति

1. Allen Gilbert : Literary Criticism Plato to Dryden, p. 128
२ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी . औचित्य विमर्श, भूमिका, पृ० ३ (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी)
३ वही, पृ० ४ (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी)
४ देखिए—परिशिष्ट ।

विशेष है जिसमें औचित्य मूल कारण (रहस्य) के रूप मे प्रतिष्ठित रहता है, जिसके अभाव मे पदार्थो या तत्त्वो की सुशृंखलित स्थिति असभव-सी है।

औचित्य : काव्यीय आचार-संहिता के रूप में

'औचित्य' एक काव्यीय आचार-संहिता के रूप मे भी सोचा-विचारा गया है। जिस प्रकार विभिन्न शास्त्रो, विषयो एव जीवन के कर्म-क्षेत्रों मे अपने-अपने विधि-निषेधो की एक सहिता होती है, जो प्राय तद्-तद् विषय व जीवन-क्षेत्रो मे सम्बद्ध करणीय और अकरणीय कार्य-व्यापारों का मार्ग-निर्देश करती है, उसी प्रकार काव्य की भी एक आचार-सहिता का होना आवश्यक है। 'औचित्य' ही वह आचार-सहिता है। चिकित्सा, न्याय, शासन, धर्म, कर्म-काण्डादि विषयो मे उनके प्रतिष्ठापक आचार्यो व कवियो द्वारा निषिद्ध एव वैध विधानो का स्पष्ट आदेश होता है। काव्य के क्षेत्र मे रस को केन्द्र मे रखकर वर्ण-प्रयोग, शब्द-प्रयोग, गुण-प्रयोग, अलकार-प्रयोग, रीति-प्रयोग, वृत्ति-प्रयोग, छन्द-प्रयोग आदि के विषय मे किये गए स्पष्ट विधि-निषेधो का ही रूप 'औचित्य' है। किस रस मे कौन-सी वर्ण-योजना उपकारक है तथा कौन-सी वर्ण-योजना अपकारक है, कौन-सा गुण-सौदर्य-वर्द्धक तथा कौन-सा अपकर्षक है; तथा कौन-सा छद चमत्कार-निष्पादक है और कौन-सा चमत्कार-आघातक, आदि का निर्णायक एव निर्देशक तत्त्व औचित्य है। इस दृष्टि मे विचार करने पर औचित्य कवि की सृजन-प्रक्रिया से प्रत्यक्षत अधिक सम्बद्ध है और भावक अथवा समीक्षक के व्यापार मे कम। समीक्षक भी जब इस पर इस दृष्टि से विचार करता है, तब मूलत वह कवि की सफलता-विफलता को ध्यान मे रखकर ही अग्रसर होता है। भावक की दृष्टि से विचार करने पर सौदर्यानुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति के प्रसंग मे 'औचित्य' एक महत्त्वपूर्ण निर्णायक व सहायक तत्त्व ही सिद्ध होता है।

समीक्षक जब काव्य-समीक्षा करने को समुद्यत होता है, तब औचित्य उसका पथ-निर्देश करता है। वह केवल इतना निर्णय करना चाहता है कि आलोच्यकृति मे सभी अगो की उचित योजना हो पायी है या नही। गुण, अलकार, रीति आदि रस के अनुरूप है या नही। रस स्वय भी अन्य उपकरणों के सन्दर्भ मे सुनियोजित है या नही। कवि, भावक एव समीक्षक तीनो के विचार से 'औचित्य' एक आचार-सहिता के रूप मे ग्राह्य होता है।

औचित्य के प्रति यह भी एक दृष्टि हो सकती है।

औचित्य रस-सिद्धान्त की नैतिक व्याख्या के रूप में

काव्य तत्त्वत व्यक्ति से और परिणामत समाज मे अभिन्न रूप से सम्बद्ध है। व्यक्ति और समाज का नैतिक जीवन भावात्मक सामरस्य एव संतुलन की शक्ति पर आधारित है। अतः इस दृष्टि से काव्य का एक प्रयोजन व्यक्ति के लिए भावात्मक संतुलन व सहज स्वास्थ्य जुटाना भी है। आज के इस यान्त्रिक युग में—जहाँ व्यक्ति का जीवन

चतुर्दिक् विघ्न-संकुल परिस्थितियों में फँसा पड़ा है, व्यक्ति की चेतना कुंठित, दुर्बल व उलझी हुई बनती जा रही है—काव्य का यह दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। व्यक्ति की यह स्थिति उसके एवं समाज के लिए घातक सिद्ध होती है। इसलिए सामाजिक स्वास्थ्य व व्यक्ति के भावात्मक संतुलन की रक्षा के लिए काव्य का नैतिक आधार पर संयमन-नियन्त्रण आवश्यक प्रतीत होता है। प्राचीन व नवीन, पूर्वी एवं पश्चिमी काव्याचार्यों एवं सौंदर्यशास्त्रियों ने इसकी आवश्यकता को ठीक-ठीक समझा था। इसीलिए प्राचीनों ने रसादि के औचित्य-अनौचित्य का (काव्य एवं नाटक में) विश्लेषण करते हुए अनौचित्य का निषेध व औचित्य का सन्निवेश आदिष्ट किया[1] तथा विविध भावाभासों व रसाभासों की स्थिति पर विचार किया तो नवीन सौंदर्यशास्त्रियों ने नैतिकता की आधार-शिला पर औचित्य को कसौटी के रूप में स्वीकार करते हुए सामाजिक परिणाम के विचार में अनुचित प्रतीत होने वाले रचनाओं (काव्य-नाटक-कला इत्यादि के) के क्रय-विक्रय, प्रदर्शन, प्रकाशन आदि का प्रतिबन्ध स्वीकार किया है।[2]

भारतीय काव्य-शास्त्र में भरत से लेकर अद्यावधि आचार्यों की रसाभास—भावाभास-विषयक विवेचना के मूल में यही नैतिक दृष्टि आधार रूप में क्रियाशील है। इस प्रसंग में आचार्यों ने द्विविध कार्य करने का निर्देश किया है—(१) अनौचित्य परिहार, (२) औचित्य सन्निवेश। काव्य में रस एवं रसेतर तत्त्वों के विषय में जितना 'दोष-विचार' हुआ है वह प्रथम अर्थात् अनौचित्य-परिहार की प्रवृत्ति का प्रतिफलन है। औचित्य-सन्निवेश के प्रयत्न के फलस्वरूप समग्र काव्य-गुणों व उनके विकास की तथा काव्य के प्रत्यंग में औचित्य-विनिवेश की दृष्टि विकसित हुई। डॉ० तारकनाथ बाली ने विभिन्न रसाभासों एवं भावाभासों का विवेचन करते हुए नैतिकता और मनोविज्ञान को आधार मानकर उनकी काव्यशास्त्रीय स्वीकृति-अस्वीकृति पर विचार किया है। शृंगारादि रसों में आश्रय के अनौचित्य से अथवा भाव, विभाव, संचारी भावों के अनुचित निबन्धन के कारण रसाभास उत्पन्न हो जाता है।

शृंगार के प्रसंग में विवाहिता की पर-पुरुष-विषयक रति, बहुपति-विषयक-रति, नैतिक आधारों पर अनुचित सिद्ध हो जाती है, तो एकांगी-रति अथवा निष्प्राण वस्तु के प्रति रति मनोविज्ञान के आधार पर अनुचित प्रतीत होती है।[3] इसी प्रकार सभी रसों के रसाभासों की स्थिति माननी चाहिए। भावों के आलम्बन अथवा विषय के अनौचित्य के कारण भावाभासों की स्थिति होती है। उनके औचित्य व अनौचित्य विवेचन का सार-संग्रह इस प्रकार है—

• विभावादि के अनौचित्य के कारण रसानुभूति खण्डित हो जाती है। अनौचित्य ही रसभंग का एकमात्र कारण है। रस का परम रहस्य औचित्य है। क्षेमेन्द्र के अनु-

---

१ डॉ० सत्यव्रत सिंह · साहित्य-दर्पण, पृ० २७२-२७३ (रसाभास-सबंधी-विवेचन)
2. Breadsley : Aesthetics, p. 577
३. डॉ० तारकनाथ बाली : रस सिद्धांत की दार्शनिक व नैतिक व्याख्या, पृ० १८६-८७

सार औचित्य ही काव्य का 'स्थिर जीवन' है। प्राय रस को काव्य की आत्मा माना जाता है किन्तु रस-सृष्टि में कवि को औचित्य का ध्यान रखना ही पड़ता है। काव्य और जीवन दोनों की सुरम्यता के लिए औचित्य एक आवश्यक सिद्धान्त है। काव्य में रस के महत्त्व को औचित्य सिद्धान्त डिगा नहीं सकता, किन्तु इससे औचित्य की महत्ता की हानि नहीं होती। औचित्य के दो आधारों – लोक एवं शास्त्र में से पंडितराज जगन्नाथ ने शास्त्र की अवहेलना न करते हुए लोक का आधार ग्रहण करने का समर्थन किया है।[1]

- नैतिकता को औचित्य का एक अनिवार्य धरातल मानते हुए वे विषय की किसी भी प्रकार की अनैतिकता को काव्य में अनिर्वाह्य मानते हैं। विषय यदि अनैतिक है तो रस-निष्पत्ति हो ही नहीं सकती। विषय का अनौचित्य रस का घातक है। रस नैतिकता की दृढ़ आधार-शिला पर प्रतिष्ठित है, अत उसे औचित्य का बन्धन लगा हुआ है। विषय की अनैतिकता रस की सम्यक् अनुभूति में बाधक होगी। रस-सिद्धान्त में रस की कल्पना में आनन्द और औचित्य की कल्पना में नैतिकता की स्वीकृति आ ही जाती है।[2] रस और औचित्य, आनन्द और नैतिकता दोनों अन्योन्याश्रित हैं। दोनों अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। अनैतिक वस्तु आनन्दप्रद हो ही नहीं सकती, इसी प्रकार अनुचित वस्तु रसप्रद नहीं हो सकती।

'औचित्य' की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र ने आत्म-तत्त्व 'रस' को मान्य नैतिक धारणाओं में संयमित व अनुशासित मान लिया है।[3]

इस दृष्टि से औचित्य को 'रस-सिद्धान्त' की नैतिक व्याख्या के रूप में स्वीकार करना ही समीचीन है।

औचित्य : स्वरूप-जिज्ञासा व समाधान

औचित्य का आधार : लोक या शास्त्र ?

औचित्य मूलत लोकाश्रित है या शास्त्राश्रित—इस प्रश्न पर विद्वानों में पर्याप्त चर्चा है। प्राय सभी आचार्य उसे लोक-व्यवहारनिष्ठ मानते हैं। आचार्य भरत ने नाट्य को लोकधर्मी माना है और वे लोक-व्यवहार की रक्षा को ही औचित्य तथा लोक-व्यवहार के अतिक्रमण को ही अनौचित्य मानते हैं। नाट्य सदैव रसलक्षी होता है। रस का रहस्य है 'औचित्य' और औचित्य लोक-व्यवहार से अनुशासित रहता है। पंडितराज जगन्नाथ ने विभावों के अनौचित्य का कारण लोक-व्यवहार-विरुद्धता माना है और उनके द्वारा प्रयुक्त 'योग्यता' शब्द वस्तुत औचित्य का पर्याय है। 'योग्यता' का अर्थ स्पष्ट हुए करते वे कहते हैं कि—

---

१ डॉ० तारकनाथ बाली : रस सिद्धान्त की दार्शनिक व नैतिक व्याख्या, पृ० १६०-१९०

२ वही, पृ० २१२

३ वही, पृ० २१३

'योग्यता च युक्तमिदमिति लौकिक व्यवहार गोचरता—'[1] अर्थात् लौकिक व्यवहार में योग्य-अयोग्य का विवेक ही योग्यता (औचित्य) है। लोक जिसे युक्त कहे वही योग्य या उचित है। इसी का कुछ विस्तार करते हुए डॉ० तारकनाथ बाली कहते हैं—

'रस-गंगाधरकार ने विभाव के अनौचित्य के ज्ञान के लिए लोक को ही प्रमाण माना है।'[2] इस प्रकार औचित्य के दो आधार सिद्ध हुए—प्रथम लोक और दूसरा शास्त्र। आचार्य आनन्दवर्द्धन औचित्य के इन दो आधारों में शास्त्र को प्रधानता देते प्रतीत होते हैं—

'कवि को चाहिए कि वह भरतादि के शास्त्र का अनुसरण, प्रसिद्ध काव्यों का पर्यालोचन तथा अपनी प्रतिभा का अनुगमन करता हुआ, अपने काव्य की रचना में अनौचित्य का बहिष्कार करे।''[3]

आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रयुक्त शब्दावली 'भरतादि के शास्त्र का अनुसरण' वस्तुत लोक-व्यवहार का अनुसरण ही है। औचित्य को केवल लोक-व्यवहार-निष्ठ मानना भी दृष्टि का एकांगीपन है। इस विषय में डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी के विचारों का सार-संग्रह इस प्रकार है—

''जहाँ तक औचित्य के स्रोत का सम्बन्ध है—कुछ लोग केवल 'लोक' को ही प्रमाण मानते हैं। निश्चय ही लोक को औचित्य का निकष मानना चाहिए— इसमें दो मत नहीं हो सकते, परन्तु लोक-परम्परा समर्थित कतिपय काव्य-सामग्री के अतिरिक्त काव्य-संसार की कुछ चीजें ऐसी भी हैं जो शास्त्र-परम्परा अथवा काव्य-परम्परा का आनुकूल्य भी चाहती हैं। काव्य एवं शास्त्र के अनुशीलन से भी एक ऐसा संसार उत्पन्न होता है—जिसके अनुरूप सहृदय लोग काव्यगत सामग्री एवं संविधान में औचित्य एवं अनौचित्य का विचार करते हैं। व्यावहारिक जगत् से काव्य-जगत् का कुछ व्यतिरेक अवश्य होता है और इस व्यतिरिक्तांश में औचित्य का नियामक काव्य एवं काव्य-शास्त्र की परम्परा को भी स्वीकार करना चाहिए।''[4]

इस प्रकार डॉ० त्रिपाठी लोक-व्यवहार के अतिरिक्त काव्यशास्त्र को भी औचित्य के स्रोत के रूप में ग्रहण करते प्रतीत होते हैं, परन्तु काव्यशास्त्र में औचित्य का मूल खोजना अथवा उसे औचित्य का मूल आधार मानना भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। मूलतः औचित्य मानव-व्यवहार की अच्छाई और बुराई का निर्णय करने वाला तत्त्व है। मनुष्य के व्यवहार की अच्छाई-बुराई का विचार करना 'नीतिशास्त्र' का काम है। भारतीय संस्कृति में इस विवेक की व्यवस्था धर्मशास्त्र में प्रतिपादित व

---

१. पं० बदरीनाथ झा और पं० मदनमोहन झा रस गंगाधर, तृतीय भाग, पृ० ४७६
२ डॉ० तारकनाथ बाली : रस सिद्धांत की दार्शनिक व नैतिक व्याख्या, पृ० १६१-१६२
३. डॉ० रामसागर त्रिपाठी ध्वन्यालोक, द्वितीय खण्ड, पृ० ७६०
४ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी . औचित्य विमर्श, पृ० ७

समर्थित है। अतः नीतिशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र को औचित्य का मूल स्रोत मानना निरापद स्थिति है। औचित्य मूलतः लोक-व्यवहार पर आधृत है और लोक-व्यवहार का विशेष विचार धर्मशास्त्र या लोक-धर्मशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र के ही अतर्गत किया जाता रहा है। औचित्य को यदि शास्त्रनिष्ठ माना जाय, तब तो उसे धर्मशास्त्र किंवा नीतिशास्त्र पर अधिष्ठित मानना चाहिए।

'औचित्य लोकाश्रित है और शास्त्राश्रित भी।' प्रधानता लोक की ही विशेष है।

औचित्य : अतरग या बहिरंग

औचित्य के दो पक्ष—कलापक्ष एव भावपक्ष माने जाते हैं। भावपक्ष औचित्य का अंतरग और कलापक्ष औचित्य का बहिरग है। अपने बहिरग मे औचित्य वर्ण-योग मे अलकार-योग तक की समस्त योजना से सम्बद्ध है। भाषा, छद, अलकार, गुण, रीति, वृत्ति आदि अभिव्यक्ति के समस्त अंग-उपाग औचित्य के इस पहलू मे समाविष्ट हो जाते है। यही नही, इन अगोपांगों की अगी के अनुरूप अवस्थिति तथा इनकी परस्पर सुसंगत स्थिति भी इसके अतर्गत विचाराधीन हो जाती है। इन सभी काव्यागो का अगी (रस) मे उचित संश्लेष ही काम्य है। औचित्य के अतरग पहलू के अतर्गत भावपक्ष की सम्पूर्ण सामग्री सहज ही समाविष्ट हो जाती है। यहाँ इस बात पर विचार किया जाता है कि वर्ण्य-विषय स्वय उचित है या नही। इसके भीतर विभाव, अनुभाव, सचारियो का औचित्य एवं भावौचित्य का विमर्श किया जाता है। औचित्य का यह अतरंग पक्ष वस्तुतः सामाजिकता के विचार पर आधृत है अथवा यो कहिए कि रसचक्र की सामाजिक व नैतिक व्याख्या से सम्बद्ध है। कला-पक्ष अथवा बहिरंग मे सम्बद्ध औचित्य तो काव्य या किसी कलाकृति के विभिन्न अगो की समानुपातिक एव सौदर्याधायक योजना तक ही सीमित है। औचित्य का महत्त्वपूर्ण अंग तो उसका वह अतरग-पक्ष है, जहाँ वस्तु (काव्यार्थ) के औचित्य-अनौचित्य का विचार किया जाता है। स्वय गृहीत वस्तु, भाव, विचार या वर्ण्य निर्दोष तो है, रसोत्पत्ति—रसानुभूति का सहायक तो है? इस पर विचार करना यहाँ उसका प्रमुख प्रतिपाद्य है। काव्यशास्त्र मे जहाँ कहीं विभावादि के अनौचित्य पर विचार हुआ है, वह सारा विवेचन इसका अग है। अनुचित विभावो की योजना नैतिक, सामाजिक या मनोवैज्ञानिक आधारो पर रस-विरोधी ही नहीं बडी घातक समझी गई है। साहित्यदर्पणकार ने तृतीय परिच्छेद के अन्तिम श्लोकों मे भावाभास एव रसाभासो का संकेत करते हुए लिखा है कि—उपनायक संस्थित रतिभाव, गुरुपत्नी अथवा मुनिपत्नी-विषयक रतिभाव, बहुनायक-विषयक रतिभाव, एकागी रतिभाव, नायिका की प्रतिनायक मे रति, अधम-प्रकृति के जनो मे रति, पशु-पक्षी मे निष्ठ रति आदि मे शृगार-रस-विषयक अनौचित्य होने मे शृगार रसाभास होता है।[1] इसी प्रकार अन्य रसो मे भी अनौचित्य का विमर्श कर लिया जाता है। आलंबन का अनौचित्य, उद्दीपन का अनौचित्य, आश्रय का अनौचित्य

1 डॉ० सत्यव्रत सिंह : साहित्यदर्पण, पृ० २७३

आदि ही इन रसाभासों के जनक-कारण हैं। औचित्य-अनौचित्य के इस आतरिक पहलू पर ठेठ भरत से लेकर पंडित जगन्नाथ तक ने विचार किया है। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने भी रस-मीमासा में इसका स्पर्श किया है।[1]

औचित्य : कलागत या सामाजिक

ऊपर के विवेचन को ही कुछ विद्वान् इन दो शीर्षक-स्तम्भो के अतर्गत विवेचित करते हैं। पूर्व एव पश्चिम के आधुनिक विद्वान् औचित्य के अतरग एवं बहिरग पक्षो का क्रमश 'सामाजिक' और 'कलागत' शीर्षको के अतर्गत अन्तर्भाव करते प्रतीत होते है। विषमता से समता स्थापित करना तथा व्यवस्था का संनिवेश करना कला का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। इसलिए औचित्य के कलात्मक अश मे विभिन्न तत्त्वो की व्यवस्था एवं परस्पर अनुकूलतापूर्ण संस्थिति का ही विशेष महत्त्व है, उसी पर विशेष बल दिया जाता है। औचित्य का सामाजिक रूप भाव की ग्रहणशीलता तथा अग्रहण-शीलता से सम्बद्ध है। भरतादि द्वारा विवेचित प्रकृति-औचित्य, आनदवर्द्धन द्वारा निरूपित 'काले च ग्रहणत्यागौ' का सिद्धान्त, अभिनव गुप्त द्वारा विमर्शित देशकाल-पात्रादि के अनुरूप समाज की धारणा के अनुरूप आचार का सन्निवेश मूलत इसके अतर्गत अवस्थित है।

भाव की शुद्धि या काव्यीय ग्राह्य-अग्राह्य का विवेक यदि सामाजिक औचित्य का विषय है तो भाव की आनन्दपूर्ण, प्रनीतिकर, सुसंगत एवं सुन्दर तथा व्यवस्थित अन्विति कलागत औचित्य का विषय है। बेडौल, अव्यवस्थित एवं अनन्वित चित्र मे सौंदर्य की अवस्थिति हो ही नही सकती। व्यवस्था के अभाव मे कृति मे सौंदर्य का अधिवान कल्पित किया ही नही जा सकता।

औचित्य : सापेक्ष या निरपेक्ष

प्रायः 'औचित्य' को एक सापेक्ष पदावली के रूप मे ग्रहण किया जाता है। ऐसा कहने से यदि उसकी अन्य-निरपेक्ष व स्वतन्त्र सत्ता निषिद्ध हो जाती हो तो वह समीचीन नही होगा। यह सत्य है कि जीवन मे, अत साहित्य मे भी औचित्य की धारणा नित्य परिवर्तनशील व गतिशील होती रहती है, यह भी सत्य है कि औचित्य दो तत्त्वों के बीच एक अनुकूल सम्बन्ध विशेष भी है; इसलिए वह अंगांगी की पूर्व-कल्पना कर लेता है और स्वतन्त्र रूप से किसी प्रकार क्रियाशील नही हो पाता तथा इन दो तत्त्वों (अगी-अग) के अभाव से अपना समस्त महत्त्व खो देता है, परन्तु साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि औचित्य के अभाव में काव्यार्थ (वस्तु-रसादि) एव काव्याग (गुणालंकारादि) भी अल्पजीवी, महत्त्वहीन और श्रीहीन हो जाते है। औचित्य केवल दृष्टिकोण ही नही, अगागी की अनुकूलता-मात्र ही नही है, वरन् वह तो सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि है। उसकी सत्ता केवल सापेक्षिक ही नहीं, निरपेक्ष भी है।

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल . रस मीमासा, पृ० २४८-२५६

निरपेक्ष दृष्टि से औचित्य में स्वयं देशकालादि से परे कुछ स्थिर तत्त्व विद्यमान रहते हैं, जिनके कारण वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। औचित्य का स्वरूप या रूपाकृति परिवर्तनशील हो सकती है; उसकी विभावना (Concept) अपरिवर्तनशील या अधिक स्थिर है। यही औचित्य (अपने निरपेक्ष रूप में) कला एवं काव्य-जगत् में वैचित्र्यों व समसामयिक देशकालादि को उचित मात्रा में स्वायत्तता देते हुए भी उनका अनुशासन करता है। यदि सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता स्वीकार्य है तो उसके कुछ ऐसे सौंदर्यांशों की भी स्थिति स्वीकार करनी पड़ेगी, जो बाह्य प्रभावों से अपरिवर्तित ही बने रहते हैं। ये सौंदर्यांश ही सौंदर्य की निरपेक्ष सत्ता का उद्घोष करते हैं। चित्रकार अपने रुचि-वैचित्र्य के आधार पर किसी स्त्री के चित्र में उसके विभिन्न अंगों की योजना में उनकी दीर्घता-स्फीतता आदि का अंकन करने में एक सीमा तक स्वतंत्र है। वह चाहे तो नेत्रों को 'काननचारी मृग' बना ले, किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती परन्तु—जैसा कि होरेस ने अपनी रचना 'आर्स पोएतिका' के प्रारम्भ में ही लिखा है—यदि वह स्त्री के सिर के अधोभाग में कुरूप मछली का धड़ जोड़ दे तो कौन दर्शक अपनी हँसी रोक पाएगा? कण्ठ में मेखला धारण करने वाला और कमर में हारादि बाँधने वाला सब देशों में सब कालों में हास्यास्पद ही होगा। औचित्य की इसी मूल धारणा में उसके निरपेक्ष अस्तित्व का अधिवास है।

काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में औचित्य के इन दो रूपों—सापेक्ष व निरपेक्ष—में से विशेष-नित्य-प्रति व्यवहृत रूप तो सापेक्ष रूप ही है। औचित्य की निरपेक्ष व कालजयी सत्ता को स्वीकार करते हुए भी साहित्यशास्त्र में तो उसके सापेक्ष रूप का ही अधिक उपयोग है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने भी साहित्यशास्त्र में तो औचित्य की सापेक्ष सत्ता स्वीकार करने का समर्थन किया है।[1] आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय जी भी औचित्य की सापेक्षता का विमर्श करते पर भी उसकी निरपेक्ष सत्ता प्रतिपादित करते हुए प्रतीत होते हैं।[2]

निष्कर्षतः यह कहना ही अधिक निरापद होगा कि औचित्य की विभावना या धारणा निरपेक्ष हो सकती है, उसकी मूलभूत (Basic) स्थिति निरपेक्ष हो सकती है। उसका निरपेक्ष अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु काव्य एवं कला की समीक्षा के सन्दर्भ में जब वह एक आधार या मानक बनकर उपस्थित होता है तब उसकी सापेक्षता उससे सहज ही संश्लिष्ट हो जाती है। साहित्य-शास्त्र में अथवा विभिन्न कलाओं की मीमांसा के अवसर पर उसका सापेक्ष रूप ही विशेष उपादेय सिद्ध होता है।

औचित्य : वस्तुगत या विषयिगत

'सौंदर्य' की भाँति 'औचित्य' के विषय में भी एक सहज प्रश्न उपस्थित होता

१ देखिए—परिशिष्ट में आचार्यजी का पत्र।

२ डा० राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य विमर्श, पृ० १५६-५७ पर उद्धृत अभिमत।

है कि औचित्य की वास्तविक अवस्थिति कहाँ है ? विषय में या विषयि में ? अर्थात् औचित्य द्रष्टा में है या द्रष्टव्य में ? प्राय: औचित्य की स्थिति विषयिगत ही अधिक मानी गयी है। डॉ० नगेन्द्र ने व्यक्तिनिष्ठ विवेक को औचित्य का आधार माना है।[1] इस दृष्टि से वे औचित्य को वस्तुवादी सिद्धान्त न मानकर विषयिनिष्ठ सिद्धान्त अधिक मानते प्रतीत होते हैं। यह विचार बहुधा सर्वग्राह्य, प्रसिद्ध एवं मान्य-सा हो गया है कि औचित्य की स्थिति समीक्षक की अपनी दृष्टि में ही है। औचित्य मूलत विषयि-गत होते हुए भी उसकी विषयगत सत्ता सर्वथा निराकृत नहीं की जा सकती। यदि वर्ण्य-विषय ही मूल रूप में अनुचित हो तो वह रसास्वाद-क्षम नहीं बन सकता। मधुर आकृतियों के स्वतन्त्र व अन्य निरपेक्ष सौंदर्य का प्रतिपादन कर कालिदास ने सौंदर्य की वस्तुगत स्थिति सिद्ध कर दी है और यह भी प्रतिपादित कर दिया है कि सहज-सौंदर्य में अन्वित पदार्थ प्राय सभी को सुन्दर ही लगते हैं। उसी प्रकार औचित्य की भी वस्तु-गत स्थिति सिद्ध की जा सकती है। डॉ० तारकनाथ बाली ने नैतिक आधारों पर विषय के औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार करते हुए यह विमर्श किया है कि सामग्री अर्थात् विभावादि (वस्तु) के अनौचित्य के कारण रसास्वाद खण्डित होता है और परिणामत: रसाभासों की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि विषय-वस्तु के औचित्य-अनौचित्य का भी अपना स्वतन्त्र (अलग) अस्तित्व है। आस्वाद का स्वरूप व परिणाम न तो एकान्तत आस्वाद्यनिरत है न आस्वादकनिरत ही। आस्वाद्य का भी अपना विशेष महत्त्व है। वस्तु की उपेक्षा करना सम्भव ही नहीं है। सहृदयगत लोक-वृत्ति अर्थात् सामाजिकता का प्रतिमान स्वीकार करते हुए डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने रस, ध्वनि एवं वक्रोक्तिवादियों को औचित्य के विषयगत स्वरूप का व्यवस्थित एवं विस्तृत विमर्श करनेवालों के रूप में अभिशंसित किया है।[3]

निष्कर्ष रूप में यह कहना ही प्राप्त होता है कि औचित्य को सर्वथा 'विषयि किंवा सर्वथा विषयगत मानना नितान्त अदूरदर्शी होना है।' उसका मूलाधार वस्तु या विषय है और उसकी लीला का प्रसार विषयि-द्रष्टा की अन्तर्दृष्टि तक व्याप्त है।

औचित्य : स्थिर या गतिशील

औचित्य की स्थिरता अथवा गतिशीलता का निर्णय स्थिर एवं 'गतिशील' विशेषणों की अवधारणा के विमर्श व तज्जन्य परिणाम पर आधृत है। 'स्थिर' और गतिशील' शब्द सापेक्ष है। 'स्थिर' यदि 'अटल', 'अपरिवर्तनशील', 'जड', 'निरपवाद' आदि का बोध कराता हो तो औचित्य अपने को उस विशेषण से संयुक्त करना नहीं चाहेगा। इसी प्रकार 'गतिशील' में केवल सामयिक-स्थिति के अनुरूप होने का अथवा स्वरूप के ढीलेपन या निश्चित रूपाकृतिहीनता का ही बोध होता हो तो भी औचित्य

१- डॉ० नगेन्द्र . हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० २१३

२. डॉ० तारकनाथ बाली . रस-सिद्धांत की दार्शनिक व नैतिक व्याख्या, पृ० १८५-१८७

३. डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ' औचित्य-विमर्श, पृ० ८६-८७

गतिशील कहलाना पसन्द नहीं करेगा। औचित्य को स्थिर कहकर हम उसे सुनिश्चित सामाजिक नैतिक आधारों पर स्थित एक काव्य-सिद्धान्त मानते हैं। औचित्य न तो निराधार है न कोई 'Vague Term' ही। औचित्य को गतिशील कहकर हम उसे युगानुरूप परिवर्तन-क्षम एवं निरन्तर विकसनशील काव्यादर्श मानते हैं। सामाजिक-नैतिकता व लोक-व्यवहार के धरातल पर आधृत होने के कारण ही औचित्य की परिवर्तनशीलता स्वतःसिद्ध है, क्योंकि लोक-व्यवहार एवं सामाजिक नैतिकता की धारणाएँ समय के साथ बदलती रहती हैं। मध्ययुग की नैतिकता या लोक-व्यवहारानुकूलता आज की नहीं हो सकती। उस युग में जो कुछ स्वीकार्य एवं 'उचित' समझा गया हो वह सब आज के युग में अनिवार्यतः स्वीकृत या उचित हो ही ऐसा सम्भव नहीं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का इस विषय में यह कथन द्रष्टव्य है—"नैतिकता और सामाजिक व्यवहार की कोई स्थिर व अटल रूपरेखा नहीं है, वे एक गतिशील पदार्थ हैं अतएव औचित्य की धारणा भी गतिशील है और विभिन्न युगों में बदलती रहती है। इस दृष्टि से औचित्य का कोई एक प्रतिमान स्वीकार नहीं किया जा सकता।"[१]

डॉ० तारकनाथ बाली भी 'औचित्य' को लोक-प्रवृत्ति के साथ परिवर्तनशील अतः विकसनशील मानते प्रतीत होते हैं।[२] औचित्य 'स्थिर' भी है और 'गतिशील' भी। अपनी सामाजिकता व अनुगुणता के कारण वह अधिक दीर्घजीवी एवं जन-जीवन से प्रगाढ़ रूप से संश्लिष्ट है। स्थिरता व गतिशीलता के पलड़ों में गतिशीलता का पलड़ा किंचित् भारी ही पड़ेगा। उसे केवल स्थिर अथवा केवल गतिशील मानना उसके यथार्थ स्वरूप को ठीक-ठीक न समझने के समान होगा।

औचित्य और आधुनिकता

बदलता हुआ युग अपनी आवश्यकतानुसार नये समीक्षादर्श निर्मित कर लेता है और पुराने काव्यादर्शों का पुनराख्यान कर उन्हें अपने अनुरूप ढाल लेता है। युग की इसी आवश्यकता ने 'रस-सिद्धान्त' के पर्याप्त प्रतिष्ठित हो चुकने पर भी 'ध्वनि-सिद्धान्त' को जन्म दिया और रसान्विति का मुक्तकों तक प्रसार कर दिया। इसी आवश्यकता ने नवयुग में 'रस-सिद्धान्त' का पुनराख्यान करवाया और 'रस' के पूर्ण परिकर की अनुपस्थिति में भी आस्वाद की स्थिति स्वीकार करवाई तथा प्रत्येक सृजनात्मक (समीक्षात्मक भी) कृति में भी 'रस' की परिकल्पना कर ली। इतना ही नहीं अनात्मवादियों के परितोष के लिए 'रस' को एक नवीन सत्ता—'आनन्दमयी चेतना'—से विभूषित भी कर दिया। वही काव्य-सिद्धान्त समादृत व ग्राह्य बना रह सकता है, जो अपने को युग की आवश्यकता के अनुरूप ढाल सकता है, जीवन को उसकी परिपूर्णता व गहनता के साथ ग्रहण कर अग्रसर होता है। वही सजीव एवं स्फूर्तिवान्, ताजा एवं गतिशील बना रहता है जो सामाजिकता से अभिन्नतम रूप से सम्बद्ध हो।

१ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य विमर्श (भूमिका), पृ० ३
२ डॉ० तारकनाथ बाली : रस-सिद्धांत की दार्शनिक व नैतिक व्याख्या पृ० १६५

इस दृष्टि से विचार करने पर विभिन्न काव्य-सिद्धान्तों में 'औचित्य-सिद्धान्त विशेषत आधुनिक समय में अधिक ग्राह्य, समादृत एवं चैतन्ययुक्त काव्य-सिद्धान्त है। अपनी व्यावहारिकता, लचीलापन व युगानुरूपता के कारण वह 'अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा' विशेष समाज-निबद्ध है। आज का सर्जक, समीक्षक एव भावक जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखने, परखने व प्रस्तुत करने का अभिलाषी है। अत वह काव्य एव काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में जीवन को पूर्णता के परिवेश में ग्रहण करने का आग्रही है। उसकी इस अभिलाषा की पूर्ति में औचित्य-सिद्धान्त का योगदान सम्भवत. सर्वाधिक है। श्री० शंकरदत्त ओझा की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है -

"आज के व्यावहारिक युग में क्षेमेन्द्र के सिद्धान्त का समादर हम देख रहे हैं। वर्तमान साहित्य की गतिविधि औचित्य-सिद्धान्त पर ही आधारित देखी जा सकती है। अलकार, रीति, गुण एवं रस को वर्तमान साहित्य में सम्भवत इतना आदर एव स्थान नहीं मिल रहा है, जितना 'औचित्य की भावना' को। सामंजस्य और समरसता का नाम ही 'औचित्य' है और 'यही वर्तमान साहित्य का प्रधान लक्ष्य है'।"[1]

'औचित्य-सिद्धान्त' का अनुवर्त्तन क्यों नहीं हुआ ?

यह सत्य है कि एक व्यावहारिक समीक्षा-सिद्धान्त के रूप में व्यापक महत्ता व सार्वत्रिक स्वीकृति प्राप्त करने पर भी 'औचित्य-सिद्धान्त' का क्षेमेन्द्र के बाद अनुवर्त्तन नहीं हुआ। अन्य सम्प्रदायों एव काव्य-सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक सामाजिकता से सवलित होने व जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने पर भी इस 'औचित्य-सिद्धान्त' का अनुवर्त्तन क्यों नहीं हुआ, यह जिज्ञासा होना सहज है। क्षेमेन्द्रोत्तर उसकी पारम्परीण गति न बढने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं।

(१) अपनी व्यापकता के कारण यह सिद्धान्त इतना सहज-साधारण व सर्वग्राह्य समझा गया कि किसी आचार्य को उसके महत्त्व का पुन.-पुन प्रतिष्ठापन करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। न तो इसने किसी विचारधारा या परम्परा प्राप्त काव्य-सिद्धान्त के खण्डन-मण्डन में अपना योगदान दिया न अपनी महत्ता के प्रतिपादनार्थ पाण्डित्यपूर्ण शब्दावली का ही आश्रय लिया। श्री शंकरदत्त ओझा ने औचित्य के अनुवर्त्तन न होने के कारण के रूप में औचित्य के सहज सारल्य एव व्यापकत्व को निर्दिष्ट करते हुए उसे क्षेमेन्द्र की उर्वर कल्पना मानकर अभिशसित किया है।[2] किसी प्रकार के तर्काडम्बर व चाकचिक्य का उसमें सन्निवेश न होने कारण विद्वानों का हठात् उस तरफ ध्यान गया ही नहीं।

(२) औचित्य के अनुवर्त्तन न हो पाने का एक अन्य कारण है - विद्वानों की काव्य-शास्त्र-विषयक दृष्टि का सीमित व परम्परानिष्ठ होना। डॉ० तारकनाथ बाली ने इसकी चर्चा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि परम्परावादी काव्य-शास्त्रियों ने

---

१. साहित्यशास्त्र में औचित्य विचार, ना० प्र० सभा पत्रिका, वर्ष ६६, अंक १

२. वही।

कुछ बचे हुए भाग से कुछ निश्चित विषयों का ही विवेचन किया है, परिणामत. स्वच्छन्द समीक्षा-दृष्टि का विकास उतना नही हुआ, जितना वाछनीय है। औचित्य की चर्चा इसीलिए नही हुई कि उसमें स्वच्छन्द-समीक्षा-दृष्टि वाछनीय थी।[1]

(३) हिन्दी की रीति-कालीन समीक्षा तो रीति एव वक्रोक्ति की भूल-भुलैया मे फँस गई। परिणामत औचित्य का विमर्श वहाँ भी नही हुआ।

आधुनिक काल मे अवश्य ही हिन्दी-सस्कृत के विद्वानो एवं कुछ अन्य सज्जनो के दृष्टि-पथ में 'औचित्य' पडा। उसकी महत्ता व व्यापकता को वे समझ पाये एवं उस पर विचार करने मे प्रवृत्त हुए। महामहोपाध्याय कुप्पू स्वामी शास्त्री ने औचित्य को सर्वोपरि व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-सिद्धान्त मानकर उसमें रस, ध्वनि, अनुमिति, वक्रोक्ति, गुण, अलकार एव रीति आदि का अन्तर्भाव कर दिया है। डॉ० राघवन, प० बलदेव उपाध्याय, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, श्री रामपाल विद्यालंकार, डॉ० मनोहरलाल गौड एव डॉ० रामलालसिंह प्रभृति विद्वानों ने कुप्पुस्वामी शास्त्री के द्वारा प्रस्तुत किए उस चित्र की व्याख्या कर एक या दूसरे रूप मे 'औचित्य' के महत्त्व का स्वीकार किया है एव उसकी प्रतिष्ठा भी की है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि औचित्य के चिन्तन व भेदोपभेद-निरूपणादि का क्षेमेन्द्रीय शैली व पद्धति मे कोई प्रयत्न नही हुआ।

औचित्य का निर्णायक कौन ?

अन्त मे एक जिज्ञासा शेष रह जाती है कि औचित्य का निर्णायक कौन है ? कवि, भावक एव समीक्षक—इन तीनो में से औचित्य का अतिम निर्णायक कौन है ? विचार करने पर यह सहज स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुत औचित्य का निर्णय तो 'समीक्षक' ही करता है न कवि और न भावक ही। सृजन की वेला में कवि औचित्य-अनौचित्य का विचार करने नहीं रुकता। आस्वादन की प्रक्रिया मे भावक अवश्य ही रसास्वाद के चारुत्व-अचारुत्व, सौकर्य-असौकर्य, अवरोध-अनवरोध आदि की अनुभूति करता है, परन्तु ऐसा क्यों हुआ, उस पर विचार करने वह नही बैठता। इस पर तो केवल समीक्षक ही विचार करता है, जो विश्लेषणोपरान्त यह निश्चित करता है कि रसास्वाद बिगडा कैसे ? भावक भी जब औचित्य-अनौचित्य पर विचार करने लगता है तब वह समीक्षक की कोटि मे आ जाता है। यदि कवि सजगतापूर्वक औचित्य-अनौचित्य विचार में लगता होता तो काव्य की सदोषता का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो उसकी शक्ति का श्रेय्य है। औचित्य सन्निवेश व अनौचित्य परिहार के लिए वह किसी रूप में सजग चेष्टा नही करता। सहृदय की अन्तर्वृत्ति नहीं, किन्तु समीक्षक की सजग बुद्धि औचित्य की अन्तिम निर्णायिका है।

---

1 डॉ० तारकनाथ बाली : रस-सिद्धान्त की दार्शनिक व नैतिक व्याख्या, पृ० १९३

औचित्य विमर्श पूर्व और पश्चिम के आचार्यों के परिप्रेक्ष्य में

नाट्य-दृष्टि

पूर्व और पश्चिम मे 'औचित्य विमर्श' का सूत्रपात नाट्य-मीमांसा के सन्दर्भ मे हुआ प्रतीत होता है। पूर्व मे आचार्य भरत ने और पश्चिम मे आचार्य अरस्तू ने नाटक के प्रसंग मे 'औचित्य' की महत्ता व आवश्यकता पर प्रत्यक्ष बल दिया।

आचार्य भरत ने अभिनय के विभिन्न उपकरणो की पारस्परिक अनुरूपता[१], आहार्य अभिनय मे अलंकारो की यथास्थान समुचित योजना[२]; अंग-रचना (मेकअप) मे पात्रानुरूपता का विवेक[३], पात्रो की प्रकृति एवं शील के अनुरूप व्यवहार आदि की रक्षा[४] के लिए असंदिग्ध पदावली मे आदेश दिये है। यही नही, औचित्य की विभावना (Concept) की व्याख्या भी प्राय उसी पदावली मे की है जिसमे औचित्य के प्रतिष्ठापक आचार्य क्षेमेन्द्र ने उनके लगभग एक सहस्राब्द बाद 'औचित्य' को परिभाषित किया है।[५]

भरत परवर्ती नाट्य-विमर्श मे राजा यशोवर्मन् ने अपने नाटक 'रामाभ्युदय' में 'औचित्य' का प्रत्यक्ष प्रयोग किया है। नाटक मे पात्रो के वय, जाति व प्रकृति के अनुरूप वाणी-व्यवहार, अवसरोचित रस-पुष्टि, अव्यतिक्रामी कथा, शब्दार्थ की प्रौढता, वस्तु-संगठन मे शुद्धि का समायोग आदि—जिसे वे 'सन्निवेश प्रागल्भ्यम्' कहते है—का निर्वाह वे आवश्यक समझते है।[६]

पश्चिम मे अरस्तू ने त्रासद के वस्तु-संगठन में घटनाओ की आवश्यिक अन्विति[७]; 'औचित्य' गुण से युक्त पात्रो की निर्मिति[८], काव्य-रूप के अनुसार अनुकूल वर्ण एव छंद-योजना[९], तथा विषय की गरिमा के अनुरूप गरिमापूर्ण शैली के प्रयोग[१०] को अनिवार्य माना है। अलकार्य के अनुरूप अलंकार प्रयोग[११] तथा विशेष्य के अनुसार विशेषणों के प्रयोग[१२] पर भी अरस्तू ने सम्यक् विमर्श किया है।

---

१ प० बटुकनाथ शर्मा : नाट्य शास्त्र, अ० १४, श्लोक ६८
२ वही, अ० २३, श्लोक ६६
३. वही, अ० २३, श्लोक ८६
४ वही अ० २३, श्लोक ८८
५ वही, अ० ३५, श्लोक १
6 Dr. V. Raghavan Some Concepts of The Alamkar Shastra, p. 205
7 Aristotle : poetics, Everyman's Library, p. 61-62
8 Aristotle's poetics : Humphry House, p 83
9 Aristotle, poetics : Every man's Library, p 45
10 Aristotle : Rhetorics Book III, Chap VII, p. 245
11 Ibid, p. 232-33
12 Ibid, p. 246

अरस्तू के बाद होरेस ने नाटक में पात्र, अभिनय, शैली, छंद-सम्बन्धी औचित्य का विवेचन किया है। होरेस ने पात्र-निर्माण में सगति एवं प्रतीतिकरता नाटक—गुणों की रक्षा करने पर अधिक बल दिया।[1] आचार्य भरत की भाँति वे भी नाटक में दृश्य श्रव्य एवं वर्ज्य अंशों की व्यवस्था स्वीकार करते हैं तथा वध, मैथुन, दाहकर्म आदि भय, जुगुप्साप्रेरक दृश्यों का रंगमंच पर प्रदर्शन प्रतिषिद्ध मानते हैं।[2] वे त्रासदी एवं कामदी के लिए 'विषय-वस्तु' के वैभिन्न्य के कारण 'अलग-अलग छंदों की योजना' स्वीकार करते हैं।[3] शैली के प्रयोग में कलात्मक अनुभूति की सुरक्षा वे आवश्यक समझते हैं।[4]

काव्य-दृष्टि

उभयदेशीय इन चारों आचार्यों का औचित्य-विषयक चिंतन नाट्य-केन्द्रित है। उन्होंने काव्य के संदर्भ में औचित्य की आवश्यकता व महत्ता पर विशेष कुछ नहीं कहा। काव्य के संदर्भ में औचित्य का प्रत्यक्ष, गहन, व्यवस्थित एवं स्पष्ट विवेचन तो भरत के बहुत बाद में आचार्य रुद्रट ने ही किया। हमारा विवेच्य विषय तो भरत परवर्ती काव्य-शास्त्रीय-चिंतन में काव्य को केन्द्रस्थ कर किए गए औचित्य-विमर्श से ही सम्बद्ध है, अतः यह आवश्यक है कि भारतीय एवं पश्चिमी काव्य-चिंता में अपने जिन अनेक रूपों में औचित्य फूट पड़ा है, उस पर तत्त्वतः विचार किया जाय। नाट्य-चिन्ता एवं नाट्य-विषयक औचित्य-चिन्ता को स्वल्प स्पर्श करके ही अग्रसर होना उपादेय है। काव्य-समीक्षा के क्षेत्र-विस्तार के साथ-साथ आचार्यों की दृष्टि का प्रसार बढ़ता गया। काव्य-विषयक औचित्य पर उभयदेशीय मनीषियों ने मुख्यतः दो रूपों में विचार किया है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष विवेचन करने वाले आचार्यों ने औचित्य की अवधारणा व स्वरूप को स्पष्ट करते हुए, उसके महत्त्व का प्रतिपादन कर दिया है तथा यथावसर उसके प्रमुख भेदोपभेदों का (सोदाहरण अथवा कहीं-कहीं केवल शास्त्रीय या सैद्धान्तिक) निरूपण व व्याख्यान कर दिया है। संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट, आनन्दवर्द्धन एवं क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रत्यक्ष विवेचन किया है। परोक्ष विवेचन करने वालों ने 'औचित्य' शब्द का सीधा प्रयोग न कर, उसको गुण, अलंकार या अन्य काव्यांग के रूप में ग्रहण तथा विवेचित किया है। भामह, दण्डी, लोल्लट, उद्भट, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथादि आचार्यों का विवेचन प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष माना जाता है। परोक्ष विवेचन का बहुत कुछ रूप गुण-दोष विवेचन (चाहे शब्द-दोष, अलंकार-दोष, रस-दोष के रूप में ही क्यों न हो) के रूप में, दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था के रूप में, विशिष्ट गुण के विवेचन के रूप में, औचित्य की अलंकार-रूप में

1. Allen Gilbert . Literary Criticism, Plato to Dryden, p. 132
2 Ibid, p. 134
3 Ibid p 131
4 Ibid, p. 129

(शब्दालंकार एवं अर्थालंकार के रूप में) व्याख्या करने के अर्थ में ही उपलब्ध होता है। पश्चिम में शैली-विवेचन के प्रसंग में ही औचित्य पर विचार हुआ है। वहाँ पर भी नैतिक धरातल पर औचित्य का काव्य-मीमांसा के संदर्भ में स्वतन्त्र विचार हुआ है और शैली के अंगभूत तत्त्व (जिसमें वर्ण-योजना से लेकर प्रबन्ध-काव्य की योजना तक तथा छंदादि की योजना का अंतर्भाव हो जाता है) के रूप में विचार हुआ है।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में औचित्य-निरूपण की चर्चा उठते ही स्वभावतः हमारा ध्यान उन तत्त्वों की ओर आकृष्ट हो जाता है, जिनको लेकर विवेचन अग्रसर हुआ है। इन तत्त्वों को आधार बनाकर भी औचित्य की चर्चा न्याय-संगत कही जा सकती है, अर्थात् औचित्य-विवेचन का एक अन्य मुख्य रूप है—तत्त्व-क्रम में उस पर विचार करना। इस पद्धति को अपनाकर ऐतिहासिक क्रम से किए जाने वाले विवेचन में सम्भवतः अनावश्यक विस्तार से बचा जा सकता है और साथ ही प्रत्यक्ष-परोक्ष विवेचन में जो पुनरावृत्ति होने की संभावना है, उससे भी बचा जा सकता है। पूर्व और पश्चिम के आचार्यों द्वारा विवेचित 'औचित्य' प्रायः इन रूपों में उपलब्ध होता है—

(१) विषय, वक्ता, भाषा, शैली, गुण-दोष, छंद, अलंकार, काव्य-रूप, रस एवं प्रबंध-सम्बन्धी औचित्य।

(२) संगति-सिद्धान्त (आवयविक संगति व तार्किक संगति): अर्थ-निर्णय की एक कसौटी के रूप में, सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन (सम्मात्रा, अनुगुणता आदि) के रूप में, सामंजस्य स्थापक सिद्धान्त के रूप में; प्राप्त औचित्य विवेचन।

द्वितीय विभाग के अन्तर्गत 'उल्लिखित विषयों' पर 'स्वरूप-जिज्ञासा'-शीर्षक के अंतर्गत विचार किया जा चुका है, अतः यहाँ प्रथम वर्ग में—परिगणित तत्त्वों के आधार पर आचार्यों की औचित्य-चिन्ता का सिंहावलोकन कर लेना प्रसंग-प्राप्त होगा।

विषयगत औचित्य

'विषय' काव्य-सर्जना व समीक्षा में अत्यन्त अनिवार्य तत्त्व है। उसके अभाव में सर्जनात्मक कृति का अस्तित्व ही असम्भव है। वह नहीं होगा तो अभिव्यक्ति किसे प्रकट करेगी? उसका समग्र कौशल व्यर्थ होगा। उसी प्रकार उसके औचित्य के अभाव में रसास्वाद पर प्रत्यक्ष गहन व मौलिक आघात पड़ेगा। अनुचित विषय न कभी सुन्दर बन पाता है न आस्वाद्य ही। 'विषय' से काव्य के प्रसंग में काव्य-वस्तु और नाटक के प्रसंग में कथा-वस्तु को ग्रहण करना चाहिए।

पूर्व में आचार्य रुद्रट ने एवं पश्चिम में अरस्तू एवं ड्रायडन ने स्फुट (प्रकट) रूप में विषय के औचित्य पर विचार किया है। आचार्य रुद्रट ने काव्य के संदर्भ में काव्यार्थ (विषय-वस्तु) के अनुरूप क्रिया, पद एवं अन्य कुछ सामग्री के प्रयोग पर बल दिया है। केवल वक्ता का औचित्य रक्षित हो, ऐसी बात नहीं। विषय का भी अपना महत्त्व है और तदनुरूप सारी सामग्री की विनियोजना होनी चाहिए।[1]

---

१ आचार्य रुद्रट काव्यालंकार अ० ६, श्लोक २५-२६

अरस्तू ने त्रासद के कथा-वस्तु के औचित्य व संगठन पर बल दिया है सभाव्यता और सुसंगठन के विनियोग में ही औचित्य का निर्वाह हो पाता है। रचयिता को चाहिए कि वह अपनी रचना के अनुरूप वस्तु का चयन करे और उसमें असम्भव प्रतीत होने वाले अंश छोड दे।[1] प्राचीन इतिहासादि में से उपलब्ध प्रभूत सामग्री में से विवेकपूर्ण रीति से केवल उतना ही अंश चुने, जो उसकी रचना के लिए अनुकूल हो तथा दर्शकों की स्मरण-परिधि में समाविष्ट हो सके।[2] त्रासदी के निर्माण में प्रसंग एवं घटनाओं का विनियोग अपेक्षित प्रभाव को लक्ष्य में रखकर ही किया जाय।[3] घटनाओं की अन्विति, चयित घटना की सत्य-प्रतीति,[4] गौण व मुख्य तत्त्वों का सामंजस्य,[5] सुगठित प्रसंग-योजना[6] एवं समग्र प्रभावापेक्षी रचनातत्त्व[7] पर उन्होंने बल दिया है। घटनाओं की काकतालीय योजना वे स्वीकार नहीं करते।[8]

होरेस ने अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ ही विषय-वस्तु के अनुचित-निबन्धन के हास्यास्पद परिणाम की चर्चा से किया है। 'घोड़े की गरदन पर' मनुष्य का सिर और उसके अधोभाग में मछली का शरीर अंकित करना, विषय-वस्तु के औचित्य का अभाव ही माना जाएगा, जो हास्यास्पद होगा।[9] अन्य नाट्य-तत्त्वों की औचित्यपूर्ण योजना पर भी वे बल देते हैं। ड्रायडन ने नाटक की कथावस्तु का विवेचन करते हुए कहा है कि नाटक की कथा-वस्तु न तो अत्यन्त गतिशील हो और न ही अत्यन्त मन्दगामी। इस विषय में वे मध्यम मार्ग का अनुसरण करने का निर्देश देते हैं। अभिनयादि अन्य नाट्यांगों के औचित्य की चर्चा पर भी उन्होंने बल दिया है।[10]

काव्य एवं नाटक में वस्तु के औचित्य की रक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनुचित काव्य-वस्तु या नाट्य-वस्तु सुन्दर नहीं हो सकती, अतः हृदयग्राह्य भी नहीं हो सकती।

वक्तृ-औचित्य

विषय के औचित्य के साथ ही वक्ता के औचित्य का विचार भी आचार्यों ने कर लिया है। पश्चिम में व्यंग्यनाटककार एरिस्टोफेनीज ने अरस्तू के भी पूर्व विषय-वस्तु एवं वक्ता के अनुरूप वाणी-व्यवहार का विवेचन कर इसका सूत्रपात किया था। यदि वक्ता एवं विषय गम्भीरता एवं गरिमायुक्त है तो भाषा भी गरिमायुक्त एवं

1 Aristotle, Poetics : Everyman's Library, p. 30

2. S H. Butcher · Aristotle's Theory of Poetry and Fine Acts, p. 89

3-5. Aristotle, Poetics . Everyman's Library, pp. 24, 61, 62

6-7 S H. Butcher : Aristotle's—Theory of Poetry and Fine Arts, pp. 31, 35, 39

8 Ibid, p. 31, 35, 39

9 Allen Gilbert : Literary Criticism; Plato to Dryden, p 128

10 Ibid, p. 634

गम्भीर होनी चाहिए। 'फ्राग्स' (Frogs) नामक अपने नाटक में दो पात्रों के सम्भाषण के माध्यम से उन्होंने यह सारी चर्चा उठायी है।[1]

भारत में आचार्य भरत ने नाटक मे पात्रों की प्रकृति एवं शील-औचित्य—विवेचन के प्रसंग में वक्ता-विषयक औचित्य का प्रथम स्पर्श किया है। काव्य-समीक्षा मे वक्ता के औचित्य पर प्रथम विचार आचार्य रुद्रट ने किया है। रुद्रट ने उत्तम, मध्यम एवं अधम—तीन प्रकार के वक्ता माने है। इन वक्ताओं के सम्भाषण मे परस्पर-संबोधन के औचित्य का निर्वाह किया जाना चाहिए। वक्ता-सम्बन्धी औचित्य का भंग वक्तृ-विषयक अनौचित्य माना जाएगा। उत्तम पात्रों का मध्यम एवं अधम पात्रों से, अधम पात्रों का उत्तम एवं मध्यम पात्रों से तथा मध्यम पात्रों का अधम एवं उत्तम पात्रों से सम्भाषण योजित करते समय औचित्य का ध्यान बराबर रखा जाय।[2] मुनि के लिए 'भवन् भगवन्' संबोधन, राजा के लिए 'ईश, परमभट्टारक' आदि संबोधन ही प्रयोज्य है।[3]

आधुनिक काव्य एवं नाटकादि मे पात्रों की ये श्रेणियाँ जाति-गत न होकर वर्ग-गत है, जहाँ नौकर सेठ से बात करते समय कैसे व्यवहार करेगा, यह निर्दिष्ट किया जाता है। साहित्य मे जहाँ कही भी पात्र-योजना तथा उनके सम्भाषण की योजना होती है, वहाँ वक्तृ-औचित्य का स्वत: विचार उपस्थित हो जाता है।

भाषा-औचित्य

काव्य के अभिव्यक्ति-पक्ष से सम्बद्ध इस 'भाषा' की लघुतम इकाई है 'वर्ण' और महत्तम इकाई है 'वाक्य'। इसके बीच 'पद' की स्थिति है। 'भाषा' शीर्षक के अन्तर्गत वर्ण, पद, वाक्य-योजना, काल, लिंग, वचन, कारक, विशेषण, क्रिया, उपसर्ग, निपात, सर्वनाम आदि का तथा कुछ अंशो मे पद-रचना, रूप, रीति और उसकी आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित गुणो का समावेश भी किया जा सकता है। शैली को भी उसी मे अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। किन्तु ऐसा करना 'भाषा' शब्द की व्याप्ति को अधिक विस्तृत करना होगा। काव्यशास्त्र मे रीति और गुण को भाषा मे स्वतन्त्र महत्त्व प्राप्त है तथा इसीलिए उसे अलग से विवेचित भी किया गया है। पश्चिम मे भाषा-शैली साथ चलते हुए भी अलग-अलग तत्त्वों के रूप मे विवेचित होते रहे है।

1. Oh Let us at least use the Language of man'
   'FROGS'—Tran Gilbert Murray, p 79
   'When the subject is great and the Sentiment,
   then of necessity great grows the word.
   'Frogs' Tran. Gilbert Murray, p. 79
2. यदनुचित यत्र पद तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम्।
   तद्वक्तृ वस्तु विषय विभिद्यमानं द्विधाभवति ॥१७।६ —काव्यालकार
3. तत्र भवन्भगवन्निति नैवाहंत्युत्तमोऽपि राजानाम्।
   वक्तुं नापि कथञ्चिन्मुनिमपि परमेश्वरेत्येति ॥२०।६ —काव्यालकार

भाषा' से यहाँ यही बोध्य होता है कि वर्ण से वाक्य तक अपनी व्याप्ति रखने वाला प्रयोग जिसे कवि या नाटककार अपने-अपने काव्यार्थ की अभिव्यंजना के लिए व्यवहार में लाता है, 'भाषा' है। काव्य एवं नाटक दोनों के सन्दर्भ में भाषा-प्रयोग के औचित्य पर उभयदेशीय विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है।

पश्चिम में एरिस्टोफेनीज (जिसका विवरण आगे दिया जा चुका है), वर्ड्स्वर्थ, दांते, फिलिप सिडनी और बेन जानसन आदि ने 'भाषा-औचित्य' पर विचार किया है। पूर्व में राजशेखर, अवंति सुंदरी और भोज ने प्रत्यक्षतः तथा आनन्दवर्द्धन (पद-संघटना के प्रसंग में) कुन्तक (वर्ण-वक्रता आदि के प्रसंग में) आदि ने परोक्षतः भाषा के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर बल दिया है।

लोंजाइनस ने 'उत्कृष्ट-भाषा' को उदात्त शैली का एक आवश्यक अंग मानकर उसका महत्त्व स्वीकार किया है।[1] भाषा-सम्बन्धी उनके विचार शैली-विवेचन के प्रसंग में ही उत्थित विचार हैं।

दांते ने भाषा-प्रयोग के औचित्य पर सीधे ही ध्यान दिया। उन्होंने परम्परागत, रूढ़ शास्त्रीय एवं कृत्रिम भाषा के प्रयोग का विरोध कर उसके स्थान पर प्रादेशिक बोलियों के माध्यम से उदभूत एक सार्वजनीन एवं आदर्श संस्कृति की प्रतीक, विद्वत्समाज एवं जन-साधारण द्वारा समानरूपेण समादृत शिष्ट जन-भाषा (जिसे वे 'इलस्ट्रियस वर्नाक्युलर' कहते हैं) को काव्य के लिए उपयुक्त मानकर उसका समर्थन किया है,[2] परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने भाषा के उत्तम गुणों की अवहेलना कर पूर्णतया गँवारू भाषा के प्रयोग का समर्थन किया। उदात्त एवं गरिमामय विषय के अभाव में गरिमामय व गम्भीर भाषा-प्रयोग से काव्य उसी प्रकार कुरूप हो जाता है, जिस प्रकार कोई कुरूप स्त्री अलंकारों के विन्यास से अधिक कुरूप लगती है। दांते ने 'काव्य-भाषा' का स्वरूप-सुनिश्चित करते हुए,—उसमें व्यवहृत शब्दावली का तीन कोटियों में वर्गीकरण किया है (१) बच्चों की तुतलाहट से पूर्ण शब्दावली, (२) स्त्रियोचित सुकुमारता वाले शब्दों से समाविष्ट शब्दावली, तथा (३) नागर एवं ग्राम्य शब्द सन्निविष्ट शब्दावली। नागर शब्दों में कुछ मसृण, चिक्कण आदि शब्दों का समावेश होता है। उत्तम शैली के लिए मसृण एवं प्रकृत शब्द साधक है।[3] इस प्रकार दांते ने परिष्कृत लोक-भाषा अर्थात् 'Hightened speech' को ही उचित समझा। दांते के दृष्टिकोण से आदर्श काव्य-भाषा एक ऐसा सबल एवं सुदृढ़ अस्त्र था, जिसके उचित प्रयोग के बिना उच्च-उदात्त साहित्य निर्मित हो ही नहीं सकता। दांते द्वारा परिकल्पित काव्य-भाषा एक तरफ तो मातृभाषा से दूर नहीं रहना चाहती तो दूसरी ओर कवि के प्रकृत भावों

1 A. O. Prickard On the sublime, p 13

2. 'It must be the language.. an illustrious Vernacular'.

—Scott James : The Making of Literature, p 104

३ डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्, पृ० २२३

की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति में सर्वाधिक सहायक सिद्ध होना चाहती है। दांते ने शास्त्रीय आधार पर जन-भाषा का संस्कार कर उसे 'काव्य-भाषा' के रूप में स्वीकार्य बनाया।[1] सर्वत्र उन्होंने इसके प्रयोग के औचित्य पर बल दिया।

फिलिप सिडनी भी प्राचीन परम्परावादी एवं आदर्शवादी (सौष्ठववादी) समीक्षक थे। दाँते की भाँति ही वे भी गम्भीर भाषा का काव्य में प्रयोग करना स्वीकार करते हैं। उन्होंने काव्य के लिए विषयानुरूप, समुचित-गौरवयुक्त, गम्भीर भाषा की उपादेयता का समर्थन किया। विषय-गाम्भीर्य एवं भाव-गाम्भीर्य के अनुरूप गम्भीर भाषा का प्रयोग ही उन्होंने उचित समझा है।[2] वे मानते हैं कि भाषा का प्रयोग करते समय (विशेषतः मौखिक) प्रत्येक वर्ण के अर्थ-गौरव और उसके 'परिणाम पर विचार' करना चाहिए। उसके प्रयोग में संगति, सामंजस्य, अर्थगरिमा वगैरह गुणों की स्थिति होनी चाहिए। भाषण-शक्ति का औचित्यपूर्ण प्रयोग ही उन्हें इष्ट है।[3] दान्ते के पद-चिह्न पर चलकर वर्ड्स्वर्थ ने भी कृत्रिम, परम्परा निष्ठित व आडम्बरपूर्ण भाषा के स्थान पर सहज स्वाभाविक और बोल-चाल की भाषा के प्रयोग का समर्थन किया है परन्तु प्रादेशिक जन-भाषा के सहारे नवीन काव्य-भाषा के निर्माण का वे समर्थन करते प्रतीत नहीं होते हैं। वे यथासंभव जन-साधारण द्वारा वस्तुतः व्यवहृत, निराडम्बरपूर्ण, अभिव्यक्ति में सरल एवं सशक्त, सामाजिक दम्भ से अपेक्षाकृत अस्पृष्ट भाषा का प्रयोग करना ही इष्ट मानते हैं। उनके द्वारा परिकल्पित यह भाषा-रूप पूर्व के कवियों द्वारा प्रायः प्रयुक्त जन-सामान्य भाषा-रूप की अपेक्षा अधिक स्थायी और दार्शनिक है, अतः प्रयोज्य भी।[4]

एलेक्जेण्डर पोप ने वर्ण-प्रयोग के औचित्य पर विशेष बल दिया है। रस एवं भाव अथवा वर्ण्य-वस्तु के स्वरूप, स्थिति आदि के अनुरूप वर्णन करने में अपना सर्वाधिक योगदान देने वाले वर्णों की योजना ही उन्हें स्वीकार्य है। काव्य में ध्वन्यनुसारी एवं रसानुसारी पद-प्रयोगों द्वारा श्राव्य-दृश्य बिम्ब-योजना करने में समर्थ भाषा-समायोग के वे पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि में प्रभंजन के चलने का और मंद-मंद पवन के बहने का वर्णन रसानुरूप उचित पदावली में ही होना स्पष्ट इष्ट है।[5] सौंदर्य के प्रसंग में भी वे समग्रता के पक्षपाती हैं।

बेन जानसन काव्य एवं भाषण में भाव-प्रधान, गरिमायुक्त, औचित्यपूर्ण, संवेगशील शब्दों से सम्पन्न भाषा के प्रयोग को समुचित समझते हैं। प्रयुक्त शब्द रचना-भाव के अनुरूप, उपयुक्त, अलंकृत, भव्य, उदात्त, अभिव्यक्ति में समर्थ हों, ऐसा उनका अनुरोध

1. Abercrombie : Principles of Literary Criticism, p 143-144
2. Dorothy Macardle (Ed.) : Defence of Poesy, p 10
3. Ibid, p. 30
4. H Littledale : Lyrical Ballads, p. 226-27
5. Edmund Jones : English Critical Essays p 217

है। अत. वे काव्याभिव्यक्ति मे अश्लील, निर्बल, उलझे, अस्पष्ट, अनुचित, स्त्रैण व जुगुप्साकर शब्दो को प्रविष्ट होने नही देना चाहते। इनसे अभिव्यक्ति गर्हणीय बन जाती है।[1]

इस प्रकार पश्चिम मे काव्य-वस्तु को केन्द्र में रखकर उसके अनुरूप वर्ण-प्रयोग, शब्द-प्रयोग और भाषा-प्रयोग पर पर्याप्त विमर्श हुआ है। अधिकाश विद्वानो ने भव्य, उदात्त एव गरिमापूर्ण भाषा-प्रयोग का समर्थन किया है। वर्ड्सवर्थ प्रभृति ने जन-भाषा के किसी एक रूप को अपनाने की तथा दांते ने एक अन्य रूप को स्वीकार करने की बात कही है। किसी ने अनियंत्रित, यादृच्छिक प्रयोग का समर्थन नहीं किया। स्वच्छन्दतावादियो का रुझान भी भव्य, अलकृत व उदात्त भाषा के प्रति रहा है।

पूर्व में आनन्दवर्द्धन ने 'रसानुरूप वर्ण-योजना' का समर्थन किया तथा ओज, प्रसाद, माधुर्यादि गुणो की व्यजक वर्ण-योजना पर विशेष विचार किया।[2] राजशेखर और अवंति सुन्दरी ने भाषा के बृहत्तर अंग 'वाक्य' के प्रयोग मे विवेक की आवश्यकता पर बल दिया है। उन्होंने उचित वाक्य-प्रयोग को 'वाक्य-पाक' सज्ञा दी है—

गुणालंकाररीत्युक्ति शब्दार्थग्रथनक्रम: ।
स्वदते सुधिया येन वाक्य पाक स मा प्रति ॥[3]

'पद वाक्य विवेक' संज्ञक छठे अध्याय में राजशेखर ने पद एव वाक्य के औचित्य-पूर्ण प्रयोग पर विस्तार से विवेचन किया है। भोज ने यथोचित भाषा-प्रयोग का 'जाति' में अन्तर्भाव कर लिया है। भोज का 'जाति' अलकार पात्रानुरूप भाषा की ही अपर सज्ञा है। दोनों—पूर्व और पश्चिम के आचार्यों ने वर्ण्य के अनुरूप भाषा-प्रयोग के विचार का अपने-अपने ढग से समर्थन किया है।

शैलीगत औचित्य

इस उपशीर्षक के अन्तर्गत उस समस्त औचित्य-विषयक चिंता को समाविष्ट किया जा सकता है, जो पश्चिम मे 'शैली'-विवेचन के रूप मे उपलब्ध है और पूर्व मे पद-रचना, वाक्य-रचना (अर्थात् सघटना) रूप 'रीति', 'वृत्ति', 'प्रवृत्ति' आदि विषयक विवेचन के रूप मे विद्यमान है। यद्यपि 'तत्त्वत. शैली, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति परस्पर-भिन्न (इनका यह भेद यथास्थान द्वितीय अध्याय मे निरूपित किया जायगा) हैं किन्तु विवेचन व वर्गीकरण की सुविधा के कारण व्यवहारत उनकी एक-स्थानीय समीक्षा कर लेना समीचीन ही होगा। पश्चिम मे 'शैली' तत्त्व मे व्यक्तितत्त्व अनिवार्यत. सश्लिष्ट समझा गया है। इस दृष्टि से पश्चिमी शैली और भारतीय रीति में व्यक्तिनिष्ठा की मात्रा को लेकर भेद स्पष्ट है। रीति 'वस्तुनिष्ठ' अधिक है और शैली व्यक्तिनिष्ठ'।

शैली के औचित्य के प्रसग मे प्रथम उल्लेख्य नाम है लोंजाइनस का। अपने

1. Ibid, p. 94-95
२. डॉ० रामसागर त्रिपाठी ध्वन्यालोक (उत्तरार्द्ध), पृ० ६६७
३. डॉ० गगासागर राय : हिन्दी काव्य मीमासा, पृ० ५२

ग्रन्थ 'आन द सब्लाइम' में उन्होंने उदात्त शैली का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता को ही वे औदात्य कहते हैं।[1] यह औदात्य ही कवियों के अमर यश का परम रहस्य है। उदात्त शैली के इन पाँच तत्त्वों में से—(१) महान् धारणाओं की क्षमता, (२) उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत आवेग, (३) समुचित अलंकार-योजना, (४) उत्कृष्ट भाषा, (५) गरिमामय एवं ऊर्जस्वित्-रचना-विधान— प्रथम दो का सम्बन्ध आत्मा की गरिमा से (अर्थात् भावपक्ष से) है और शेष तीन का सम्बन्ध कला-पक्ष से है। वे केवल भव्य आवेग जिसमें आत्मा का उन्नयन हो—को ही ग्राह्य मानते हैं।[2] समुचित अलंकार-योजना से उनका तात्पर्य 'उदात्त' के पोषक अलंकारों के उचित प्रयोग से है। अलंकार की सहज व अयत्नज योजना ही उन्हें स्वीकार्य है।[3] उत्कृष्ट भाषा से उनका तात्पर्य है, विचार की गरिमा के अनुरूप भव्य, मृदु, सुन्दर, ओजस्वी, गरिमायुक्त, शक्ति एवं श्रेष्ठ गुण-सम्पन्न भाषा-प्रयोग।[4] परन्तु गरिमामयी भाषा का प्रयोग भी सर्वत्र न होकर अवसरोचित ही होना चाहिए। 'गरिमामय व ऊर्जित रचना विधान' वे वहाँ मानते हैं, जहाँ शब्द और अर्थ के बीच सन्तुलन, सामंजस्य, समभाव, संगतिपूर्ण अवस्थिति (जिस प्रकार शरीर के सभी अंग परस्पर सुस्थित हैं, उसी प्रकार काव्य के अंगों में संगतिपूर्ण स्थिति का होना) आदि पाया जाता है।[5]

वागाडम्बर, बालेयता, शब्दाडम्बर और भावाडम्बर—ये शैली के विरोधी तत्त्व हैं, जिनमें कुछ नित्य-विरोधी (नित्य-दोष है) कुछ अनित्य-विरोधी अर्थात् परिहार्य (अनित्य-दोष) हैं। अनित्यविरोधी परिहार्य है और कभी-कभी अपना विरोध छोड़कर उक्ति की उदात्तता में वृद्धि कर देते हैं।[6]

उदात्त-शैली स्वयं कोई साध्य नहीं, साधन मात्र है, अतः भाव या विचार-संवेग को छोड़कर अथवा उनके अनुकूल होकर वह अपना कोई महत्त्व नहीं रखती। भाव के औचित्य का अंकुश उस पर लगा हुआ है।[7]

मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य के तीन तथ्यों पर बल दिया— विषय निर्वाचन, यथा-तथ्य वस्तु-विधान और अभिव्यंजना अथवा शैली की विषयाधीनता—जिनमें विषय-निर्वाचन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है तथा शैली को विषय की अनुवर्तिनी कहा गया है। वे उदात्त शैली के समर्थक थे, परन्तु आवश्यकता से कभी अधिक महत्त्व देन

1 A. O. Prickard . On the Sublime, p 2
2 Ibid, p 11-12
3 Ibid, p 41
4 Ibid, p. 56
5 Ibid, P. 72
6 Ibid, p. 6-8
7 डा० नगेन्द्र काव्य में उदात्त तत्त्व (भूमिका) पृ० २१

के पक्ष में नहीं थे।[१] शैली सर्वथा विषयाधीन है। जिस प्रकार भारतीय रसवादियों ने रीति को स्वतन्त्र महत्त्व न देकर उसे रसानुवर्तिनी माना है, उसी प्रकार वे भी रीति अर्थात् शैली को विषयानुसारिणी मानते हैं। वे विषय के गौरव को किंचिन्मात्र भी विक्षत होने देने के पक्ष में नहीं हैं।

वोल्टर पेटर ने न तो एकान्ततः 'विषय-वस्तु' को ही महत्त्वपूर्ण माना है और न शैली को। शैली और विषय-वस्तु के अनिवार्य सहभाव को ही 'साहित्य' मानते हुए वे कला की महानता को न केवल रूपाश्रित मानते है, न केवल तत्त्व-निष्ठ ही। उभय-निष्ठ होने के कारण दोनों में औचित्यपूर्ण स्थिति व सामञ्जस्य अनिवार्य है।[२] अर्थ के साथ शब्द का तादात्म्य ही शैली का औचित्य है। पेटर द्वारा निरूपित शैली के दो पक्ष बुद्धि (मस्तिष्क) और आत्मा—भारतीय रीति एवं ध्वनि-विचार से बहुत-कुछ मेल खाते हैं।

स्कॉट जेम्स ने वोल्टर पेटर के शैली सम्बन्धी विचारों की समीक्षा करते हुए शैली-सम्बन्धी औचित्य के निर्वाह पर सर्वाधिक बल दिया है। उनके विचार में शैली केवल बाह्य तत्त्व ही नहीं है, किन्तु एक महत्त्वपूर्ण अन्तरंग तत्त्व भी है और रचयिता के व्यक्तित्व से उसका अभिन्न सम्बन्ध है। उत्तम शैली वही है, जिसमें भावानुकूल भाषा, विचार के सर्वथा अनुरूप वाणी, अनुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए सक्षम और उचित शब्दावली का प्रयोग करने में प्रयोक्ता सफल हो सका हो। वे ही शब्द चुने जाएँ, जो विचारों की अभिव्यक्ति करने में सर्वथा समर्थ हों, सक्षम हों, सुसंगत हों एवं औचित्यपूर्ण हों।[३] वे विचारों की अस्पष्टता की स्थिति में भाषा की स्पष्टता संभव नहीं मानते; विचार या भाव की स्पष्टता के अभाव में वाणी या अलंकरण का चाक्चिक्य व्यर्थ मानते हैं।[४] कृति की सर्वांग सुन्दरता के लिए वे अंग-उपांगों की आवयविक अन्विति (Organic Unity) को अत्यन्त अनिवार्य मानते हैं। सामंजस्य सुश्लिष्टता के अभाव में कृति सुन्दर और पूर्ण नहीं हो सकती।[५]

इस प्रकार पश्चिमी आचार्यों ने शैली-सम्बन्धी औचित्य तथा आवयविक-संगति (Organic Unity) पर विशेष बल दिया प्रतीत होता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में 'शैली' के समानार्थी शब्द के रूप में—रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति (यद्यपि ये तीनों परस्पर भिन्नार्थी भी हैं) प्रयुक्त किये जाते हैं। राजशेखर ने तीनों का परस्पर भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है—

तत्र वेश विन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलास विन्यासक्रमो वृत्तिः, वचन विन्यासक्रमो रीतिः।[६]

---

१. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी काव्यालंकार सूत्र (भूमिका), पृ० १३२
२. वही, पृ० १३३
3. Scott James : Making of Literature, p 303
4. Ibid, p. 304
5. Ibid, p. 305
६. डॉ० गंगासागर राय : हिन्दी काव्य-मीमांसा, पृ० २५

प्रवृत्ति का सम्बन्ध वेश-विन्यास से, वृत्ति का सम्बन्ध विलास-विन्यास से तथा रीति का सम्बन्ध वचन-विन्यास से है। प्रवृत्तियाँ एवं वृत्तियाँ मूलतः नाटक से और रीतियाँ काव्य से सम्बद्ध हैं। प्रवृत्ति-वृत्ति आदि के औचित्य का विवेचन भरत ने नाटक के प्रसंग में कर दिया है।[1] आगे चलकर आचार्य रुद्रट ने रीति एवं वृत्तियों के औचित्य का विवेचन किया है। रीति से उन्होंने पद-संघटना का अर्थ लिया प्रतीत होता है। अतः संघटना के औचित्य की आवश्यकता पर बल देते हुए वे मानते हैं कि संघटना अर्थ का सहजोद्घाटन करने वाली होनी चाहिए न कि अधिक उलझाने वाली—

'किमिति न पश्यसि कोप पादगतं बहुगुणं गृहाणैनम्।
ननु मुंच हृदयनाथ कंठे मनस्तमोरूपम्॥'

यह पद-संघटना अर्थ को उलझाने वाली है। उसका यथार्थ-क्रम इस प्रकार होना चाहिए:—
'पादगतं हृदयनाथं बहुगुणं प्रियं न पश्यसि किं
ननु मनस्तमोरूपम् कोपं मुंच एनं च प्रियकण्ठे गृहाण॥'

वृत्तियों के विवेचन के प्रसंग में सर्वथा मौलिक अभिनिवेश कर वे पाँच प्रकार की वृत्तियाँ—मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता एवं भद्रा—स्वीकार करते हैं। इन पाँचों वृत्तियों को प्रयत्नपूर्वक अधिगत करके उनका सम्यक् व उचित रीति से नातिबहुल नात्यल्प प्रयोग किया जाना चाहिए। इनके प्रयोग में कवियों को सदैव 'ग्रहण-त्याग' का विवेक रखना आवश्यक है।[2] इसी को आनन्दवर्द्धन ने अपने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में अलंकार-प्रसंग में 'काले च ग्रहणत्यागौ' कहा है।[3]

रुद्रट के बाद आचार्य आनन्दवर्द्धन ने पद-संघटना-रूप रीति के औचित्य का विस्तृत विवेचन किया है। वामन ने पद-रचना के लिए 'रीति' पद का प्रयोग किया है। और आनन्दवर्द्धन ने उसके लिए 'पद संघटना' पद का प्रयोग किया है। आनन्दवर्द्धन ने असमासा, मध्यसमासा एवं दीर्घसमासा—तीन प्रकार की पद-संघटनाएँ स्वीकार की है।[4] उन्होंने उन्हें गुणाश्रित मानकर रस को प्रकट करने वाली कहा है।[5] अलग-अलग रसों में रसानुकूल व उचित पद-संघटना का प्रयोग वे इष्ट मानते हैं। रेफयुक्त, श, ष और ढकार का प्रयोग बीभत्स एवं रौद्र रस में साधक एवं शृंगार रस में बाधक होता है।[6] दृश्य काव्य में दीर्घसमासा रचना बाधक है, अतः अप्रयोज्य है। करुण एवं विप्रलम्भ शृंगार में दीर्घसमासा संघटना बाधक है, किन्तु वीर एवं रौद्रादि रसों

१. बटुकनाथ शर्मा : नाट्यशास्त्र, अ० ३३, श्लो० ८८
२. एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कर्वान्द्रैरघनाल्प दीर्घाः कार्याः मुहुश्चैव गृहीत मुक्ताः॥
—काव्यालंकार : रुद्रट, अ० २।३२
३. डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (पूर्वार्द्ध), पृ० ४५८
४. वही, पृ० ७१७
५. वही, पृ० ७१०
६. वही, पृ० ६९७

में वही बडी साधक सिद्ध होती है। करुण एवं विप्रलम्भ शृंगार में असमासा संघटना ही प्रयोज्य है।[1]

इस प्रकार भारतीय आचार्यों में रुद्रट एवं आनन्दवर्द्धन ने रीति एवं संघटना के औचित्य का विवेचन किया है। उनका यह विवेचन रीति या संघटना की वस्तु-निष्ठता को लेकर ही हुआ है। पश्चिम के शैली-विवेचन की भाँति उसे अन्तरंग तत्त्व मानकर उस पर विचार नहीं किया गया। इन आचार्यों ने रस को केन्द्र मानकर इन रीति-संघटनादि का तदनुवर्त्तन ही प्रतिपादित किया है।

गुण-दोष-विवेचन के रूप में औचित्य-विचार

गुणों को लेकर औचित्य का विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में स्वतन्त्र रूप से इस प्रकार हुआ है :

१. 'औचित्य' गुण का एक पर्याय माना गया है तथा उसे सामान्य गुण माना गया है।
२. 'औचित्य' को एक विशिष्ट गुण के रूप में ग्रहण किया गया है।
३. अनौचित्य को एक सामान्य-दोष अथवा दोष का पर्याय माना गया है तथा काव्य में सब प्रकार के अवरोध का मूल माना गया है।
४ अनौचित्य-औचित्य का निर्णय गुण-दोषों की नित्य-अनित्य-व्यवस्था पर आधृत मानकर किया गया है।

ऊपर के 'विचार-बिन्दुओं के प्रकाश' में भारतीय आचार्यों के दो वर्ग माने जा सकते है। प्रथम वर्ग में वे आचार्य आते है, जो औचित्य को गुण का पर्याय तथा अनौचित्य को दोष का पर्याय मानकर चलते है (यद्यपि उन्होंने इस प्रकार का स्पष्ट कथन कहीं नहीं किया है, परन्तु इनके विवेचन से स्वत ये निष्कर्ष प्रतिफलित होते है) और गुण-दोषों की नित्य-अनित्य व्यवस्था स्वीकार करते हुए सन्निवेश-कौशल या कवि-कौशल तथा आश्रय-सौंदर्य के कारण दोषों का भी क्वचित् गुणत्व-ग्रहण करना स्वीकार करते है। आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, वामन इस वर्ग में स्थान पाते हैं। दूसरा वर्ग उन आचार्यों का है जो औचित्य को साहित्य या काव्य का विशिष्ट गुण मानते है। आचार्य कुन्तक इस वर्ग में प्रमुख है। व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट का औचित्य-चिन्तन अधिकांशत. अनौचित्य-चिन्तन के रूप में उपलब्ध होता है।

भामह ने दोष के दो मुख्य भेद किये है—नित्य-दोष एवं अनित्य-दोष। नित्य-दोष अपरिहार्य हैं। अनित्य-दोष समय, स्थान, परिस्थिति एवं प्रसंगवश दोषत्व छोड़कर गुणत्व ग्रहण कर लेते है। भामह के विचार से प्रयोगवैशिष्ट्य,[2] उचित आश्रयण,[3]

---

१ डॉ० रामसागर त्रिपाठी ध्वन्यालोक—कारिका ६, पृ० ७२०-४१
२ भामह : काव्यालंकार, प्र० १, श्लो० ५४
३ वही, प्र० १, श्लो० ५५

अवस्थाविशेष[1] के कारण दोष या गुणत्व प्राप्त कर लेता है। पदों का असाधुत्व भी साधुत्व ग्रहण कर लेता है। किसी विक्षुब्ध या भयभीत व्यक्ति की नकल करने में तुत-लाना, हिचकिचाना, लड़खड़ाना आदि अपना दोषत्व छोड़ गुणत्व पा लेते हैं। इसी प्रकार भय, शोक, असूया, विस्मय, हर्ष आदि के प्रदर्शन के अवसर पर पुनरुक्ति का प्रयोग दोष नहीं माना जाता।[2] तात्पर्य यह है कि प्रयोग, परिस्थिति एवं वातावरण के आधार पर ही आचरण या प्रयोग-विशेष के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय किया जा सकता है। कोई भी गुण, भाव, शैली या रीति स्वतः अपने-आपमें न तो सर्वथा रस की बाधक है न साधक ही। उन्होंने दोषों की संख्या दस मानी है।[3]

रीति के रस-प्रतिकूल प्रयोग को भामह ने 'अरीतिमत्' दोष माना है। उसी को रीति का अनौचित्य कहा जा सकता है। शृंगार रस के लिए गौडी रीति प्रतिकूल है, परन्तु वीर, रौद्र, अद्भुत रसों के लिए वही अनुकूल है।

इसी प्रकार वर्णों के रस-विरोधी प्रयोग से वर्ण-विषयक अनौचित्य उपस्थित होता है। शृंगार रस के लिए सघोष, ऊष्म, कठोर-वर्ण तनिक भी अनुकूल नहीं है। परन्तु वीर एवं रौद्र रस के लिए वही वर्ण-योजना औचित्यपूर्ण है।

एक स्थान पर भामह ने यह संकेत दिया है कि व्याकरणसम्मत व कोष लब्ध होने पर भी यदि कोई प्रयोग रूढ न हुआ हो, तो उसे काव्य में प्रयुक्त नहीं करना-चाहिए यथा – 'कुंज हन्ति कृशोदरी' में हन् धातु का गत्यर्थक प्रयोग व्याकरण-लब्ध होने पर भी उचित नहीं है। दण्डी का विवेचन प्रायः भामह की परम्परा में ही हुआ है। वे भी दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था स्वीकार करते हुए विशेष परिस्थितियों में दोष का गुणत्व ग्रहण प्रतिपादित करते हैं।[4] भामह के विचारों का बहुत कुछ समर्थन करते हुए उन्होंने अतिरिक्त विशेष बात समाधि-गुण की कही है। लोक-सीमा का पालन करने की तत्परता तथा उसका निर्वाह करते हुए प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप करना वे 'समाधि' गुण का लक्षण मानते हैं।[5] लोक-सीमानुवर्तन करने वाला यह 'समाधि' गुण 'औचित्य का ही अर्थ ध्वनित करता है।

अपने विवेचन के अन्त में वे कहते हैं कि कवि-कौशल के प्रभाव से सारे दोष (अनित्य) अपना विरोध छोड़कर गुणों की वीथियों में प्रविष्ट हो जाते हैं।[6]

वामन का 'दोष-विवेचन' भी पूर्वाचार्यों की परम्परा पर आधृत है। वामन ने पद, पदार्थ, वाक्य एवं वाक्यार्थ-सम्बन्धी दोषों का विस्तृत एवं सोदाहरण विवेचन किया है।

---

१ भामह : काव्यालंकार, अ० १, श्लो० ३५-३७, ४२-४४, ५७
२ वही, अ० ४, श्लो० १३-१४
३ वही, अ० ४, श्लो० १-२
४ दण्डी काव्यादर्श, तृतीय परिच्छेद, श्लो० १२८-३०
५ वही, प्रथम परिच्छेद, श्लो० ९३-१००
६ वही, तृतीय परिच्छेद, श्लो० १७९

कुछ अलंकार-दोषों की चर्चा करते हुए उन्होंने वे सभी उदाहरण दिए है, जिनका विवेचन काव्य-शास्त्र में हो चुका है। भामह के साथ सहमत होते हुए उन्होंने कुछ प्रयोगों को निषिद्ध व कुछ को प्रयोज्य बतलाया है।[1]

(१) 'हन्' धातु का गत्यर्थक प्रयोग निषिद्ध है।
(२) श्लोक के चरणान्त मे ही हल् हो पहले नहीं।
(३) पदान्त में लघु-गुरु की व्यवस्था हो।
(४) पदारम्भ मे 'खलु' का प्रयोग व्यर्थ है।
(५) बहुव्रीहि की भ्रांति करावे वैसा कर्मधारय एवं कर्मधारय की भ्रान्ति करावे वैसा बहुव्रीहि अप्रयोजनीय है।
(६) विशेष्य की प्रतीति कराने के लिए ही विशेषण का प्रयोग किया जाय।
(७) अत्यन्त रूढ देश्य शब्दों को संस्कृत मे प्रयुक्त किया जा सकता है।
(८) अति प्रचलित पदो को अनुक्त रखा जा सकता है।
(९) अति प्रयुक्त लक्षणा का बारम्बार प्रयोग न किया जाय।
(१०) स्तन, चक्षु आदि का नित्य द्विवचन मे प्रयोग करना चाहिए।
(११) शिव-पार्वती के युग्म के लिए 'शिवौ', 'रुद्रौ' का प्रयोग नही हो सकता।
(१२) 'मार्ग' धातु का 'खोजने' के अर्थ मे आत्मनेपद प्रयोग अनुचित है।
(१३) अधर-बिम्ब ही उचित प्रयोग है बिम्बाधर नहीं।

महिम भट्ट ने पाँच 'शब्द-दोषों' द्वारा अनौचित्य का विवेचन किया है। विधेयाविमर्श, प्रक्रम भेद, क्रम भेद, पुनरुक्ति एवं अधिक पदत्व—इन पाँच शब्द-दोषों की चर्चा उन्होंने की है। अनौचित्य को वे काव्य का सर्वातिशायी दोष मानते हैं। अनौचित्य के दो रूप उन्होंने चर्चित किये है—अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग का सम्बन्ध काव्य के आत्मतत्व 'रस' से है। बहिरंग का सम्बन्ध 'रसेतर' बाह्य उपकरणों से है। मुख्य भाव और रस के बीच सम्बन्ध के अभाव को ही वे 'अनौचित्य' कहते है। औचित्य के बिना वे रस की स्थिति मानते ही नहीं।

औचित्य : गुण सामान्य

कुन्तक ने 'औचित्य' को एक सामान्य गुण के रूप मे ग्रहण किया है। कुन्तक के मत से काव्य का प्राण तो निश्चय ही वक्रता है, परन्तु वक्रता का मूलाधार है—औचित्य। कुन्तक ने काव्य के 'औचित्य' और 'सौभाग्य' नामक दो गुण माने हैं।[2] 'औचित्य' गुण के अभाव मे वे सहृदय के आह्लाद की क्षति मानते है।[3]

यद्यपि कुन्तक ने 'औचित्य' को 'वक्रता' के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त नही किया

---

१ डॉ नगेन्द्र (सम्पा०). काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, द्वितीय अधिकरण, पृ० ६७-११२, तृतीय अधिकरण, पृ० २२०-२८०, चतुर्थ अधिकरण, पृ० ३१०

२ डॉ० नगेन्द्र (सम्पा०) हिंदी वक्रोक्ति जीवितम् (मूल भाग), पृ० १६३

३ वही, पृ० १६३

है तथापि उनके द्वारा चर्चित प्राय सभी वक्रता-भेद तद्-तद् विषयक औचित्य का अर्थबोध कराते है। उनकी वर्णवक्रता ही वर्णौचित्य है। 'वाक्य वक्रता' को ही वाक्यौचित्य कहा जा सकता है। कुन्तक की प्रकरण-वक्रता ही प्रकरण या सघटना-विषयक औचित्य है। 'प्रबन्ध वक्रता' मे प्रबन्ध, रस, नाम-विषयक औचित्य समाविष्ट हो जाते है। व्यवहार-वक्रता को व्यवहारौचित्य एवं स्वभाव-वक्रता को स्वभावौचित्य कहा जा सकता है। कुन्तक-प्रतिपादित लिग-वक्रता एव काल-वक्रता ही क्रमश. लिगौचित्य और कालौचित्य है।[1]

पश्चिम मे गुण-दोष-विवेचन के प्रसग में जानसन, एडिसन स्काट, जेम्स आदि ने तथा दोषो की नित्यानित्य व्यवस्था के रूप मे, रोबर्ट ब्रिजेस ने औचित्य-अनौचित्य का अप्रत्यक्ष विवेचन किया है। रोबर्ट ब्रिजेस का विवेचन दोष-विचार के प्रसग मे किया जा रहा है।

अलकार-सम्बन्धी औचित्य

अलकार-औचित्य से तात्पर्य है—अलकारो का औचित्यपूर्ण प्रयोग और 'औचित्य' का एक अलकार के रूप मे ग्रहण। जहाँ तक अलकारो के उचित प्रयोग का प्रश्न है पूर्व और पश्चिम के सभी प्रमुख समीक्षको ने इसका स्पर्श किया है तथा उसका महत्व भी स्वीकार किया है।

'औचित्य' को एक अलकार के रूप मे ग्रहण कर उसकी विवेचना करने वालो मे भोज, अग्निपुराणकार और प्रकाशवर्ष प्रमुख है। औचित्य को अलकार-रूप मे ग्रहण करने वाले पृथक्-पृथक् आचार्यो ने इसे शब्दालकार, अर्थालिकार अथवा उभयालकार के रूप में स्वीकृत किया है।

अलकारो के उचित प्रयोग पर पूर्व मे भरत, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन एवं अभिनव गुप्त ने तथा पश्चिम में लोजाइनस ने इस पर बल दिया है।

भरत ने नाटक में पात्रों की वेशभूषा व अंगरचना (Make up) के प्रसग मे वस्त्रालंकारो के उचित संविधान को सबल शब्दो मे समर्थित किया है।[2] रुद्रट ने काव्य के सदर्भ मे यमकादि अलकारो का विवेकसम्मत प्रयोग प्रतिपादित किया है।[3] उनके विचार से रससिद्ध कवि को भी यमक श्लेषादि के प्रयोग मे अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि जरा-सी असावधानी से प्रयुक्त अलकार सरस काव्य को भी दूषित कर देता है। शृगार एवं करुण रस के प्रसंग मे यमक श्लेषादि का प्रयोग अवरोधक होता है।[4] आचार्य लोल्लट ने भी अलकार के पाण्डित्य-प्रदर्शन हेतु किये गए अलंकार-प्रयोग की निंदा करते हुए कहा है – 'यमक और चक्रबन्ध का कौशल दिखाने के हेतु

---

१ डॉ० नगेन्द्र (सम्पा०) हिंदी वक्रोक्ति जीवितम् (भूमिका भाग), पृ० २११-१२
२ बटुकनाथ शर्मा : नाट्य शास्त्र, अ० २३, श्लो० ४२-६६
३ रुद्रट : काव्यालकार, अ० ३, श्लो० ५६
४ वही।

ही यदि कोई अलग सर्ग का निर्माण करता है तो वह या तो गड्डरिका प्रवाह का (अन्धानुसरण) अनुसरण मात्र करता है या अपने अभिमान का प्रदर्शन-मात्र। क्योंकि महाकाव्य के भाव-प्रवेग मे ये यमक-चक्रबन्धादि बाधक ही सिद्ध होते है।'[1]

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने कवि की सहज प्रतिभा से समुद्भूत व सहज निष्पन्न अलङ्कारो को ही स्वागतार्ह समझा है। अलंकार-योजना के लिए कवि अलग से कोई प्रयत्न न करे।[2] भावो की रमणीयता की रक्षा एवं वृद्धि करने मे अलकार साधन-मात्र है साध्य नही। यमक, श्लेष आदि का प्रयोग केवल चमत्कार के हेतु नही परन्तु काव्य-प्रवाह मे सश्लिष्टता लाने के लिए होना चाहिए। सामर्थ्यवान् कवि भी रस के अनुरूप उचित विवेक के साथ ही अलकारो का प्रयोग करे। प्रसग के बीच अलकार सहज रूप मे बैठ जाय और हमारा ध्यान पृथकश. आकृष्ट न करे।

आचार्य अभिनव गुप्त ने 'अलंकार के अभाव मे अलंकार की व्यर्थता मानी है।' वे मानते है कि अनुचित अलंकार्य के प्रसंग मे भी अलंकार अपनी सारी महत्ता खो देता है। अनुचित स्थान पर विन्यस्त अलंकार अपनी हंसी कराते है। इस प्रकार वे अलकार के लिए अलकार्य का अस्तित्व, अलंकार्य का औचित्य और अलकार का उचित स्थान —विन्यास —तीन आवश्यकताओं को अनिवार्य समझते है।[3]

'औचित्य' को एक अलकार के रूप में ग्रहण करने वालो मे भोज प्रमुख है। भोज के 'गति' और 'जाति' अलंकार क्रमश' छन्द, काव्यरूप के तथा भाषा के औचित्य का बोध कराते है। वे 'गति' मे छन्दादि तथा काव्य-रूप के औचित्य को अंतर्भुक्त करते प्रतीत होते हैं और 'जाति' में भाषा-सम्बन्धी औचित्य का अंतर्भाव करते दिखाई पड़ते है।[4] पात्रानुरूप भाषा-प्रयोग ही 'जाति' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। अर्थ-निर्णय की एक कसौटी के रूप मे औचित्य का ग्रहण करते हुए भी वे मूलत' औचित्य को रस से सम्बद्ध मानते है। शब्दों के अनुचित प्रयोग को भोज 'अपद' दोष मानते हैं, रस या भाव-विरुद्ध वर्णन को वे 'विरस' दोष की सज्ञा देते है। लोक-काल-देश विरुद्ध वर्णन को भोज ने तद्विषयक अनौचित्य कहा है। वैशेषिक गुणो को स्वीकार कर भोज ने अनित्य दोषों की गुणत्व-सिद्धि भी समर्थित कर दी है।

अग्निपुराणकार ने भी औचित्य को मुख्यत एक अलकार के रूप मे ग्रहण किया है। 'औचित्य' को शब्दार्थालंकारो में परिगणित कर दिया गया है। 'प्रशस्ति कान्तिरौचित्य सक्षेपो यावदर्थता। अभिव्यक्तिरिति व्यक्त षड् भेदास्तस्य जाग्रति॥'[5] इस 'औचित्य' सज्ञक शब्दार्थालंकार का तात्पर्य है—विषयानुकूल रीति, वृत्ति एव रस

१ हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन' मे पृ० ३०७ पर उद्धृत लोल्लट के श्लोक देखिए।
२ डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (प्रथम खड), पृ० ४८०
३ वही, पृ० ४१६
४. Dr. V Raghavan : Some Concepts of Alankar Sastra, p. 233 234
५ रामलाल वर्मा अग्निपुराण का काव्य-शास्त्रीय भाग, पृ० ३६

की योजना करना ।[1] अलकार के रूप मे औचित्य को ग्रहण करने के अतिरिक्त अग्नि-पुराण मे 'काव्य की परिभाषा', [2] कथा-वस्तु की योजना मे देश-काल की रक्षा, [3] नाटक के प्रारम्भ में करणीय विधि-निषेधो का आदेश[4], दोषो की भावात्मक व अभावात्नक स्थिति एवं उनकी क्वचित् अदोषता[5] सिद्ध कर 'औचित्य' का व्यापक महत्त्व प्रतिपादित कर दिया है।

इस परम्परा मे एक अन्य नाम उल्लेख्य है प्रकाशवर्ष का। वे औचित्य को एक शब्दालंकार के रूप मे ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। यथा 'श्लेषश्चित्रं तथौचित्य प्रश्नोत्तर प्रहेलिका' ।[6] प्रकाशवर्ष ने शब्द और अर्थ, विचार और वाणी, अनुभूति और अभिव्यक्ति की पारस्परिक सह-योजना को 'औचित्य' कहा है। औचित्य के उन्होंने शब्द-गत एव अर्थगत—दो भेद स्वीकार किए हैं। उनका ग्रन्थ 'रसार्णवालकार' यदि उपलब्ध होता तो उनके विस्तृत विचार भी ज्ञात हो सकते थे। पश्चिमी आचार्यों में लोंजाइनस ने शैली-विवेचन के प्रसग में अलंकारों के उचित प्रयोग पर बल दिया है। समुचित-अलकार-योजना के अंतर्गत लोंजाइनस ने दो तथ्यो पर विमर्श किया है—(१) अलंकार-योजना का औचित्य और (२) उदात्त-शैली के पोषक अलंकारो का निर्देश। अलकार का उचित एव सार्थक प्रयोग वे वही मानते हैं, जहाँ वह उक्ति का सहज अंग बनकर उपस्थित होता हो और 'जहाँ इस बात पर भी किसी का ध्यान न जाए कि यह अलकार है।'[7]

छंद-विषयक औचित्य

छंदौचित्य को लेकर आचार्य क्षेमेन्द्र ने एक स्वतंत्र पुस्तक 'सुवृत्त तिलकम्' लिखी है। क्षेमेन्द्र के पूर्व रुद्रट ने छंदौचित्य की मूल-अवधारणा का सकेत कर दिया था। पश्चिम मे अरस्तू के काव्य-रूप व काव्य-विषय की गरिमा के अनुरूप छद-विधान करने का प्रतिपादन किया है।

रुद्रट ने रस तथा प्रकृत प्रसंग के अनुरूप छंद-योजना करने का समर्थन किया है। इस विषय मे प्रयोक्ता की अन्तर्दृष्टि व विवेक को निर्णयात्मक माना है। इसे वे 'व्युत्पत्ति' कहते है—

छंदो व्याकरण कला लोक स्थिति पदपदार्थ विज्ञानम् ।
युक्तायुक्त विवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ।।[8]

१ रामलाल वर्मा : अग्निपुराण का काव्य-शास्त्रीय भाग, पृ० २७८
२. वही, पृ० ३२६
३ वही पृ० ३६
४ वही, पृ० ६०
५ वही, पृ० ६१
६. Dr. V. Raghavan : Some Concepts of Alankar Sastra, p 252
७. डॉ० नगेन्द्र : काव्य मे उदात्त तत्त्व, पृ० ७७
८. रुद्रट : काव्यालंकार, अ० १, श्लो० १८

आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस विचार का विस्तार करते हुए यह कहा है कि किस प्रसग मे कौन-सा छद प्रयोजनीय है। वे मानते है कि निर्दोष एवं गुणयुक्त छदो के उचित प्रयोग मे प्रबन्ध की शोभा बढ जाती है। ये छद मोतियो के समान है। उनके समग्र विवेचन का सार-सग्रह इस प्रकार है—

(१) शास्त्र-रचना मे 'अनुष्टुप' छन्द का प्रयोग करना चाहिए।

(२) पुराण जैसे तथा उपदेश-प्रधान काव्यों में भी 'अनुष्टुप' छंद की योजना करनी चाहिए।

(३) शांत-रस के प्रसग मे भी 'अनुष्टुप' छद की योजना करनी चाहिए।

(४) शृंगार-रस के प्रसग मे विशेषत नायिका के अंग-वर्णन तथा ऋतु-वर्णन के अवसर पर 'उपजाति' छद की योजना इष्ट है।

(५) चन्द्रोदयादि-वर्णन मे 'रथोद्धता' एव नीति-वर्णन मे 'वशस्थ' छद प्रयोज्य है।

(६) दो तथ्यों का परस्पर भेद दिखाने के लिए 'शिखरिणी' का प्रयोग किया जाये।

(७) आक्षेप, क्रोध एवं तिरस्कार के वर्णन में 'पृथ्वी', विपत्ति-वर्णन मे 'मंदाक्रान्ता' छंदों की योजना उचित है।

(८) शौर्य-वर्णन मे शार्दूलविक्रीडित, मुक्तक रचना में तथा सूक्तियो की रचना में 'दोधक', 'तोटक' एव 'नुर्कुट' छद प्रयोज्य है।[1]

डॉ० नगेन्द्र ने अरस्तू के महाकाव्य-विवेचन के प्रसग मे अरस्तू द्वारा प्रतिपादित छद के महत्त्व और औचित्य का सार निम्नलिखित शब्दो में प्रस्तुत किया है—

(१) महाकाव्य मे केवल एक ही छंद का प्रयोग आरम्भ से अंत तक होना चाहिए, क्योकि इससे समाख्यान के अविच्छिन्न प्रवाह की रक्षा होती है। अनेक छदो का मिश्रण इस प्रवाह को खण्डित कर देता है, जिससे महाकाव्य की गरिमा की हानि होती है।

(२) वृत्तों मे षट्पद वीरवृत्त सबसे अधिक भव्य एवं गरिमामय होता है, अत काव्य के सबसे अधिक भव्य और गरिमामय रूप—महाकाव्य के लिए वही सर्वाधिक उपयुक्त है। उसकी लय इतनी भव्य और उदात्त होती है कि असाधारण शब्द उसमे सहज ही रम जाते है। द्विमात्रिक आदि अन्य छद अभिनय आदि के लिए तो अत्यन्त उपयुक्त है, परन्तु वीर-काव्योचित गरिमा उनमे नही है।

(३) वृत्त का चयन किसी शास्त्रीय नियम के अनुसार प्रयत्नपूर्वक नही किया जाता, काव्य-वस्तु की प्रकृति ही स्वानुरूप छद का चयन करा देती है।[2]

काव्यरूप-सम्बन्धी औचित्य

काव्यरूप-विषयक औचित्य से तात्पर्य है विषय के अनुरूप काव्यरूप का चयन।

१. क्षेमेन्द्र : सुवृत्त तिलकम्, तृतीय विन्यास।

२. डॉ० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्य-शास्त्र, पृ० १३६

इसका विस्तार से विचार पश्चिमी काव्य-मीमांसा में हुआ है। कुछ विषय ऐसे हैं, जिन्हें नाटक में निरूपित करना अधिक अनुकूल होता है, कुछ ऐसे हैं, जिन पर महाकाव्य लिखना ही उचित होता है; कुछ ऐसे होते हैं, जिन पर कहानी या उपन्यास रचा जाना ही अधिक सुकर हो सकता है, कुछ केवल कामेडी के लिए ही योग्य समझे जाते हैं। तात्पर्य यह कि विषय स्वतः अपने अनुरूप काव्य-रूप (Poetic form) का तकाजा करता है। विषय के अनुरूप रूप 'विधा' की योजना करना ही काव्य-रूप-सम्बन्धी औचित्य कहलाता है। त्रासदी का विषय कामेडी में निरूपित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार गीति-काव्य का विषय महाकाव्य में निबद्ध नहीं किया जा सकता है। अरस्तू ने इसका किंचित् स्पर्श किया है।

इस विचार का प्रारम्भिक सूत्र एरिस्टोफेनीज के नाटक 'फाग्स' में मिलता है। वहाँ वह विषय के अनुरूप गरिमायुक्त भाषा-प्रयोग पर बल देता है—

'When the subject is great and the sentiment
then of necessity, great grows the word'[1]

पश्चिम में विषयानुरूप काव्य-रूप के प्रयोग के इस विचार का विशेष समर्थन वर्सफोल्ड ने किया है। अपने ग्रंथ 'Judgement in Literature' में अनुभूति की यथार्थ एवं सुन्दरतम अभिव्यक्ति के लिए तदनुरूप माध्यम की आवश्यकता पर वे बल देते हैं। अभिव्यक्ति की इस अनुरूपता को वे काव्यरूपौचित्य कहते हैं। किसी विशेष भावानुभूति के लिए काव्य की भिन्न-भिन्न विधाओं में से कौन-सी विधा अनुकूल है, इसका ध्यान रचयिता को रखना ही चाहिये। विषय-वस्तु के अनुरूप काव्य-रूप का चयन कर कवि को उसे उत्तम रीति से अभिव्यक्त करना चाहिए।[2]

रस-सम्बन्धी औचित्य

'रसौचित्य' पर विस्तृत विवेचन करने का कार्य आचार्य आनन्दवर्द्धन ने किया है। उनके बाद अभिनवगुप्त ने रसौचित्य का विमर्श किया है। अभिनवगुप्त के परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने 'रसाभास' के प्रसंग में रस के औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार किया है परन्तु क्षेमेन्द्र का तद्विषयक विवेचन कुछ माने में विशिष्ट है। रस की पोषक व संवर्द्धक सामग्री का—विभावादि का—रसानुरूपविनियोग ही 'रसौचित्य' की प्रचलित धारणा के अंतर्निविष्ट है। शृंगारादि रसों के निरूपण के प्रसंग में वर्ण से लेकर गुणालंकार तक के सारे धर्मों का तथा विभावानुभाव, संचारि-भावादि रस के उद्भावक व संपोषक तत्त्वों का उचित निबन्ध ही रसौचित्य है और अनुचित निबन्धन ही रसाभास अर्थात् रस-अनौचित्य है। क्षेमेन्द्रेतर सभी आचार्यों ने 'रसौचित्य' से यही अर्थ ग्रहण किया है। उनके ऐसा अर्थ-ग्रहण करने पर

1. Aristophenis, Tr. Gilbert Murray : Frogs, p. 79
2. W. Basil Worsfold : Judgement in Literature, p 80

काव्य में रस की स्वतन्त्र व निर्बाधित स्थिति स्वतः सिद्ध हो जाती है, परन्तु आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य में 'रस' को आत्मा मानते हुए तथा उसकी सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण सत्ता स्वीकार करते हुए भी उसको सर्वथा सर्वतंत्र स्वतन्त्र न मानकर औचित्य से शासित—अंकुशित माना है। समीक्षा-पक्ष में क्षेमेन्द्र 'रस' को भी औचित्यानुशासित मानते हैं। 'रसौचित्य' से क्षेमेन्द्र का यही तात्पर्य है। क्रमशः आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त व क्षेमेन्द्र के 'रसौचित्य'-विषयक विचारों का परिचय प्राप्त करने पर बात स्वतः स्पष्ट हो जाएगी।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने[1] काव्य एवं नाटक—दोनों के संदर्भ में रसौचित्य का विचार किया है। काव्य में अंगी (अर्थात् रस) की सिद्धि के लिए सभी अंगों (अर्थात रसेतर सभी उपकरण) की योजना औचित्यवती होनी चाहिए। वर्ण, रीति, गुण, छन्द, अलंकार आदि अभिव्यक्ति किंवा कलापक्ष से सम्बद्ध सभी तत्त्व या उपकरण काव्यार्थ को प्रकट करने के साधन-रूप है अतः साध्य का प्रकर्ष करने में ही उनका उचित विनियोग होना चाहिए। इस दृष्टि से भाषा—जो कि अभिव्यक्ति का माध्यम है—के छोटे-से-छोटे अंग वर्ण-योजना से लेकर पद-क्रम या संघटन तक के सभी तत्त्वों—प्रत्यय, वचन, कारक, लिंग, समास, संघटना—के रस-पोषी उपयोग पर आचार्य ने बल दिया है। भाव या विचार के क्षेत्र में रसाभिनिवेश के प्रसंग में परस्पर-विरोधी और अवरोधक—रसाकर्षक विभावादि का निबन्धन न करने का आदेश आचार्य ने दिया है। नाटक के प्रसंग में वे इस बात पर अधिक बल देते प्रतीत होते है कि नाटक के वस्तु-संगठन से सम्बद्ध कार्यावस्थाएं, अर्थ-प्रकृतियाँ व संधियाँ औचित्यपूर्ण रीति से परस्पर-योजित व सुसम्बद्ध रहे। प्रबंधकाव्य तथा नाटक में रस का प्रयोग उचित अवसर पर होना ही चाहिए।

अभिनव गुप्त ने काव्य के तीन आधार माने है—(१) रस, (२) ध्वनि और (३) औचित्य। औचित्य से उनका तात्पर्य रसध्वनि के औचित्य से ही है। यथा—

'उचित शब्देन रसविषयौचित्य भवतीति दर्शयन् रसध्वने जीवितत्त्वं सूचयति।'[2]
अर्थात् 'उचित' शब्द से रसध्वनि-विषयक औचित्य ही अभीष्ट है। उसके अभाव में (रस-ध्वनि के अभाव में) औचित्य का उद्घोष निरर्थक है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'रसौचित्य'-विषयक अपना तात्पर्य इन शब्दों में प्रकट किया है 'औचित्येन भ्राजिष्णुः शृंगारादिलक्षणो रसः सकलजन हृदय-व्यापी (वसन्त इव अशोक तरुम्) मनोंकुरितं करोति।'[3] अर्थात् औचित्य से सुशोभित शृंगारादि रस सकल जनों के हृदय में व्याप्त होकर, उन्हें उसी प्रकार आनंदविभोर कर देता है, जिस प्रकार वसंत अशोक-वृक्ष को। उनके इस कथन का तात्पर्य यही है कि रस भी सहृदय

१. आचार्य विश्वेश्वर (संपा०) : ध्वन्यालोक, पृ० २५१-२५७
२. डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (प्रथम खंड), पृ० ७३ पर उद्धृत, लोचन टीकांश।
३. क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा (काव्य माला), पृ० १२४, सू० १

को तभी आह्लादित कर सकता है, जब वह औचित्य से सयुक्त हो (औचित्य से भास्वर हो उठा हो)। औचित्य-रस का सयमन करता है। 'रसौचित्य' की कल्पना रस का अगत्व सिद्ध नही करती परन्तु उसको अकुशित (नियन्त्रित) करती है।

प्रबध-औचित्य

'प्रबन्ध' का रूढ अर्थ है 'महाकाव्य के कथा-प्रवाह का अविच्छिन्न निर्वाह। महाकाव्य मे कथा-प्रवाह का आद्यत अनवरुद्ध प्रवाहित होते रहना ही प्रबन्ध-निर्वाह है। प्रबधौचित्य से काव्य के सदर्भ मे प्रबंध-काव्यो की कथा-शृखला का निर्वाह ही बोध्य होता है। वस्तु-सगठन चाहे महाकाव्य मे हो या नाटक मे, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस विचार से नाटक का वस्तु-सगठन भी इस 'प्रबधौचित्य' शीर्षक के अंतर्गत समाविष्ट हो जाता है, परन्तु क्षेमेन्द्र की 'प्रबन्धौचित्य'-विषयक कल्पना केवल वस्तु-सगठन तक सीमित नही रहती। उससे आगे बढकर वे नवीन व रमणीय अर्थोद्भावना को भी 'प्रबन्धौचित्य' मे समाविष्ट कर लेते है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र मे आनन्दवर्द्धन और क्षेमेन्द्र ने क्रमश वस्तु-सगठन (महाकाव्य मे) और नवीन अर्थोद्भावना के रूप मे प्रबन्धौचित्य पर विचार किया है। पश्चिम मे अरस्तू ने त्रासदी के कथानक-सगठन के प्रसग मे उस पर विचार किया है।

आनन्दवर्द्धन ने वर्ण्य-वस्तु (काव्यार्थ या घटना) की रसानुकूल स्थिति स्वीकार्य मानी है। रस-निष्पत्ति के लिए वे कल्पित घटनाओं के सन्निवेश को एक सीमा तक निर्वाह्य समझते है। इतिवृत्त निर्वाह-मात्र को वे कवि-कर्म की सार्थकता नही मानते। ख्यात, उत्पाद्य और मिश्र कथाओ मे मुख्य और गौण कथा-ततुओं का उचित सवलन वे वाछनीय ही नहीं अनिवार्य समझते हैं। घटनाओं का ग्रहण-त्याग, सकोच, विस्तार, परिवर्तन आदि सब रसानुलक्षी होना चाहिए और चरित्रो का निर्माण उनके द्वारा आघातित न होना चाहिए। इनके वर्णन के निमित्त पात्रो की प्रकृति मे परिवर्तन न किया जाना चाहिए। साराश यह कि समस्त उपकरण समवेत रूप में एक सुन्दर प्रभाव को निरूपित करे।[1]

आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन इस प्रकार है—

'अम्लानप्रतिभा प्रकर्षोत्प्रेक्षितेन सकलप्रबन्धार्थाप्यायिपीयूष वर्षेण समुचितार्थ विशेषेण महाकाव्य स्फुरदिव चमत्कारकारितामापद्यते।'[2]

अर्थात् अम्लान प्रतिभा के प्रकर्ष से समस्त प्रबन्धार्थ को परितृप्त कर देने वाले अमृत की वर्षा-जैसा समुचित विशेषार्थ जब छलक पडता है, तब प्रबन्ध-काव्य (महाकाव्य) चमत्कार-सम्पन्न हो जाता है। 'प्रतिभाप्रकर्षोत्प्रेक्षितेन' से नवीन, चमत्कारी अर्थोद्भावना ही बोधित होती है।

१. आचार्य विश्वेश्वर : ध्वन्यालोक, पृ० २५६
२. क्षेमेन्द्र . औचित्य विचार चर्चा (काव्यमाला, गु० १), पृ० ११९

रसाभास, भावाभास एवं दोष-विचार और औचित्य

भारतीय काव्यशास्त्र मे औचित्य-विचार की एक परोक्ष-पद्धति वह भी है, जहाँ उसके अभाव तथा अनौचित्यजन्य रसाभासो एव भावाभासो की स्थिति पर विचार किया गया है। दोष-विचार की भी स्थिति इसके अतर्गत समाविष्ट हो जाती है।

रसाभास और भावाभास का मूल कारण ही अनौचित्य है। विभावादि के अनुचित निबन्धन के कारण ही उनकी स्थिति होती है। भारतीय समीक्षको द्वारा विमर्शित समस्त रस-दोषों का अतर्भाव इसमे हो जाता है।

आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथादि का औचित्य-चिंतन, इसी पद्धति पर हुआ प्रतीत होता है। मम्मट की 'काव्य-परिभाषा' मे अदोषता पर बल दिया गया है। सातवे उल्लास मे वे पद-दोष, वाक्य-दोष, पदैक-दोष, वाक्यैक-दोष, अर्थ-सम्बन्धी दोष, समासगत-दोष, रस-सम्बन्धी दोषों पर विचार करते है, तो दसवें उल्लास मे अलकार-गत दोषो पर विस्तार से विचार करते है। ग्रन्थ मे सर्वत्र मम्मट की औचित्य-दृष्टि सजग दिखाई पडती है।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने अनौचित्य-प्रवृत्त रस एव भाव को क्रमश रसाभास एव भावाभास की सज्ञा दी है। उनके विचार से मुनि-पत्नी, गुरु-पत्नी, उपनायक, बहु-नायक, प्रतिनायक, अधम पात्र एवं पशु-पक्षियो के प्रति रतिभाव अनौचित्य ही है।[2] उनके द्वारा की गई दृश्यकाव्य मे सूच्यांशों एवं वर्जितांशो की व्यवस्था मे भी औचित्य-दृष्टि क्रियाशील है।

पडितराज जगन्नाथ ने अनुचित रीति से प्रयोजित रस तथा भाव को क्रमश 'रसाभास और भावाभास'[3] कहते हुए भी उन्हें रस-स्वरूप माना है। उनका तर्क यह है कि जिस प्रकार लंगडा घोडा भी घोडा तो रहता ही है, उसी प्रकार रसाभास एव भावाभास भी रस-स्वरूप है। रसो की विरोधी-अविरोधी योजना पर विचार करते हुए, वे विरोधी रसो की योजना न करने का परामर्श देते है। 'सुन्दोपसुन्द' न्याय से विरोधी रस उभय-नाश का कारण बनते हैं। 'अनौचित्य' नामक रस-दोष की स्थिति उन्होंने स्वीकार की है—जिसके भीतर जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था, प्रकृति, व्यवहारादि के अनुचित वर्णनो का समावेश होता है।[4] उनका रसाभास के कारणो का विवेचन प्राय परम्परानिष्ठित ही है, कोई विशेष बात वे नही करते।

आचार्य हेमचन्द्र का तत्सम्बन्धी अधिकाश विवेचन मम्मट के मार्ग पर ही हुआ है। उनकी कुछ स्थापनाओ का सार-सग्रह इस औचित्य के कारण ही स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है।[5] हास्य-रस मे अनौचित्य ही कारण है। अत. हास्य-रस के

१ मम्मट, काव्य-प्रकाश, ७वाँ और १०वाँ उल्लास।
२. कृष्णमोहन शास्त्री (सपा०) साहित्य दर्पण, पृ० २३०
३. बदरीनाथ झा (सपा०) : रस गंगाधर, पृ० १७५
४. वही, पृ० १९५-९६
५ रसिकलाल परीख (सपा०) · काव्यानुशासन, पृ० १०२

प्रसंग में अनौचित्य की सार्थकता है।[1] विभावादि का महत्त्व औचित्य सापेक्ष है। औचित्याभाव में उनकी कोई सार्थकता नही है।[2] अनौचित्य ही रसाभास एव भावाभास का एकमात्र कारण है और अत. स्वशब्द-कथन-दोष वहाँ होता है, जहाँ स्थायी, व्यभिचारी एवं रसादि का स्व-शब्द-कथन किया जाय।[3]

दोष-विचार के रूप मे औचित्य-अनौचित्य का विचार करने में वाग्भट, विद्यानाथ, वाग्भट द्वितीयादि तथा पश्चिमी समीक्षक रोबर्ट ब्रिजेस प्रमुख है। 'वाग्भटालंकार' मे वाग्भट ने काव्य की निर्दोषता पर बल देते हुए कहा है कि 'केवल दोष-हीन काव्य ही लोक मे यश देने वाला और स्वर्ग-पद प्राप्त कराने वाला होता है। दुष्ट-काव्य से तो केवल अपकीर्ति ही बढती है।'[4] उन्होने इसीलिए सर्वप्रथम दोष-विवेचन किया है। वे काव्य में पद-दोष, वाक्य-दोष, वाक्यार्थ-दोष—तीन प्रकार के दोषो की स्थिति मानते है। इन विविध प्रकारो के दोषो का परीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे तत्तद् प्रकार के अनौचित्य के ही रूप है। वाग्भट द्वितीय ने अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' में प्रायः हेमचन्द्र का ही अनुसरण किया है। उन्होने विशेषत प्रकृति-औचित्य और प्रकृति-अनौचित्य का स्पर्श किया है। अनुकरण के प्रसग मे, विदूषक की उक्ति मे अनौचित्य को वे दोष नही मानते। निन्दा तथा प्रोत्साहन के प्रसंग मे अनुचितार्थत्व-दोष नही माना जाता है। मत्त, उन्मत्त, मूर्ख एव अज्ञ जनो की उक्ति मे निरर्थकत्व-दोष नही माना जाता। रसों के परस्पर विरोध-अविरोध के विषय मे उनका मत है कि पृथक्-पृथक् आश्रय में स्थित दूसरे रसों के अन्तर्गत एक रस का अंगत्व न तो दोष ही है और न विरोध ही उपस्थित करता है।[5] उनका औचित्य-अनौचित्य विचार दोष-विचार के रूप मे ही मिलता है।[6]

विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ 'प्रताप रुद्रीय' मे काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योपभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ॥

वे काव्य को गुणालकार युक्त एव दोषवर्जित ही ग्राह्य मानते है। उनका दोष-विचार अत्यन्त विस्तृत है—१७ पद दोष, २४ वाक्य दोष, १८ अर्थ दोष—इस प्रकार ५९ दोषों का विवेचन उन्होने किया है। गुणों के प्रसंग में २४ गुणो का विवेचन उन्होने किया है। सुकुमारता, कांति, उदात्तता, सुशब्दता, आदि इनमे प्रमुख है और अर्थ के विचार से वे औचित्य के अधिक समीप है। 'उर्जस्वी-विवेचन के प्रसंग में रसा-

---

१ रसिकलाल परीख (सम्पा०) : काव्यानुशासन, पृ० ११३
२ वही, पृ० १२६
३ वही, पृ० १४९-५९
४ डॉ० सत्यव्रतसिंह . वाग्भटालंकार, पृ० २०
५ परस्पर बाध्य-बाधक भावे पृथक्पृथकाश्रये अन्य रसैरन्तरितेंगत्वे च न दोषः—काव्यानुशासन।
६. वाग्भट द्वितीय : काव्यानुशासन, पृ० ६०-६८

भासों का भी औचित्यान्तर्गत समावेश उन्होंने कर दिया है।"[1]

रोबर्ट ब्रिजेस ने अपने लेख 'Essay on Poetics' में दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था स्वीकार की प्रतीत होती है। वे 'औचित्य' के लिए 'In keeping' शब्द का प्रयोग करते हैं। आप के विचार में सौन्दर्य-शास्त्र में कोई भी वस्तु स्वतः दोष-युक्त नहीं होती यदि वह संदर्भ-विशेष में औचित्यपूर्ण-संगति के साथ अवस्थित है। औचित्य के कारण दोष भी दोषत्व छोडकर क्वचित् गुणत्व ग्रहण कर लेता है। औचित्य को वे एक सामजस्य स्थापक सिद्धान्त मानते हैं।[2]

ऊर्जस्वी अलकार के रूप में अनौचित्य का औचित्य-ग्रहण ऊर्जस्वी अलंकार के अन्तर्गत क्रोधादि (सामान्यतः गुरुजनों के प्रति क्रोध अनुचित है अतः दोष भी) का औचित्य भी स्वीकार किया गया है। उद्भट,[3] अप्पय दीक्षित[4] और रुय्यक[5] ने भी इसका विवेचन किया है। पूर्व और पश्चिम के आचार्यों में कुछ ऐसे आचार्य भी हैं जो विगत पृष्ठों में चर्चित उपविभागों या श्रेणियों में बन्ध नहीं पाते फिर भी जिनके औचित्य-विषयक विचार महत्त्वपूर्ण हैं अतः अनुपेक्षणीय भी। पूर्व में लोल्लट और जयदेव हैं तथा पश्चिम में कॉलरिज, एम. एच. अब्राम्स तथा आई० ए० रिचर्ड्स हैं, जिन्हें हम भूल नहीं सकते।

लोल्लट ने महाकाव्य में प्राप्त असगत व दीर्घ प्रकृति-वर्णनों की निरर्थकता पर बल दिया है।[6] महाकाव्य के सन्दर्भ में एक विशेष ध्यातव्य बात उन्होंने यह भी कही है कि महाकाव्य में विभिन्न अगों व उपागों के बीच तार्किक सगति होनी चाहिए। हाथी के अगों की भाँति असमानानुपातिक वृद्धि किसी भी अग की न हो। संसार असीम विषयों से (काव्यार्थों से) भरा पड़ा है किन्तु कवि उसी का ग्रहण करे जो सार्थक उपयोगी व सरस हो।[7] जलक्रीडा, संध्या, चन्द्रोदयादि का वर्णन न तो अत्यन्त लम्बा हो न रस के विरोध में ही हो।[8] केवल गतानुगतिकता किंवा वर्णन की शक्ति के प्रदर्शन

१ शंकर राम शास्त्री : प्रताप रुद्रीय, पृ० २०८

2 Dr V Raghavan : Some Concepts of the Alamkar Shastra, p. 255

३ अनौचित्य प्रवृत्तानां काम क्रोधादि कारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥ —उद्भट काव्यालंकार सग्रह, पृ० २९

४ डॉ० भोलाशंकर व्यास : कुवलयानन्द, पृ० २८१-७२

५. Ku Janki (Ed.) : Alamkar Sarvasva, p 217

६ मज्जन पुष्पावचयन सध्याचन्द्रोदयादि वाक्यमिह।
सरसमपि नाति बहुल प्रकृत रसनिन्वित रचयेत्॥
—डॉ० गगासागर राय (सपा) : काव्य मीमांसा, पृ० ११९ पर उदधृत लोल्लट का श्लोक।

७ अस्तु नाम निःसीमार्थ सार्थः। किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य। इति आपराजितिः।
—डॉ० गंगासागर राय (सपा) : काव्य-मीमांसा, पृ० ११९ पर लोल्लट की उद्धृत पंक्तियाँ।

८. ऊपर "१" सख्यक उद्धरण तथा
यस्तु सरिदद्रि सागर पुर तुरग रथादि वर्णने यत्न।
कविशक्तिः ख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह॥
—डॉ० गगासागर राय (सपा०) : काव्यमीमांसा, पृ० ११९ पर उद्धृत श्लोक।

भाव का खातिर यमकादि का प्रयोग न किया जाय।[1]

लोल्लट ने काव्य-कृति के अंगों की तार्किक संगति की बात कही है जो पश्चिमी समीक्षक कॉलरिज के अंग-संगति सिद्धांत एवं एम० एच० अब्राम्स के 'Rule order and Harmony' के साथ आकस्मिक व उद्भूत समता रखती है।

आचार्य जयदेव ने 'अनुचित' नामक एक विशेष दोष को स्वीकार किया है और इस प्रकार औचित्य के प्रति अभावात्मक दृष्टि से विचार किया है। 'अनुचित' दोष वे वहाँ मानते हैं जहाँ, वस्तु के अनुरूप उसका निबन्धन न हो पाया हो—

अनौचित्यं कीर्तिलता तरंगयति य सदा।

अनौचित्यम् अयोग्य सम्बन्ध । कीर्तिलतायास्तरंग सम्बन्धा योग्यत्वात्।[2]

वर्ड्स्वर्थ ने काव्य में जन-भाषा का प्रयोग तथा सामान्य जीवन की घटनाओं का समावेश उचित समझा, किन्तु कॉलरिज उनसे सहमत नहीं हुए। उन्होंने तो काव्य में सौन्दर्य की स्थिति तभी सम्भव मानी, जब उसके अंग-उपांगों में परस्पर सुसंगति हो, औचित्य बुद्धि से नियोजित हुए हों। भव्य भाषा और असाधारण घटनाओं को काव्योक्ति मानते प्रतीत होते हैं। वे 'औचित्य' के लिए 'In keeping' शब्द का प्रयोग करते हैं। उनके औचित्य-विमर्श का सार इस प्रकार है—

(१) काव्य में सामंजस्यपूर्ण इकाई की अन्विति करनी हो तो उसके विभिन्न अंगों की परस्पर औचित्यपूर्ण संगति आवश्यक नहीं अनिवार्य है।[3]

(२) उचित अर्थ काव्य का शरीर है, अलंकार उसकी भावभंगिमा; गति उसका जीवन है और कल्पना—जो कि सर्वत्र रहती है तथा भव्य एवं तर्कपूर्ण इकाई का निर्माण करती है—उसका प्राण है।[4] राजशेखर की 'काव्य-पुरुष' की कल्पना के साथ कॉलरिज की यह कल्पना तुलनीय है।

एम० एच० अब्राम्स ने अपने ग्रंथ The Mirror and the lamp' में औचित्यार्थ का बोध कराने वाले 'Rule, Order & Harmony' शब्दों का प्रयोग किया है।[5] वे मानते हैं कि काव्य का प्रयोजन सत्य एवं गुणों की रक्षा करते हुए मनुष्य को प्रसन्न करना है अर्थात् औचित्य-निर्वाह करते हुए प्रीति-सम्पादन करना है।[6]

---

१ रसिकलाल परीख (संपा०) : काव्यानुशासन, पृ० ३०७ पर उद्धृत श्लोक।

२ जयदेव चन्द्रालोक, पृ० २५ (द्वितीय मयूख)।

३ S. T. Coleridge . Biographia Literaria, p 11

४ Finally good sense is the body of Poetic genius, fancy its drapery, motion its life, and imagination the soul that is everywhere and in each whole.

— S. T. Coleridge : Biographia Literaria, p. 13

५ M. H. Abrams · The Mirror and the Lamp, p 17

६. Ibid, p. 19

काव्य कवि के आंतरिक लक्ष्य के अनुकूल हो और उसमे सम्भावना का तत्त्व भी निहित होना चाहिए।[१]

आइ० ए० रिचर्ड्स ने नैतिक धरातल पर काव्य-मीमांसा करते हुए यह कहा है कि 'कवि ही नीति के बीजों को रोपित करता है, धर्मोपदेशक नही।' अच्छे व्यक्तियो मे पायी जाने वाली रुचिहीनता घातक है। जीवन तब तक सुन्दर नहीं हो सकता, जब तक 'अव्यवस्था व उलझन-भरे तत्त्वो की जड़ें जमी हुई है।'[२] उनके विचार से तत्त्वत कोई भी शब्द न अच्छा है न बुरा, न प्रसन्न कर सकता है न अप्रसन्न; परिस्थिति, प्रसग व परिवेश मे ही वह ग्राह्य-अग्राह्य या अच्छा-बुरा सिद्ध होता है।[३] 'अभिव्यक्ति की सुन्दरता निरर्थक है यदि अनुभूति ही खोखली होगी।'[४] न यह भी आवश्यक है कि अनुभूति को नितान्त सादगी के साथ सक्षिप्त-रीति से प्रस्तुत किया जाय।[५]

औचित्य और हिन्दी के आचार्य

रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे प्रधानतया शब्द-शक्ति-विवेचन, अलंकार-निरूपण, नायक-नायिका-भेद एव शृंगार-रस-विवेचन ही अधिक हुआ है। औचित्यादि सम्प्रदाय प्राय. उपेक्षित ही रहे है। रीतिकालीन शास्त्रीय ग्रन्थो मे यत्किंचित् उपलब्ध औचित्य-सम्बन्धी सामग्री का सार इस प्रकार दिया जा सकता है .

(१) अर्थ-निर्णय की एक कसौटी के रूप मे औचित्य का ग्रहण,
(२) काव्य-गुण के रूप मे औचित्य का स्वीकार,
(३) दोषाभाव के रूप मे औचित्य की स्वीकृति, और
(४) अग-अगी के बीच अनुकूल सम्बन्ध के रूप मे औचित्य की ग्राह्यता।

रीतिकालीन आचार्यों में से सम्भवत किसी ने भी औचित्य को काव्य के अनिवार्य व व्यापक महत्तम तत्त्व के रूप मे न तो ग्रहण ही किया है न व्याख्यात ही। चारुत्व के सहज रहस्य के रूप मे या सामाजिकता के निर्वाह के रूप में औचित्य का जो विमर्श रीति-परवर्ती आधुनिक आचार्यो मे विशेषत आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय तथा आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने किया है—वैसा रीतिकालीन आचार्यो मे से किसी ने भी नही किया।

रीतिकालीन आचार्यों मे प्रथम आचार्य केशवदास ने काव्य की अदोषता पर अधिक बल दिया है।[६] उन्होंने दोष-युक्त कविता को मदिरा-युक्त गगाजल की भाँति अपवित्र अर्थात् अनुपादेय माना है। पथ से भिन्न कविता को वे अर्थी: सुशब्द मे हीन

---

१ M. H. Abrams : The Mirror and the Lamp, p. 19
२. I. A. Richards : Principles of Literary Criticism, p. 62
३. Ibid, p. 136
४. Ibid, p. 199-200
५. I. A. Richards Principles of Literary Criticism, p. 199-200
६. प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सपा०) : केशव ग्रंथावली, भाग १, पृ० १०१

कविता को बधिर, छंदोभंगयुक्त कविता को लंगड़ी, अलंकार से हीन कविता को नग्न और अर्थ से हीन कविता को मृतक मानते हैं।[1]

आचार्य चिंतामणि ने 'कवि कल्पतरु' में औचित्य का स्वरूप स्पर्श किया है। वैयाकरण भर्तृहरि द्वारा प्रवर्तित एवं प्राय सभी भारतीय काव्य-शास्त्रीय आचार्यों द्वारा अनुवर्तित अभिधार्थ निर्णय की एक कसौटी के रूप में 'औचित्य' को चिंतामणि ने भी ग्रहण किया है। चन्द्रालोककार जयदेव (जो 'अनौचित्य' नामक विशिष्ट काव्य-दोष की स्थिति स्वीकार करते हैं) के पथ का अनुसरण करते हुए, आचार्य चिंतामणि भी काव्य की अदोषता समर्थित करते हुए 'अनुचित' संज्ञक शब्द-दोष और 'प्रतिकूलाक्षर' संज्ञक वाक्य-दोष के माध्यम से क्रमशः वर्णन-अनौचित्य और रस-अनौचित्य पर प्रकाश डालते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने आगे चलकर भावाभासों और रसाभासों का विवेचन भी किया है।[2] संस्कृत के पूर्वाचार्यों पर आवृत होकर भी उनका विवेचन स्पष्ट, संक्षिप्त और सुलझा हुआ है।

रीतिकालीन काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में आचार्य भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' का अपना विशिष्ट स्थान है। ग्रंथ के प्रारम्भिक भाग में दासजी ने अर्थ-निर्णय की कसौटी के रूप में 'औचित्य' को विवेचित किया है :

कहूँ उचित तें पाइये एकै अर्थ सुरीति।
तरुपर द्विज बैठो कहै होति विहंग प्रतीति॥[3]

यहाँ 'तरु' के प्रसंग में 'द्विज' का अर्थ पक्षी करना ही उचित है।

अपने ग्रंथ के अध्याय २३-२४ और २५ में दासजी ने दोष, दोषों के प्रकार, दोषों की निर्दोषता व क्वचित् गुणत्व-प्राप्ति का निर्वचन किया है। दासजी द्वारा वर्णित शब्द-दोषों को क्षेमेन्द्र-निरूपित पद-अनौचित्य के भीतर रखा जा सकता है। उनके द्वारा निरूपित 'प्रतिकूलाक्षरादि' वाक्य-दोष क्षेमेन्द्रीय वाक्य-अनौचित्य में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। दासजी के 'अपुष्टार्थादि' अर्थ-दोषों का भी क्षेमेन्द्रीय दृष्टि में प्रबन्धार्थ एवं विचार-सम्बन्धी अनौचित्य में अन्तर्भाव हो जाता है। उन्होंने जिन रस-दोषों का विवेचन किया है वे क्षेमेन्द्र-निरूपित रस-सम्बन्धी अनौचित्य का ही अपर रूप हैं। ये सारे दोष नित्य-दोष नहीं हैं। कभी-कभी ये भी अपना दोषत्व छोड़कर गुणत्व ग्रहण कर चारुत्व की वृद्धि करते हैं। दोषों के गुणत्व ग्रहण कर विस्तृत विवेचन आचार्य भिखारीदासजी ने किया है।[4]

ऊर्जस्वी अलंकार के विवेचन के प्रसंग में भी आपने अनुचित भाव या रस का औचित्यपूर्ण निबन्धन ग्राह्य माना है --

---

१. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (संपा०) केशव ग्रंथावली भाग १, पृ० १०२
२. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ७२
३. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (संपा०) . भिखारीदास ग्रंथावली (द्वितीय खंड), पृ० ७
४. वही, पृ० २१८-२५०

ऊधो तहाइ चलो ल हम जहं कूबरि कान्ह बसे इक ठोरी ।
देखिए दास अघाइ अघाइ तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी ।
कूबरी सों कछु पाइये मंत्र लगाइये कान्ह सों प्रेम की डोरी ।
कूबर भक्ति बढाइये बृंद चढ़ाइये चंदन बंदन रोरी ।।'[1]

इस उदाहरण को स्पष्ट कर उसकी टीका में दासजी लिखते है—

'मौति' को मुख देखिबे की उत्कण्ठा, मन्त्र लीबे की चिंता और कूबर की भक्तिये तीन्यौ भावाभास है, सो बीभत्स रस को अंग है ।'[2]

उपयोगितावादी दृष्टि से सम्पन्न आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने नायक-नायिका भेद जैसे कुछ विषयों का पारम्परीण अनुसरण न करने की बात कहते हुए भी औचित्य के प्रति उदार व सजग दृष्टि से काम लिया है। 'रसज्ञरंजन' में विषय के अनुकूल छंद-योजना[3], अनुप्रासादि अलंकारों की सहज व सार्थक योजना[4], रस-विरोधी रूक्षाक्षरों का परिहार एवं मृदु-ललित रसानुकूल वर्णों की योजना[5], भावानुरूप शब्द-प्रयोग[6], अर्थहीन व निरुपयोगी शब्दों का त्याग[7], अश्लीलता एवं ग्राम्यता से काव्य की रक्षा[8] तथा देश, काल एवं लोक-विरुद्ध कथन न करने की बात पर बल दिया है।[9]

समग्र विवेचन का समाहार करते हुए वे कहते है कि कवि का धर्म केवल 'पावस पचासा' लिखना नहीं है।[10] कविता को प्रभविष्णु बनाने के लिए उन्होंने उचित एव बिम्बग्राही वर्णनोचित पदावली का प्रयोग करने पर सानुरोध बल दिया है।[11]

शब्द-शक्ति-विवेचन के प्रसंग में शुक्लजी ने पूर्व-परम्परा में प्राप्त 'औचित्य' को अभिधार्थ निर्णय की कसौटी के रूप में ग्रहण किया है।[12] शब्द-प्रयोग के औचित्य को स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि विपन्नावस्था में कृष्ण का स्मरण करते समय उन्हे 'हे कंस निकंदन'' 'हे मुरारे' कहकर पुकारना ही उचित है।[13] नवीनता के मोह में पड़कर किसी प्राचीन परम्परा-प्राप्त ऐतिहासिक अथवा पौराणिक चरित्र के साथ खिल-

१. प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : भिखारीदास ग्रन्थावली (द्वि० खण्ड), पृ० ४०
२. वही, पृ० ४०
३. महावीर प्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ रंजन, पृ० १४
४. वही, पृ० १६-१७
५. वही, पृ० १८-२०
६. वही, पृ० २१
७. वही, पृ० २२
८. वही, पृ० २२
९. वही, पृ० २२
१०. वही, पृ० २७
११. वही, पृ० ५६-५७
१२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा, पृ० ३१२
१३. वही, पृ० ३६

बाड़ करने के वे विरोधी थे। अतः वे पात्र या चरित्र में मनमाना परिवर्तन करने के पक्षपाती नहीं थे।[1] एक स्थान पर वे कहते हैं कि "केवल अपने समय की परिस्थिति विशेष को लेकर जो भावनाएँ उठती है, उनके आश्रय के लिए जबकि नए आख्यानों और नए पात्रों की उद्भावना स्वच्छन्दतापूर्वक की जा सकती है, तब पुराने आदर्शों को विकृत या खण्डित करने की क्या आवश्यकता है?" आचार्य आनन्दवर्द्धन की भाँति आप भी अनौचित्य को ही[2] एकमात्र रसभंग का कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि 'पूर्ण रस में कसर आलम्बन के अनौचित्य और अनुपयुक्तता के कारण होगी साधारणत्व के कारण नहीं।"[3]

आश्रयगत एवं आलम्बनगत विरोध को रसभंग का कारण मानते हुए परस्पर-विरोधी भावों की एक स्थानीय स्थिति वे अप्रयोजनीय व घातक मानते हैं। उनका कहना है कि "बहुत से भाव ऐसे होते हैं—जो एक ही आलम्बन के प्रति एक साथ नहीं हो सकते जैसे जिस व्यक्ति के प्रति कोई रति भाव प्रकट कर रहा है, उसी के प्रति उसी अवसर पर वीर-भाव या जुगुप्सा का भाव नहीं प्रकट कर सकता।"[4]

शुक्लजी के समस्त विवेचन में परम्परा-पालन के साथ-साथ निजी मौलिक दृष्टि भी संलग्न है। शुक्लजी ने औचित्य को शब्दार्थ निर्णय की एक कसौटी, अवसर एवं भावोचित पद प्रयोग, ऐतिहासिक व पौराणिक चरित्रों की रक्षा एवं अविकृति, प्राचीन आदर्शों की रक्षा का प्रयत्न, रस या चारुत्व का रहस्य तथा अनौचित्य को रसभंग का एकमात्र कारण, परस्पर-विरोधी भावों एवं रसों की योजना का परिहार आदि दृष्टियों (आदि रूपों में) से ग्रहण किया है। प्रधानतया रस-दृष्टि की ही रही है।

आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने औचित्य पर दो दृष्टियों से विचार किया है : (१) लोक-व्यवहार की दृष्टि से और (२) शास्त्रीय दृष्टि से। शास्त्रीय दृष्टि में आपने काव्य-शास्त्रीय व सौंदर्य-शास्त्रीय—दोनों दृष्टियों से विचार किया है।

लोक-व्यवहार की दृष्टि से विचार करने पर उनकी दृष्टि से 'औचित्य' मनुष्य के आचरण के सत् एवं असत् का निर्णायक ठहरता है। मनुष्य के सद्व्यवहार और असद् व्यवहार का निश्चय औचित्य की कसौटी पर ही होना है। औचित्य से विरहित व्यवहार को ही वे 'असद् व्यवहार' की संज्ञा देते हैं। औचित्य लोक-व्यवहार की सीमा का निर्धारण करने वाला तत्त्व है। औचित्य के अभाव में सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न होकर अव्यवस्था के गर्त में जा गिरेगा।[5]

कला एवं सौन्दर्य-जगत् में 'औचित्य' के स्थान व महत्त्व को आचार्यजी ने

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा, पृ० ३६
२ वही, पृ० ५१
३ वही, पृ० ७२
४ वही, पृ० २०५
५ आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र, भाग २, पृ० २६

सुष्ठु रीत्या प्रतिपादित किया है। आप कहते हैं कि "संसार में सौन्दर्य की भावना इसी औचित्य तत्त्व के ऊपर आश्रित है। प्रत्येक वस्तु का अपना विशिष्ट तथा निर्दिष्ट स्थान है, जहाँ से भ्रष्ट होकर उसका मूल्य तथा महत्त्व नष्ट हो जाता है। शरीर को सुसज्जित करने के लिए आभूषणों की सृष्टि की गई है। परन्तु इन आभूषणों का आभूषणत्व तभी तक है, जब तक वे उचित स्थान में धारण किये जाते हैं। अनुचित स्थान पर धारण किया गया अलंकार केवल असुन्दर ही नहीं प्रतीत होता प्रत्युत् धारण करने वाले की मूर्खता का कारण बनकर उसे उपहासास्पद भी बना देता है।"[1]

अनौचित्य को आश्रय देने वाली कला को वे कला नहीं मानते।[2] काव्य-कला एवं नाटक में रस की चारुता का रहस्य वे औचित्य को ही मानते हैं।[3] 'औचित्य' को काव्य के अतरंग, गूढ़ एवं सूक्ष्म तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित कर उसे वे विश्व-साहित्य के इतिहास में भारतीय साहित्य की महनी व महिमाशालिनी देन मानते हैं।[4]

आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय की ही भाँति, आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी औचित्य पर सामाजिकता के दृष्टिकोण से तथा साथ ही चारुत्व के रहस्य के रूप से विचार करते हुए प्रतीत होते हैं। कलागत औचित्य को भी वे सामाजिकता के द्वारा अनुशासित समझते हैं। आचार्यजी का कहना है कि—

"औचित्य-अनौचित्य का सारा विचार अभिनवगुप्तपादाचार्य ने सामाजिकता की ही दृष्टि से किया है। रीति-बद्ध कविता करने वाले कितने ही कर्ताओं ने औचित्य का विचार किये बिना ही अलंकारों की योजना कर दी है। यदि कोई करुण प्रसंग में यमक की कारीगरी दिखाने बैठे तो क्या कहा जायेगा? यही न कि कविजी सामाजिकता से कोसों दूर हैं। 'यम' के प्रसंग में यमक न लाना ही बुद्धिमानी है। यथार्थ से, सामाजिक व्यवहार से इसका मेल नहीं।"[5]

औचित्य को मूलतः सामाजिकता से सम्बद्ध मानते हुए भी आचार्यजी उसे अनुभूति-प्रवाह से घनिष्ठतम रूप में सम्बद्ध मानते हैं। इसी कारण वे एक स्थान पर लिखते भी हैं कि "चारुत्व प्रवाह में जो स्थान वक्रोक्ति का है, वही स्थान अनुभूति-प्रवाह में औचित्य का है।"[6] महिमभट्ट के विचारों का उल्लेख करते हुए वे औचित्य को काव्य-स्वरूप-निर्माण का मूलाधार मानते हैं तथा रसात्मा काव्य को अनौचित्य के स्वल्प स्पर्श-मात्र से भी दूषित समझते हैं। रसादि की प्रतीति में विघ्न-रूप होने से अनौचित्य को तो वे सब स्थितियों में परिहार्य (परिहर्तव्य) ही समझते हैं। अनौचित्य

१. आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० २९-३०
२. वही, पृ० ३१
३. वही, पृ० ३२
४. वही, पृ० १३०
५. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : वाङ्मयविमर्श, पृ० १४८
६. वही, पृ० १८७

को वे दोष का सामान्य लक्षण ही कहते है।[1]

आचार्यजी के 'औचित्य' विषयक विस्तृत विचार परिशिष्ट में दिये गये पत्र मे द्रष्टव्य है।

विराट मानव-मूल्यो व मानवता पर ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का समस्त साहित्य-चिन्तन प्रतिष्ठित है। 'औचित्य'-विचार करते समय वे कवि एवं भावक (समीक्षक) दोनों की दृष्टियो से औचित्य के स्वरूप व महत्त्व पर विचार करते है। उनके सामने कुछ प्रश्न हैं—शब्द की सार्थकता क्या है? किसी कार्य या व्यापार से औचित्य का निर्णय कैसे किया जाय? आदि।

इन प्रश्नों के अनुचिन्तन मे वे उत्तर भी देते है—

(१) एक व्यक्ति के चित्त मे उदित उचित अर्थ को दूसरे व्यक्ति के चित्त मे प्रवेश करा देना ही शब्द की सार्थकता है। (२) बृहत्तर मानवीय नैतिकता के तुला-दण्ड पर रखकर ही हम प्रत्येक कार्य के औचित्य का निर्णय कर सकेंगे। उनके विचार से वह सब कुछ उचित है, जो मनुष्य को चेतनधर्म (मनुष्यता) के साक्षात्कार की ओर ले जाय। यहाँ पर द्विवेदीजी ने औचित्य पर बडे व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया है। काव्य में कलागत औचित्य की यथार्थ महिमा स्वीकार करते हुए भी वे विषय-वस्तु-सम्बन्धी औचित्य पर अधिक बल देते है, जो यथार्थ म अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है, क्योंकि यदि मूलत. काव्य-वस्तु या विषय ही उचित न होगा, तो वह आस्वाद्य बन ही कैसे पाएगा? प्रत्येक सर्जक अत्यन्त सजगता के साथ वस्तुगत औचित्य के सन्निवेश पर सतर्क रहे। वस्तुगत औचित्य की रक्षा वे कवि व भावक दोनों की दृष्टियो से अनिवार्य समझते है।[2]

स्व० आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने औचित्य के विषय मे निम्न जिज्ञासाएं[3] उपस्थित की है—(१) औचित्य कोई स्वतंत्र काव्य-सिद्धांत है या एक विचारधारा मात्र? (२) औचित्य केवल अंग-नियोजन मे है या अर्थ-विषय मे भी? (३) पश्चिमी अंग-संगति और भारतीय औचित्य-विचार में परस्पर क्या साम्य-वैषम्य है? (४) औचित्य की प्रकृति स्थिर है या गतिशील? (५) औचित्य का एकमात्र स्रोत लोक ही है या शास्त्र भी? (६) क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य को औचित्य का भेद मानकर रस को एक काव्यांग ही माना है या काव्यात्मा? यदि रस काव्यांग है, तो अंगी कौन? (७) क्षेमेन्द्र ने औचित्य के भेद-प्रभेदो मे रसाभासो एव भावाभासो की चर्चा क्यों नही की?

इन प्रश्नो के उत्तर उन्होंने दिये है—(१) औचित्य रस एवं ध्वनि-सिद्धान्त की भाँति स्वतन्त्र काव्य-सिद्धान्त नही है। उनके विचार मे औचित्य मे स्वतन्त्र काव्य-सिद्धान्त का स्थान ग्रहण करने जितनी मौलिकता न थी। वे औचित्य को काव्य

---

१ आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र · वाङ्मय विमर्श, पृ० १८७

२ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी औचित्य विमर्श, पृ० १६८-६९

३ वही (भूमिका), पृ० ९६२ ६६

के विभिन्न तत्त्वो की संतुलित योजना करने वाला एक विचार मानते है। (२) औचित्य केवल अंग-नियोजन ही नही है, वह उससे व्यापकतर वस्तु है। (३) पश्चिमी अंग-संगति और भारतीय औचित्य-विचार मे साम्य यह है कि दोनों का लक्ष्य काव्य को सयत, सुचारु बनाकर, उसके विरोधी या घातक तत्त्वो को रोककर काव्य के स्वरूप मे एक व्यवस्था लाना है। वैषम्य यह है कि औचित्य अंग-संगति से व्यापकतर है। अंग-संगति की प्रसक्ति केवल कला-पक्ष तक सीमित है, जबकि औचित्य-विचार, कला-पक्ष एवं नीतिशास्त्रीय सीमाओ को भी स्पर्श करता है। (४) औचित्य के प्रतिमान गतिशील है, क्योंकि वे सदैव लोकाश्रित है और लोक का स्वरूप कभी स्थिर नही होता, सदैव गतिशील ही रहता है। (५) लोक से अविरुद्ध होकर भी औचित्य काव्य और शास्त्र की परम्परा मे गृहीत नैतिक आदर्शों से भी सम्बद्ध है। (६) रसौचित्य की कल्पना करते समय क्षेमेन्द्र औचित्य पर कवि या सर्जक के दृष्टि-कोण से नही, किन्तु भावक या समीक्षक के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। क्षेमेन्द्र केवल इतनी जाँच-भर कर लेना चाहते है कि 'रस' भी उचित ढंग से निबद्ध हुआ है या नहीं। इससे 'रस' का अंगत्व सिद्ध नही हो जाता है। रस की सत्ता पर कोई आघात नहीं पहुँचता। (७) पूर्वाचार्यों ने रसाभासो और भावाभासों की चर्चा की है, अतः क्षेमेन्द्र पिष्टपेषण करना नही चाहते थे। निष्कर्षत वे मानते है कि क्षेमेन्द्र का औचित्य-मत अपेक्षाकृत अधिक बुद्धि-सम्मत एवं वास्तविक, परिवर्तनशील सामाजिक-नैतिक आदर्शों के साथ नित्य-सुसंगत मत है। वे उसे आत्मवादी सिद्धान्त न मानकर व्यावहारिक समीक्षा की एक विशिष्ट पद्धति (विधि) मानते हैं। कलागत सामंजस्य और नैतिक आदर्शों का संयोजन कर काव्य के द्वारा सामाजिक आह्लाद के लक्ष्य की पूर्ति कराने में औचित्य-मत अधिक सफलता प्राप्त करता है। उनके मत से 'औचित्य-मत' भारतीय काव्यशास्त्र की विचारणा का एक उल्लेखनीय मत है।

आचार्य डॉ० नगेन्द्रजी के औचित्य-विषयक विचारो का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) सामान्य भाषा काव्य-भाषा से भिन्न होती है। काव्य-भाषा मे रस दशा तक पहुँचाने की क्षमता होनी चाहिए। काव्य-भाषा मे रस-दशा तक पहुँचाने की इस क्षमता का विरोधी तत्त्व है अनौचित्य। औचित्य का व्यतिक्रम ही समस्त दोषों का मूल है। रस का उत्कर्षक तत्त्व है गुण और अपकर्षक तत्त्व है दोष। साहित्य मे पद-विषयक, व्याकरण-विषयक, बुद्धि एव भावना-विषयक औचित्य आवश्यक माना गया है। इनमे पद-विषयक एव व्याकरण-विषयक औचित्य का सम्बन्ध भाषा मे है। पद-विषयक औचित्य शब्द और अर्थ के सामंजस्य पर एवं व्याकरण-विषयक औचित्य पदों की आर्थी व्यवस्था पर आश्रित रहता है। बौद्धिक औचित्य भी अन्ततोगत्वा शब्द-चयन मे आवश्यक विवेक से सम्बद्ध होने के कारण भाषा-प्रयोग की संगति अर्थात् औचित्य से सम्बद्ध है। अतः काव्य-भाषा मे तीन प्रकार के औचित्यों का ध्यान रखना आवश्यक है। अन्तिम औचित्य, भावना-विषयक औचित्य स्पष्टतः रस से सम्बद्ध है। इन औचित्यों

के अभाव में उत्पन्न होने वाले दोषो की चर्चा करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते है कि पद-विपयक औचित्य के अभाव मे श्रुतिकटुत्वादि पद-दोष उत्पन्न होते है। व्याकरण-विषयक औचित्य के अभाव मे न्यूनपदत्वादि वाक्य-दोषो का जन्म होना है। बौद्धिक औचित्य के भग से प्रसिद्धि-त्याग आदि दोषो का उद्भव होता है। भावना विषयक औचित्य न रहने से अश्लीलता आदि रस दोषो की सभूति होती है। इन दोषो से मानसिक सवेदन मे असामंजस्य, अर्थ ग्रहण मे अवरोध, बौद्धिक सवेदनो पर आघात और रसानुभूति म विरोध उत्पन्न होता है।[1]

(२) श्रुतिकटुत्वादि के कारण विरोधी ऐन्द्रिय चित्र का आरोप होने से ग - बड हो जाती है। न्यूनपदादि के कारण मानसिक चित्र बहुत धुधला और अस्पष्ट बन जाता है। रस दोषों के कारण दो परस्पर-विरोधी मानसिक चित्रो का एक-दूसरे पर आरोप होने से भावचित्र पूरा नही हो पाता।[2]

शास्त्रीय पीठिका पर तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से डॉ० नगेन्द्र ने औचित्य पर विमर्श किया है।

औचित्य : भेद, वर्गीकरण एव व्यापक महत्व

भारतीय-समीक्षा मे 'औचित्य' के भेदोपभेद-निरूपण का इतिहास बहुत सक्षिप्त व सरल ही है। सर्वप्रथम भरत ने नाटक के सन्दर्भ मे 'औचित्य' के प्रमुख दो भेद निरूपित किए: (१) 'अभिनयौचित्य' और (२) 'प्रकृत्यौचित्य'। 'अभिनयौचित्य' के अन्तर्गत वे पात्र के वय, जाति, अवस्था आदि के अनुरूप वेश, वेश के अनुरूप गति, गति के अनुरूप पाठ्य, पाठ्य के अनुरूप अभिनय का समावेश करते है। 'प्रकृत्यौचित्य' से उनका तात्पर्य पात्र की प्रकृति—दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य—की रक्षा एवं तदनुरूप व्यवहार का सन्निवेश करना है। परवर्ती प्रमुख आचार्यों के औचित्य-विमर्श व औचित्य-भेद-निरूपण के बीज भरत के इन भेदों में ही है।

यशोवर्मन् ने महाकाव्य के प्रसग मे औचित्य के प्रमुख दो भेदो का निरूपण किया—(१) 'वचनौचित्य' (अर्थात् भाषौचित्य)। (२) 'रसौचित्य' महाकाव्य और नाटक में अवसरोचित रस-पुष्टि को वे रसौचित्य कहते है तथा पात्रानुरूप भाषा-प्रयोग को वचनौचित्य।

रुद्रट ने काव्य-मीमांसा के प्रसंग मे ही औचित्य के छह भेद निर्वचित किये—(१) 'छन्दौचित्य', (२) 'वृत्त्यौचित्य', (३) 'अलङ्कारौचित्य', (४) 'वस्तु-औचित्य', (५) 'विषयौचित्य', (६) 'पद-सघटनौचित्य'। निश्चय ही रुद्रट का यह भेद-निरूपण मौलिक है। चिन्तन-सूत्र भले ही पूर्वाचार्यो से मिला हो, परन्तु काव्य के मुख्य उपकरणो से सम्बद्ध इन छह औचित्य-भेदों की कल्पना आचार्य की प्रथम कल्पना है तथा मौलिक प्रतिभा का परिचय देती है।

आनन्दवर्द्धन ने भी छह प्रकार के औचित्य-भेद विवक्षित किये है: (१)

१. डॉ० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ७६-८०
२. वही, पृ० ७६-८०

'सघटनौचित्य', (२) 'रीति-औचित्य', (३) 'गुणौचित्य', (४) 'अलकारौचित्य', (५) 'प्रबन्धौचित्य' और (६) 'रसौचित्य'। आचार्य रुद्रट से एक कदम आगे बढ़कर आनन्दवर्द्धन ने अलंकार, प्रबन्ध व रस का भी स्पर्श कर लिया है। रुद्रट ने रसौचित्य पर विचार नही किया था, आनन्दवर्द्धन ने कर लिया। रुद्रट से आधार पाकर भी आनन्दवर्द्धन ने अपनी पर्याप्त मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। अभिनवगुप्त भेदोपभेद-निरूपण मे नही पड़े। उन्होंने तो केवल व्याख्या की है। इन व्याख्याओं मे उनका पाण्डित्य झलकता है। उनके शिष्य क्षेमेन्द्र ने विस्तृत भेदोपभेद-निरूपित किए हैं :

(१) पदौचित्य, (२) वाक्यौचित्य, (३) प्रबन्धौचित्य, (४) गुणौचित्य, (५) अलकारौचित्य, (६) रसौचित्य, (७) क्रियौचित्य, (८) कारकौचित्य, (९) लिंगौचित्य, (१०) वचनौचित्य, (११) विशेषणौचित्य, (१२) उपसर्गौचित्य, (१३) निपातौचित्य, (१४) कालौचित्य, (१५) देशौचित्य, (१६) कुलौचित्य, (१७) व्रतौचित्य, (१८) तत्त्वौचित्य, (१९) सत्त्वौचित्य, (२०) अभिप्रायौचित्य, (२१) स्वभावौचित्य, (२२) सार-सग्रहौचित्य, (२३) प्रतिभौचित्य, (२४) अवस्थौचित्य, (२५) विचारौचित्य, (२६) नामौचित्य, (२७) आशीर्वादौचित्य।

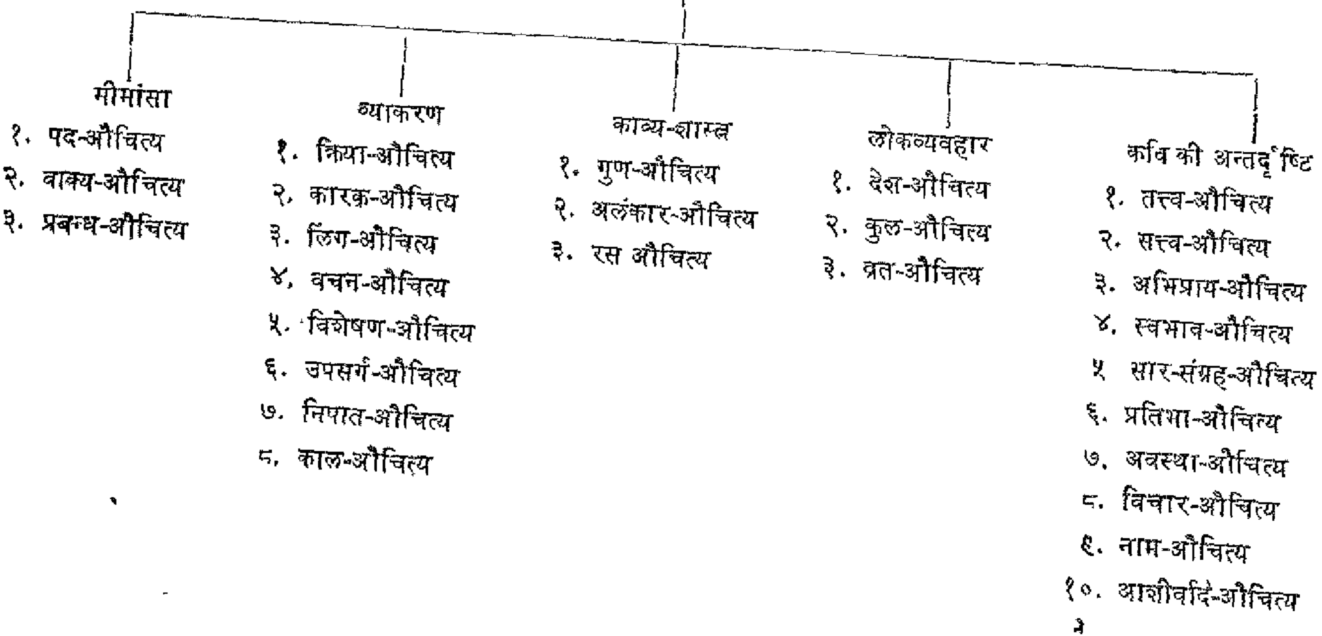
अन्त मे क्षेमेन्द्र ने 'काव्यस्यागेषु च प्राहुरौचित्य व्यापिजीवितम्' कहा है अर्थात् इसी प्रकार काव्य के अन्य अंगो के औचित्य की बात आचार्यों ने की है। क्षेमेन्द्र की इस पक्ति के आधार पर कुछ विद्वान् 'अन्य काव्याग सम्बन्धी औचित्य' नामक २८ वाँ भेद भी प्रकल्पित करते प्रतीत होते है।

क्षेमेन्द्र परवर्ती आचार्यों मे भेद-निरूपण की यह प्रवृत्ति मन्द पड गयी। आधुनिक विद्वानो में पुनः इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का प्रमुख बड़े-बड़े वर्गो में अन्तर्भाव करने की प्रवृत्ति हुई। अर्थात् विश्लेषण से सश्लेषण की ओर प्रवृत्ति होने लगी। डॉ० मनोहर लाल गौड तथा डॉ० रामपाल विद्यालकार ने इसी आधार पर अपने वर्गीकरण प्रस्तुत किये है, जो क्रमश- यहाँ दिए जा रहे हैं।

डॉ० मनोहर लाल गौड

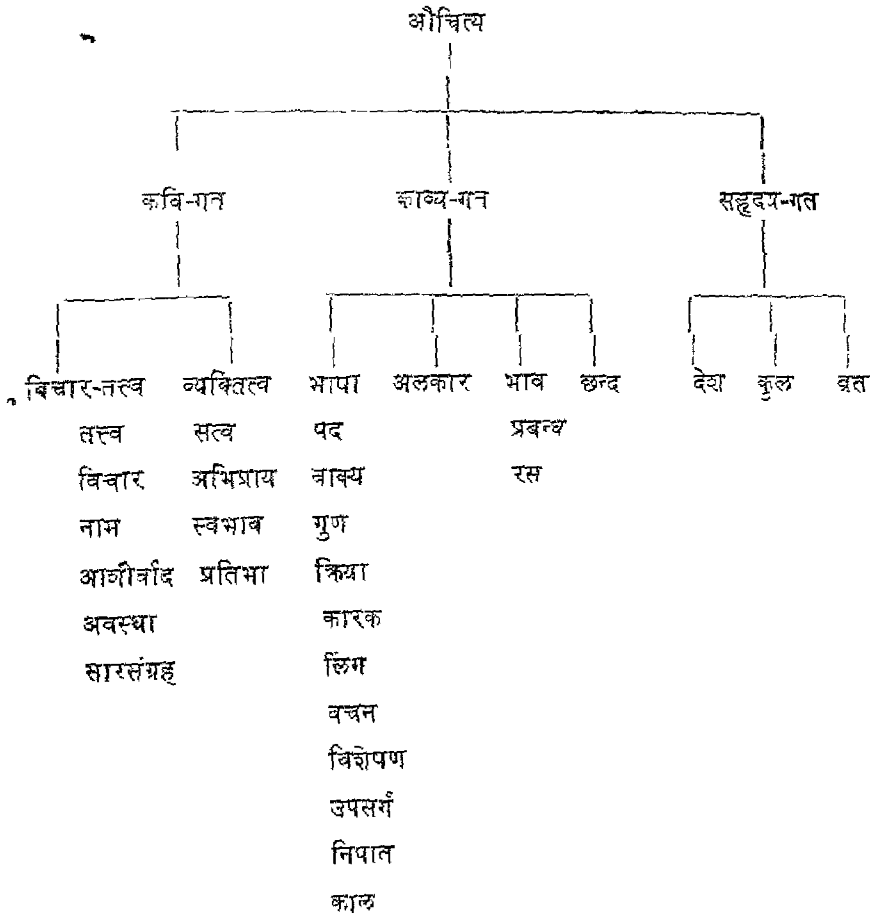
औचित्य

शब्द-गत	काव्य-शास्त्र-गत	चरित्र-गत	परिस्थिति-गत
१ पद-औचित्य	१. प्रबंध-औचित्य	१. व्रत-औचित्य	१. काल-औचित्य
२ वाक्य-औचित्य	२. गुण-औचित्य	२. सत्त्व-औचित्य	२. देश-औचित्य
३ क्रिया-औचित्य	३. अलंकार-औचित्य	३. अभिप्राय-औचित्य	३ कुल-औचित्य
४ कारक-औचित्य	४. रस-औचित्य	४ स्वभाव-औचित्य	४ अवस्था-औचित्य
५ लिंग-औचित्य	५. सार-संग्रह-औचित्य	५ प्रतिभा-औचित्य	
६. वचन-औचित्य	६ तत्त्व-औचित्य	६. विचार-औचित्य	
७. विशेषण-औचित्य	७ आशीर्वाद-औचित्य	७ नाम-औचित्य	
८. उपसर्ग-औचित्य	८. काव्य के अन्यांग-औचित्य		
९ निपात-औचित्य			

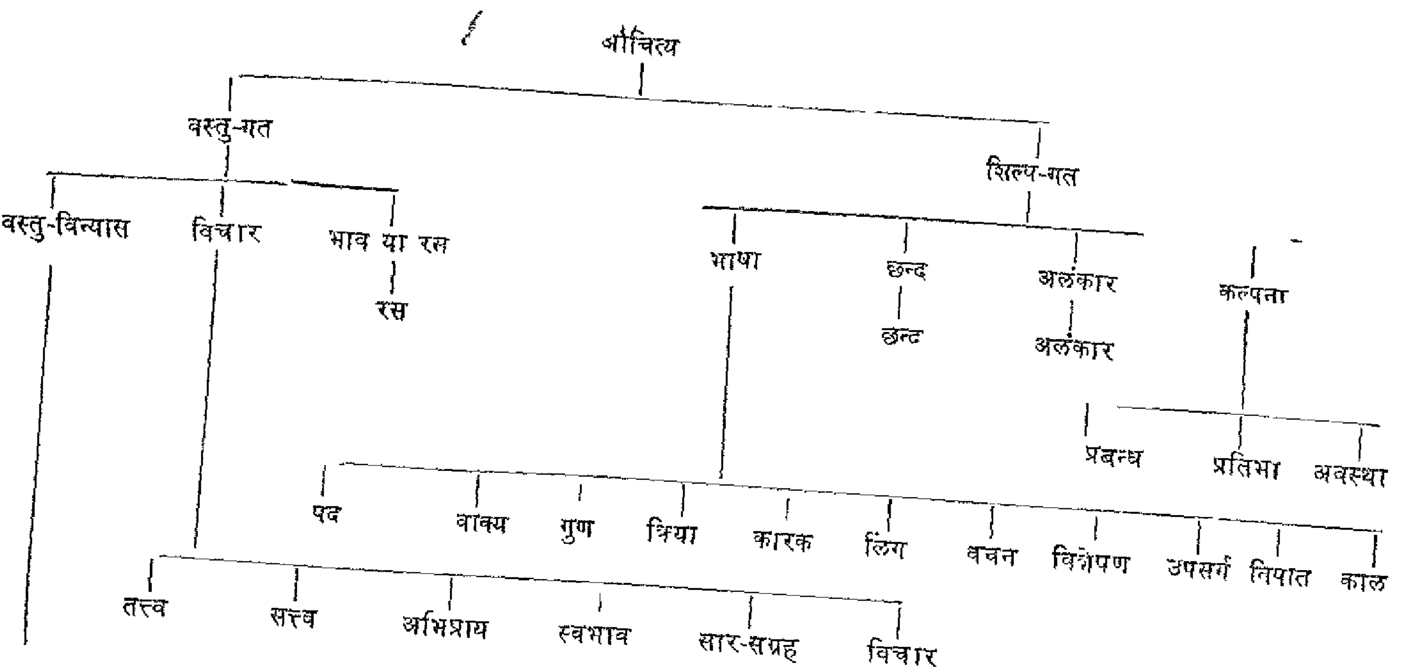

डॉ० रामपाल विद्यालंकार
औचित्य
मीमांसा
१. पद-औचित्य
२. वाक्य-औचित्य
३. प्रबन्ध-औचित्य
व्याकरण
१. क्रिया-औचित्य
२. कारक-औचित्य
३. लिंग-औचित्य
४. वचन-औचित्य
५. विशेषण-औचित्य
६. उपसर्ग-औचित्य
७. निपात-औचित्य
८. काल-औचित्य
काव्य-शास्त्र
१. गुण-औचित्य
२. अलंकार-औचित्य
३. रस औचित्य
लोकव्यवहार
१. देश-औचित्य
२. कुल-औचित्य
३. व्रत-औचित्य
कवि की अन्तर्दृष्टि
१. तत्त्व-औचित्य
२. सत्त्व-औचित्य
३. अभिप्राय-औचित्य
४. स्वभाव-औचित्य
५ सार-संग्रह-औचित्य
६. प्रतिभा-औचित्य
७. अवस्था-औचित्य
८. विचार-औचित्य
९. नाम-औचित्य
१०. आशीर्वाद-औचित्य

इन वर्गीकरणो पर पुन. विचार अपेक्षित है। डा० गौड का वर्गीकरण यादृच्छिक है तो डा० विद्यालकार ने भी वर्गीकरण के आधारों का स्पष्ट रेखाकन या विभाजन नही किया।

कवि, काव्य और सहृदय (भावकभूत समीक्षक) के त्रैत को केन्द्र मे रख कर इन २८ भेदो को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :

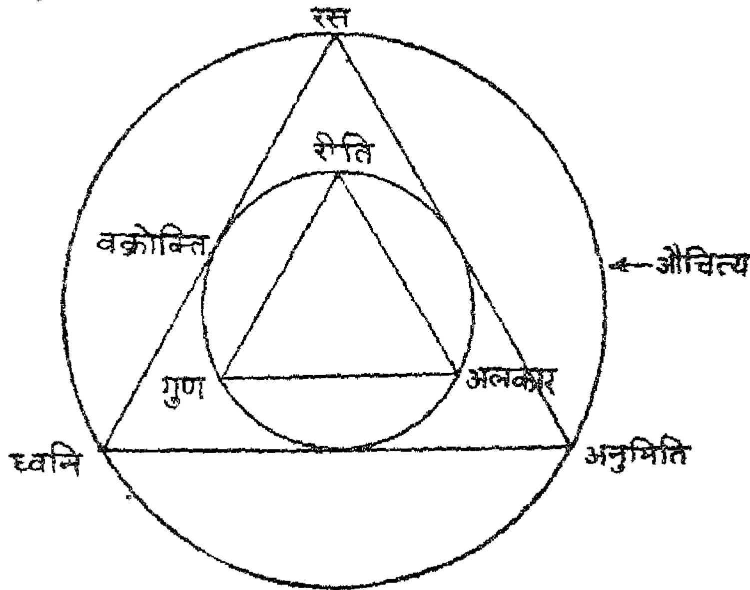


औचित्य का एक अन्य वर्गीकरण यह भी हो सकता है कि उसे प्रमुख दो वर्गों में ही विभक्त कर दिया जाय : वस्तु-सम्बन्धी औचित्य और (२) शिल्प-सम्बन्धी औचित्य। वस्तु-सम्बन्धी औचित्य भी भाव, विचार, वस्तु-विन्यासादि उपवर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। शिल्प-सम्बन्धी औचित्य को भाषा, छन्द, अलकार, कल्पना आदि वर्गों बाँटा जा सकता है जो निम्न 'चार्ट' से पूर्णतः स्पष्ट हो जायगा :


औचित्य
वस्तु-गत
शिल्प-गत
वस्तु-विन्यास
विचार
भाव या रस
रस
भाषा
छन्द
छन्द
अलंकार
अलंकार
कल्पना
प्रबन्ध
प्रतिभा
अवस्था
पद
वाक्य
गुण
क्रिया
कारक
लिंग
वचन
विशेषण
उपसर्ग
निपात
काल
तत्त्व
सत्त्व
अभिप्राय
स्वभाव
सार-संग्रह
विचार

महत्त्व

औचित्य के व्यापक महत्त्व पर म० म० कुप्पु स्वामी शास्त्री के एक रेखाकन[1] का डा० राघवन् ने प्रस्तुत किया है जिसे यहाँ प्रस्तुत करना सप्रसग ही होगा। औचित्य की व्यापक महत्ता इससे स्वतः स्पष्ट हो जाती है।



औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालंकृतिरीतिना नयाश्चानृजुवाङ्मया.॥

निष्कर्ष

'औचित्य' का सैद्धान्तिक विवेचन-विश्लेषण स्वत हमे कतिपय परिणामों तक पहुंचाता है। औचित्य-तत्त्व सम्बन्धी उपलब्ध परिणाम इस रूप मे प्रस्तुत किये जा सकते हैं

(१) 'औचित्य' शब्द 'उच्' और 'वच्' दोनो धातुओ से सिद्ध किया जा सकता है। रूप-विचार की दृष्टि से उसे 'उच्' धातु से और अर्थ-विचार की दृष्टि से उसे 'वच' धातु से व्युत्पन्न मानना समीचीन प्रतीत होता है। 'औचित्य' के वर्तमान अर्थ तक पहुँचने के लिए अर्थ-विस्तार की प्रवृत्ति का आश्रय लेना पड़ेगा।

(२) 'उचित' के भाव को ही 'औचित्य' कहते है। जो जिसके सदृश या अनुकूल है, वही उचित है। इस दृष्टि से 'औचित्य' एक अनुकूल सम्बन्ध विशेष है, जो 'अनुकूलनीय', 'अनुकूलनान' और 'अनुकूलन व्यापार'—तीनो की अपेक्षा रखता है।

(३) भारतीय काव्य-मीमासा मे 'अनुरूपता', 'युक्तता', 'न्याय्य', 'योग्यता',

1. M. M. Kuppuswami Shastri . Highways and Byways of Literary Criticism In Sanskrit, p. 27

'समीचीनता', 'उपयुक्तता', 'अनुकूलता', 'भद्रता', 'समजसना', 'अनुगुणता' आदि तथा पश्चिमी काव्य-मीमांसा मे, 'Propriety', 'Decourum', 'Adaptation', 'Appropriateness', 'fitness', 'Inkeeping', 'Symmetry', 'Harmony', 'Mutual Conformity of parts', 'Sympathy' आदि 'औचित्य' के समानार्थी कहे जा सकते है।

(४) 'वाद', 'सम्प्रदाय', 'मत', 'सिद्धान्त' एव 'विचारधारा' आदि संज्ञाओ मे से 'औचित्य' को 'सिद्धान्त' की संज्ञा देना विशेष समीचीन होगा।

(५) 'औचित्य' काव्य तथा जीवन के सब क्षेत्रो मे और विभिन्न शास्त्रों—व्याकरण, साहित्यशास्त्र, आचार-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, लोक-व्यवहार, राजनीति आदि—मे अपना महत्त्व रखता है। संभवत: 'औचित्य' की मूल अवधारणा 'पतजलि' के महाभाष्य' में उपलब्ध शब्दो के साधुत्व-असाधुत्व-विवेचन से प्रेरित व पुष्ट हुई हो।

(६) विभिन्न काव्य-सिद्धान्तो व सम्प्रदायो के प्रत्यक्ष सन्दर्भ मे 'औचित्य' पर विचार करने पर इस बात की प्रतीति हो जाती है कि इन पर प्रत्यक्षत या परोक्षत 'औचित्य' का नियत्रण है।

(७) 'औचित्य' की प्रसक्ति बडी व्यापक है, अत पश्चिमी 'अग-सगति', 'काव्यीय-आचार-सहिता' अथवा 'रस सिद्धान्त की नैतिक व्याख्या', 'औचित्य' के रूप को सर्वथा अन्तिम या पूर्ण रूप से निर्वचित नही कर पाती। औचित्य इनमे अवस्थित है और इनके बाहर भी।

(८) औचित्य-स्वरूप-बोध विषयक विमर्श का निष्कर्ष इस प्रकार है:

(क) 'औचित्य' लोकाश्रित है और शास्त्राश्रित भी। तारतमिक दृष्टि से उसे लोकाश्रित अधिक मानना पडेगा। यदि औचित्य का कोई शास्त्रीय आधार है तो वह धर्मशास्त्र ही है। यह एक स्मार्त काव्य-सिद्धान्त है।

(ख) काव्य के सन्दर्भ मे औचित्य उसके अन्तरग एव बहिरंग—दोनो पक्षो से सम्बद्ध है। काव्य के अन्तरंग मे स्थित रहकर वह काव्य के विषय-वस्तु की ग्राह्यता-अग्राह्यता एवं औचित्य-अनौचित्य का नियंत्रण करता है। यदि वस्तु स्वय उचित नही है तो काव्य-सृजन असंभव है। काव्य के बहिरग से सम्बद्ध होकर वह वस्तु की अभिव्यक्ति का संस्कार-परिष्कार करता है। यहाँ वह अभिव्यक्ति के समस्त उपकरणो को अपने निकष पर चढ़ाकर ही उन्हें प्रयोज्य-अप्रयोज्य सिद्ध करता है।

(ग) 'औचित्य' कलागत है और सामाजिक भी। उसका कलागत रूप शैली का सयमन कर नित्य नूतन आकर्षक भगिमाओ के आविष्कार मे निरत रहता है। उसका सामाजिक-पक्ष वस्तु की आस्वाद्यता के विरोधी तत्त्वो को रोककर वस्तु के प्रति उठी हुई सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं की मीमासा करता है और तदनन्तर उसे ग्राह्य-अग्राह्य घोषित करता है।

(घ) 'औचित्य' वस्तुगत है और विषयिगत भी। विशिष्ट परिस्थितियो मे ही उसकी विषयि-निष्ठता ग्राह्य होती है। सामान्यत. वह वस्तुनिष्ठ ही अधिक माना गया है।

(च) 'औचित्य' जितने अशो में सनातन मान्यताओं व धारणाओ का आश्र-

रण करता है उतने अंशों में वह 'स्थिर' है और जीवन-प्रवाह के साथ-साथ गतिशील . परिवर्तित होते रहने के कारण वह गतिशील भी है। सामाजिक नैतिकता और लोक-व्यवहार का रूप समय-समय पर बदलता रहता है। इन परिवर्तनों से औचित्य प्राय अपना स्वर मिलाता चलता है।

(छ) 'औचित्य' के निरपेक्ष-रूप की स्थिति असंभव नहीं है परन्तु काव्य-समीक्षा में तो उसे 'सापेक्ष' ही स्वीकार करना पड़ेगा। कोरा औचित्य कुछ नहीं। वह अपना प्रभाव तभी दिखा सकता है, जब विशेष्यभूत अन्य तत्त्व (रसादि) उपस्थित हो।

(ज) 'औचित्य' की आधुनिकता असंदिग्ध है। वह नित्य आधुनिक ही बना रहता है, अत किसी भी युग में समीक्षक उसे छोड़कर चल नहीं सकता।

(झ) आचार्यों की परम्परा-निष्ठा तथा औचित्य के प्रति किंचित् उपेक्षा-दृष्टि औचित्य के अनुवर्तन होने के कारण है। उसकी अति सरलता एव व्यापकता भी कारणभूत हो सकती है।

(ट) 'औचित्य' का निर्णायक समीक्षक है, क्योंकि कवि सर्जनात्मक प्रक्रिया के अवसर पर औचित्य-रक्षा के लिए कोई सजग सायास चेष्टा तो नहीं करता। सर्जनोपरान्त वह स्वय जब समीक्षक दृष्टि से विचार करता है तब औचित्य-अनौचित्य पर दृष्टि डालता है। भावक भी तब समीक्षक की कोटि में संक्रान्त हो जाता है।

(६) पूर्वीय और पश्चिमीय साहित्य-मीमांसा में औचित्य के प्रति प्रमुख दृष्टियों का रूप इस प्रकार रखा जा सकता है—

(अ) 'औचित्य' रस के भी परम-रहस्य के रूप में मान्य एक व्यापक काव्य-सिद्धान्त समझा गया है।

(आ) 'औचित्य' संगति एव सामंजस्य स्थापक काव्य-सिद्धान्त है (इसके अन्तर्गत अंग-संगति, तार्किक अन्विति और अवयवी के अनुरूप अवयव-योजना आदि समाविष्ट हो जाते हैं)।

(इ) काव्य में विषय, वक्ता, भाषा, शैली, छन्द, अलंकार, गुण, दोष, प्रबन्ध एव रस की उचित योजना के नियामक तत्त्व के रूप में 'औचित्य' को स्वीकार्य समझा गया है।

(ई) औचित्य को गुण का पर्याय भी माना गया है तथा एक विशिष्ट गुण भी। इसी प्रकार अनौचित्य को दोष का पर्याय भी माना गया है तथा एक विशिष्ट दोष भी।

(उ) औचित्य एक अलंकार विशेष के रूप में विमृष्ट किया गया है।

(ऊ) आधुनिकों ने 'औचित्य' को सामाजिकता-निर्वाह एवं चारुत्व-संवृद्धि के विधायक तत्त्व के रूप में भी ग्रहण किया है।

२ | रीति-तत्त्व और रीति-युग

प्रकरण-प्रवेश

औचित्य का सैद्धांतिक विवेचन कर लेने के उपरात रीतिकालीन काव्य मे उसका व्यावहारिक समायोग करने के पूर्व 'रीति-तत्त्व' और 'रीति-युग' पर सम्यक् विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योकि किसी भी युग का साहित्य अपने युगीन प्रभावों से असंपृक्त नही रह पाता। 'रीति' के यथार्थ स्वरूप का सूक्ष्म परिचय प्राप्त किये बिना रीति-युग व रीतियुगीन प्रवृत्तियो के अध्ययन के साथ न्याय नही हो सकता। रीति-तत्त्व व रीतियुगीन जीवन के विविध पक्षो का ज्ञान प्राप्त किये बिना रीति-काव्य का परिशीलन सर्वथा अपूर्ण समझा जाएगा और उस पर 'औचित्य-सिद्धात' का परीक्षण तो नितात असंगत ही सिद्ध होगा। 'औचित्य' तो काव्य को उसके समग्र परिवेश मे ही ग्राह्य व आलोच्य समझता है। अत· प्रथम रीति-तत्त्व पर और फिर रीति-युग पर विचार करना समीचीन होगा।

रीति-तत्त्व

रीति-तत्त्व से अवगत होने के लिए 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति, 'रीति' शब्द का कोश-गत अर्थ, 'रीति' का सामान्य व विशिष्ट अर्थ, 'रीति' के पर्याय, 'रीति' का अर्थ-विस्तार एवं 'रीति' के इतिहास आदि पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

व्युत्पत्ति

'रीति' शब्द पाणिनि के अनुसार गत्यर्थक 'री' (चुरादिगण)[१] और श्रवणार्थक 'रीङ्' (दिवादि गण)[२] धातुओं मे 'क्तिन्' अथवा 'क्तिच्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न किया जा सकता है। 'री' का अर्थ है—गति करना और 'रीङ्' का अर्थ है सुनाई देना।

१ भट्टोजि दीक्षित . सिद्धान्त-कौमुदी, पृ० ४१६
२. वही, पृ० ४०२

अत इन धातुओं से साधित इस 'रीति' शब्द के क्रमश दो अर्थ हुए 'वह जो गति-शील हो।' और 'वह जो सुनाई दे।' व्याकरण की दृष्टि से 'रीति' के मुख्य दो लक्षण हुए : गतिशीलता और श्राव्यता। प्रारम्भ मे 'रीति' शब्द अपने सामान्य अर्थ—'गति' और 'श्राव्यता'—मे प्रयुक्त होता रहा होगा, किन्तु कालान्तर मे अर्थ-विस्तार की प्रवृत्ति के अनुसार 'गति' या 'मार्ग-सामान्य से 'काव्य-गति' या 'काव्य-मार्ग' का वह वाचक बन गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'रीति' के प्रारम्भिक दो प्रमुख गुण—गति-शीलता और श्राव्यता—भी 'काव्य मार्ग' के साथ सक्रात हो गए तथा 'सामान्य गति' से काव्यगत-लय या प्रवाह एव 'सुश्राव्यता' मे रसानुरूप मधुर सुश्राव्य वर्ण-योजना मे परिणत हो गए प्रतीत होते हैं।

'रीति' शब्द के कोश-गत अर्थ

रीति शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार कर चुकने पर उसके कोशगत विविध अर्थ भी ज्ञातव्य हैं।

मोनियर विलियम्स ने अपने कोश मे[1] रीति' शब्द के निम्नलिखित अर्थ प्रस्तुत किये हैं :

Riti (F) Going, Motion, Course, A Stream, Current, line Row, limit, Boundary, General Course or Way, Usage, Custom, Practice, Method Manner, Natural Poetry, Style of speaking or writing, Yellow or Pale Brass, Bell-Metal, Rust of Iron, Scoria or oxide formed on metals by exposure to heat and air.

श्री आप्टे महोदय ने भी 'रीति' शब्द के प्राय वे ही अर्थ दिये है[2] जो मोनियर विलियम्स ने दिये है। संस्कृत के हलायुध कोश[3] मे 'रीति' शब्द के अर्थ दिये गये हैं—आरकूट, कांस्य, सौराष्ट्रकम्, पित्तलम्, प्रचार, स्यन्द, लोहकिट्टम्, दग्धवर्णादिमलम्, सीमा, सुवर्ण, गति:, स्वभाव, रूप, लक्षण, भाव, आत्मा, प्रकृति:, सहज, रूप तत्त्व, धर्म:, सर्ग, निसर्ग, शील, सतत्वं, ससिद्धि।

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ[4] मे 'रीति' शब्द के अर्थ इस प्रकार है—गति, बहाव, नदी, सोता, रेखा, सीमा, ढंग, प्रकार, चलन, रिवाज, रस्म, तर्ज, शैली, पीतल, कासा, लोहे का मोर्चा, जंग, बरतनो पर की कलाई, काव्य की आत्मा।

वृहत् हिन्दी कोश[5] मे 'रीति' शब्द के अर्थ दिये गये है—क्षरण, झरना, टपकना,

---

१. Monier Williams A Sanskrit-English Dictionary, p. 881
२. V S Apte. The Students' Sanskrit-English Dictionary, p. 470
३. जयशकर जोशी हलायुध कोश, पृ० ५६७
४. द्वारिकाप्रसाद शर्मा. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ६४५
५. कालिकाप्रसाद बृहत् हिन्दी कोश, पृ० ११३४

ढंग तरीका ढब प्रकार, रिवाज, चलन, परिपाटी, नियम, कायदा, विशिष्ट पद-रचना।

हिन्दी शब्द सागर[1] में उपलब्ध 'रीति' शब्द के अर्थ हैं—ढंग, प्रकार, तरह ढब, रस्म, रिवाज, परिपाटी, कायदा, नियम, साहित्य मे किसी विषय का वर्णन करने मे वर्णो की वह योजना जिससे ओज, प्रसाद या माधुर्य आता है।

नालंदा विशाल शब्द सागर[2] के अनुसार 'रीति' शब्द के कतिपय अर्थ इस प्रकार है—कोई काम करने का ढंग, ढब, तरह, रस्म, रिवाज, नियम, कायदा, लोहे की मैल, पीतल, जले हुए सोने की मैल, सीसा, गति, स्वभाव, प्रशंसा, स्तुति, साहित्य में किसी विषय का वर्णन करने मे वर्णो की वह योजना जिससे ओज, प्रसाद या माधुर्य आता है।

ज्ञान शब्द कोश[3] मे 'रीति' शब्द के अर्थ है—क्षरण, अरणा, ढंग, ढब, प्रकार, रिवाज, चलन, परिपाटी, नियम, कायदा, विशिष्ट पद रचना। हिंदी साहित्य कोश[4] मे भी इस शब्द के कुछ अर्थ इस प्रकार है—प्रणाली, पद्धति, मार्ग, पथ, शैली आदि।

विशिष्ट अर्थ

ऊपर दिए गए अनेक अर्थो मे हमारे विवेच्य 'रीति' शब्द के अनुकूल अर्थ है—विशिष्ट पद-रचना, शैली, काव्य-परिपाटी तथा साहित्य मे किसी विषय का वर्णन करने मे वर्णो की वह योजना, जिससे ओज, प्रसाद या माधुर्य गुण आता है।

'रीति' का इतिवृत्त

आचार्य वामन द्वारा 'काव्यात्मा' के रूप मे प्रयुक्त किये जाने के बहुत पूर्व ही 'विशिष्टा पद-रचना' रूप यह 'रीति' शब्द विभिन्न अर्थो में प्रयुक्त हो चुका था। संक्षेप मे 'रीति' की इस विकास-यात्रा का विहंगावलोकन कर लेना यहाँ पर प्रसंग-प्राप्त ही होगा। 'रीति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में तीन स्थानो पर भिन्न-भिन्न अर्थो मे हुआ पाया जाता है।[5] वहाँ पर प्रयुक्त 'रीति' शब्द के अर्थ क्रमश. स्तुति, शीघ्रगति, गमयिता (प्रेरक) है। तदनन्तर पाणिनि ने उसकी व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए उसके धात्वर्थ पर विचार किया और तदनुसार रीति के दो गुण—गतिशीलता और स्राव्यता—स्थिर किये।[6] पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य मे 'रीति' के

---

१ रामचन्द्र वर्मा · हिन्दी शब्द सागर, पृ० ८४६

२ नवलजी नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृ० ११८१

३ मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव ज्ञान शब्द कोश, पृ० ६८७

४ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा . हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६५६

५ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (सपा०) काव्यशास्त्र मे संकलित डॉ० पारसनाथ द्विवेदी का 'रीति और आचार्य परम्परा' लेख, पृ० १२२

६ भट्टोजि दीक्षित · सिद्धान्त कौमुदी, पृ० ४१६, ४०२

अर्थ में शैली शब्द का प्रयोग किया—'एषा हि आचार्यस्य शैली लक्ष्यते।'[1] 'शील' शब्द में अण् प्रत्यय लगाकर (स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय जोड़कर) शैली शब्द सिद्ध किया जाता है।[2]

ऊपर वेद और व्याकरण में 'रीति' शब्द के प्रयोग का उल्लेख हो चुका है। साहित्यशास्त्र में उसके प्राचीनतम प्रयोग का उल्लेख 'सुवर्णनाभ' के साथ जोड़ा जाता है। राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में 'रीति' के आदि व्यवस्थापक के रूप में 'सुवर्णनाभ' का नामोल्लेख किया है। वे कहते हैं—"रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेता, यमकं यम चित्रं चित्रांगदः"[3]

भारतीय काव्यशास्त्र के आदि-प्रणेता आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में 'प्रवृत्ति' संज्ञा से 'रीति' का विवेचन किया है। 'नाट्यशास्त्र' का प्रमुख प्रतिपाद्य था 'नाट्यरस'। अतः अभिनय के अंगभूत वेशभूषा, भाषा एवं आचार के औचित्य पर भरत ने विशेष बल दिया है। नाना देशों के वेश, भाषा व आचार के समुच्चय को वे 'प्रवृत्ति' कहते हैं।

'नाट्य-रस' में प्रवृत्ति का ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि कहते हैं[4]—"प्रवृत्तिरिति कस्मात्? उच्यते-पृथिव्यां नाना देशवेश भाषाचार वार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। वृत्तिश्च निवेदने।" अर्थात् भरत मुनि ने विभिन्न देशों के वेश, भाषा एवं आचार की वार्ता का ख्यापन कराने वाले तत्त्व को 'प्रवृत्ति' कहा है। अतः 'प्रवृत्ति' मूलतः भौगोलिक एवं जनपदीय आधारों पर निर्भर करती है। इस जनपदीय आधार पर भरत ने प्रवृत्ति के चार भेद माने हैं—(१) आवन्ती अर्थात् पश्चिमी, (२) औड़ मागधी अर्थात् उड़ीसा, मगध व पूर्वी भारत की, (३) दाक्षिणात्या अर्थात् दक्षिण भारत की और (४) पांचाली अर्थात् मध्यदेशीय। सारांश यह कि भरत ने रीति के लिए 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। भरत की 'प्रवृत्ति' मूलतः नाटक के अभिनय के अनुरूप वेश, भाषा व आचार से सम्बद्ध है।

भरत के 'प्रवृत्ति'-सम्बन्धी इस विवेचन का ही बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में स्पर्श किया है—

श्लेष प्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः॥[5]

अर्थात् उत्तरी भू-भाग में श्लेष, पश्चिमी भू-भाग में अर्थ-गौरव, दक्षिणी भू-भाग में उत्प्रेक्षा और गौड़ (पूर्वी) प्रदेश में अक्षर-आडम्बर की प्रधानता है। परन्तु

---

१ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (सपा०) : काव्यशास्त्र में संकलित डॉ० रामसनाथ द्विवेदी का 'रीति और आचार्य परम्परा' लेख पृ० १३३

२ वही

३ डॉ० रामसागर राय हिन्दी काव्य मीमांसा, पृ० २

४ बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० १३६

५. P. V. Kane . The Harsha Charit, p. 1

बाणभट्ट ने इन शैलियों की एकान्तिक साधना को प्रश्रय नहीं दिया । वे कहते हैं —

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषो क्लिष्ट स्फुटो रस ।
विकटाक्षरबन्धश्च, कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥[१]

नवीन अर्थ, अग्राम्य स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस, विकट अक्षरबंध आदि का एकत्र होना दुर्लभ अवश्य है, किन्तु प्रतिभा के स्वामी कवि के लिए यह असम्भव नहीं है।

भारतीय काव्यशास्त्र का वास्तविक प्रारम्भ विद्वज्जन भामह से ही मानते हैं। भामह ने रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने 'रीति' के स्थान पर 'काव्य' या 'काव्य भेद' शब्दों का प्रयोग किया है। 'प्रवृत्ति' विवेचन में भरत द्वारा गृहीत चतुर्विध भौगोलिक आधारों को सर्वथा आँख मूँदकर भामह ने स्वीकार नहीं किया बल्कि उनके आधार के रूप में 'गौड और वैदर्भ' दो मार्ग स्वीकार किए। भामह का गौड मार्ग बाण-भट्ट की गौडीय शैली है। भामह-निरूपित वैदर्भ मार्ग बाण की दाक्षिणात्य शैली का ही अपर नाम प्रतीत होता है। भामह भी इन दो—गौड एवं वैदर्भ—मार्गों में से किसी एक की एकान्तिक साधना न करने का विमर्श देते हैं। 'ये मार्ग साधन हैं, साध्य नहीं।' जिस मार्ग से काव्य के वास्तविक गुण उपलब्ध हों उन्हीं का आश्रयण करना वे इष्ट समझते हैं। दोनों मार्गों की विवेक-सम्मत साधना उन्हें इष्ट है।[२]

दण्डी ने भामह की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं पूरक विवेचन किया किन्तु मौलिक दृष्टि तो भामह की ही थी। भामह ने जिस व्यापक अर्थ में 'रीति' शब्द को ग्रहण किया उसकी संगतिपूर्ण व्याख्या दण्डी ने कर दी है। वे वाणी के अनेक मार्ग मानते हैं। इन सब में से वे 'वैदर्भ' व 'गौड' मार्ग को ही प्रशस्त मानते हैं। इन दोनों में भी दण्डी ने 'वैदर्भ' मार्ग को ही अधिक प्रशस्त मान कर रीति को 'वैदर्भ' मार्ग का प्राण माना है तथा दश गुणों को भी वैदर्भ मार्ग में निबद्ध कर दिया है।[३]

भामह ने रीति को व्यापक संदर्भ में (अलंकार, गुण-दोषादि के संदर्भ में) ग्रहण किया था जबकि दण्डी ने उसे केवल वैदर्भ मार्ग तक सीमित कर दिया तथा दश गुणों में निबद्ध कर रीति को उसका (वैदर्भ मार्ग का) प्राण बताया।

आचार्य वामन ने 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में ग्रहण किया। यद्यपि उनकी इस स्थापना का प्रबल विरोध हुआ तथा उनके बाद किसी ने इसका अनुवर्त्तन नहीं किया तथापि इतना तो स्पष्ट है कि काव्य-शास्त्र के इतिहास में वे ही अकेले आचार्य हुए जिन्होंने रीति को आत्म-स्थानीय माना है। आज उनकी स्थापना का पुन-रुत्थान हो रहा है और, 'वस्तु' गौण 'अभिव्यक्ति' प्रमुख मानने वाले चिंतक उनका

---

१. P V Kane : The Harsha Charit, p 1
२. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र, भाग २, पृ० १५५
३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (सपा०) . काव्यशास्त्र में संकलित डॉ० पारसनाथ द्विवेदी का 'रीति और आचार्य परम्परा' लेख, पृ० १२७

समर्थन कर स्वयं संबल पाते है। वामन ने कहा—'रीतिः आत्मा काव्यस्य।'[1] और रीति की परिभाषा देते हुए कहा—'विशिष्टा पद रचना रीतिः।' आगे स्पष्टता करते हुए लिखा 'विशेषो गुणात्मा' आदि। वामन ने रीति के तीन भेद माने हैं— 'वैदर्भी', 'गौडी' और 'पाचाली।' इन तीनो मे वे 'वैदर्भी' को ही ओज, प्रसादादि समग्र गुणो मे उपेत मानते है।[2] 'गौडी' रीति, ओज एव काति-गुण सम्पन्न है तो 'पाचाली' माधुर्य और सौकुमार्य गुणो से सम्पन्न है। इन सब से वैदर्भी श्रेष्ठ है अन्य सभी अपेक्षाकृत कम ग्राह्य है।[3]

वामन द्वारा निरूपित इन तीन रीतियों को कुछ अन्य आचार्यो, उपनागरिका', 'परुषा' और 'कोमला' नाम भी दिये है। वामन के मतानुसार 'रीति' गुणाश्रित है। गुण काव्य के नित्य धर्म है। गुणो का अभाव दोष है। गुणो की उपस्थिति व दोषो का अभाव काव्य मे सौन्दर्य ला देता है। वामन द्वारा विवक्षित विशिष्ट पद-रचना के अन्तर्गत गुण-दोष, रस, अलकार सभी कुछ समाविष्ट हो जाता है।

रुद्रट ने 'लाटीया' नामक एक और रीति जोडकर रीतियो की सख्या चार तक पहुँचा दी।[4] वैदर्भी और पांचाली रीतियों को वे शृगार, करुण, भयानक और अद्भुत रस मे तथा 'लाटीया' एव 'गौडीया' को रौद्र रस मे प्रयोज्य समझते है। उनकी एक अन्य मौलिक देन यह भी है उन्होने 'ललिता' और 'भद्रा' नामक दो वृत्तियो की कल्पना कर वृत्तियो की संख्या भी पाँच तक पहुँचा दी।

आनन्दवर्द्धन ने रीति के लिए 'सघटना' शब्द प्रयोजित किया है। वामन की पद-रचना (रीति) ही उनकी 'सघटना' है। वामन ने गुणात्मा रीति को काव्य की आत्मा अर्थात् काव्य का साध्य माना है जबकि आनन्दवर्द्धन ने पद-संघटना को गुणाश्रित मान कर भी उसे 'रसादि को व्यक्त करनेवाली' - साधन-रूपा माना है।[5] आनन्दवर्द्धन द्वारा निरूपित असमासा, मध्यमसमासा एव दीर्घसमासा संघटनाएँ ही क्रमश: वामन की वैदर्भी, पचाली और गौडी रीतियाँ है। आनन्दवर्द्धन ने रीति-रूप सघटना को अग-संस्थानवत् ही माना है, आत्मस्थानीय नही।

राजशेखर ने 'काव्य-मीमासा' मे रीति, प्रवृत्ति एव वृत्ति तीनो शब्दो का अर्थ स्पष्ट किया है 'वेष विन्यास क्रम प्रवृत्ति, विलास विन्यास क्रमो वृत्ति' वचन विन्यासक्रमो रीति।[6] अर्थात् वेश-विन्यास को प्रवृत्ति, विलास-विन्यास को वृत्ति और वचन-विन्यास को रीति कहते है।

भोज ने दण्डी की भाँति ही 'रीति' के अर्थ मे मार्ग' शब्द का व्यवहार किया

---

१ डॉ० नगेन्द्र और आचार्य विश्वेश्वर. हिंदी काव्यालकार. सूत्रवृत्ति, पृ० १८
२ वही, पृ० २६-२७
३. वही पृ० २६।२७
४ रुद्रट काव्यालकार, अध्याय १५, श्लोक २०
५ डॉ० रामसागर त्रिपाठी ध्वन्यालोक (उत्तरार्द्ध), पृ० ७१७-७२०
६ डॉ० गगा सागर राय हिन्दी काव्य मीमासा, पृ० २५

है किन्तु रीति शब्द और उसकी व्युत्पत्ति भी निर्दिष्ट कर दी है। वे कहते हैं—

वैदर्भादिकृत पथा काव्ये मार्ग इति स्मृत.।
रीङ् गताविति धातो सा व्युत्पत्त्या रीति रुच्यते।[१]

भोज ने 'रीति' को गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से व्युत्पन्न माना है। रीति के वे छह प्रकार बतलाते है—पाचाली, गौडीया, वैदर्भी, लाटीया, आवन्तिका और मागधी।[२] इनमे से प्रथम चार तो परम्परा-प्राप्त है। आवन्तिका और मागधी के भेदो की कल्पना अवश्य नवीन मानी जा सकती है। वैदर्भी और पाचाली के बीच की रीति क नाम है 'आवन्तिका।' मागधी को वे खण्ड 'रीति' कहते है अर्थात् रीति के लक्षणों का अनिर्वाह होने पर वह खण्ड रीति (मागधी) कहलाती है।[३]

कुन्तक ने 'रीति' के लिए 'कवि-प्रस्थान-हेतु' शब्द का प्रयोग किया है। रीति को देश-भेद के आधार पर निर्मित, वर्गीकृत या अभिधेय करने के सिद्धात का समादर करने वाले कुन्तक नही है। वे तो रीति को मूलत. कवि के स्वभाव से निबद्ध मानते है। गुणो को छोडकर अन्य किसी तत्त्व को रीतियो की पारस्परिक उच्चावचता का निर्णायक-आधार वे नही मानते। अत उन्होने रीतियो के भौगोलिक नामो का भी तिरस्कार किया और 'सुकुमार मार्ग', 'विचित्र मार्ग', 'मध्यम मार्ग' नाम स्वीकार किए।[४]

मम्मट ने 'रीति' शब्द का प्रयोग न कर 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है और वृत्ति की परिभाषा देते हुए वे कहते है कि—'वृत्तिर्नियत वर्णगतो रस विषयो व्यापार:।'[५] अर्थात् रसानुकूल वर्ण-योजना को ही मम्मट वृत्ति कहते है। अलकार-निरूपण के प्रसंग मे अनुप्रास के विवेचन के सन्दर्भ मे मम्मट ने उपनागरिका, परुषा एव कोमला—तीन भेद निरूपित किये है।[६] ये तीनो वृत्तियाँ क्रमश: वामन-निर्दिष्ट वैदर्भी, गौडी एव पाचाली रीतियों के अपर नाम ही है—"एतास्तिस्रो वृत्तय. वामनादीनां मते वैदर्भी, गौडी, पांचाल्याख्या रीतयोमता।"[७]

विश्वनाथ रीति को पद-संघटना मानते है तथा उसे अंग-संस्थानवत् महत्त्व देते हैं। उनके विचार से रीति 'रसादि' की अभिव्यक्ति मे साधन रूप है—

पद-संघटना रीतिरगसंस्थान विशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुन. स्याच्चतुर्विधा।।[८]

---

१. भोज : सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० १५५
२ वही
३. वही, पृ० १५७
४ डॉ० नगेन्द्र और आचार्य विश्वेश्वर · हिंदी वक्रोक्ति जीवितम (मूल भाग), पृ० ६८
५ डॉ० सत्यव्रत सिंह . हिंदी काव्य प्रकाश, पृ० ३०६
६ वही. पृ० ३०६-१०
७. वही, पृ० ३०६-१०
८ वही, हिन्दी साहित्य दर्पण, पृ० ६१८

अर्थात् पद-संघटना-रूप रीति रसादि का उपकार करने वाली है तथा अंग-संस्थानवत् है। उसके चार भेद हैं—वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटिका। ये चारों विभिन्न रसों का उपकार करती हैं।

अग्निपुराणकार ने 'वक्तृत्व कला' को रीति मानकर 'रीति' के लिए 'वाग्विद्या सम्प्रतिज्ञाने रीतिः।' का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि वे 'रीति' को वाग्शैली के रूप में ग्रहण करते प्रतीत होते हैं।[1] अग्निपुराण में भी इस रीति के चार भेद—पांचाली, गौड देशीया, वैदर्भी और लाटजा स्वीकृत किये गये हैं।

संस्कृत के आचार्यों के इस रीति विवेचन से पता चलता है कि (१) अधिकांश आचार्यों ने रीति को 'काव्यांग' माना है तथा उसे रस का उपकारक तत्त्व भी कहा है। (२) आचार्य वामन रीति का 'काव्यांग' न समझकर 'काव्यात्मा' मानते हैं। (३) कहीं-कहीं 'रीति' को पद-रचना का वैशिष्ट्य न मानकर वाग्वैदग्ध्य का एक रूप भी माना गया है। (४) प्रारम्भ में 'रीति' शब्द काव्य-सौन्दर्य के पर्याय के रूप में गृहीत हुआ फिर संकीर्ण होकर पद-रचना के वैशिष्ट्य तक सीमित रह गया और अब फिर पुनः व्यापक अर्थ का—समस्त काव्यांगों का या काव्यशास्त्र का—वाचक बनता जा रहा है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों एवं कवियों ने तो उसे पद-रचना तक सीमित न रखकर काव्यशास्त्र का पर्याय मान लिया प्रतीत होता है।

अर्थ-विस्तार

संस्कृत से हिन्दी तक आते-आते 'रीति' शब्द का अर्थ फैल गया है। संस्कृत का 'रीति' शब्द पद-रचना की विशिष्टता का वाचक है; हिन्दी के रीति-काल में 'रीति' शब्द अपने भीतर शब्द-शक्ति-विवेचन, नायक-नायिका-भेद-निरूपण एवं सभी काव्यांगों के विवेचन को समाविष्ट कर अवस्थित है। हिन्दी में 'रीति' शब्द काव्य-शास्त्र का पर्याय-सा बन गया है।

रीति और हिन्दी-आचार्य

रीतिकाल के आचार्यों में चिंतामणि, कुलपति, देव और भिखारीदास ने रीति का विवेचन किया है। राजशेखर की भाँति ही चिंतामणि ने भी 'काव्य-पुरुष' की कल्पना की है तथा काव्य के विभिन्न उपकरणों को 'काव्य-पुरुष' के विविध अंग के रूप में निर्दिष्ट किया है। वे 'रीति' को 'काव्य-पुरुष' का स्वभाव मानते हैं—

सबद अरथ तनु जानिए, जीवित रस जिय जानि।
अलंकार हारादि ते, उपमादिक मन आनि।

---

१ रामलाल शर्मा . अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय, भाग, पृ० ४८

श्लेषादिक गुन सूरतादिक से मानौ चित्त।
बरनौ रीति सुभाव ज्यों वृत्ति वृत्ति सी मित्त ॥[1]

अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य-पुरुष का शरीर है। रस उसका प्राण है। उपमादि अलकार आभूषण है। गुण शूरत्वादि के समान है। रीति उसका स्वभाव है। वृत्तियाँ उसकी मित्र है।

कुलपति मिश्र ने उपनागरिका, परुषा, कोमला—तीन वृत्तियाँ तथा वैदर्भी गौडी, पाञ्चाली—तीन रीतियाँ निरूपित की है—

उपनागरिका मधुर गुन व्यंजक बरनन होय।
ओज प्रकाशक बरन तै परुष कहिये सोय ॥
बरन प्रकाश प्रसाद को करै कोमला सोय।
तीन वृत्ति गुन भेद तै कहै बडे कवि लोय ॥
वैदर्भी गौडी कहत पुनि पाञ्चाली जानि।
इनही सो कोऊ कवि बरनत रीति बखानि ॥[2]

चिंतामणि और कुलपति मिश्र का विवेचन मम्मटाचार्य पर आधृत है। देव ने 'रीति' को काव्य-शरीर को गति प्रदान करने वाला तत्त्व माना है। वे कहते हैं—

शब्द जीव तेहि अर्थ मनु काव्य सु सरस सरीर।
'चलत रीति सों' छन्द गति, अलंकार गम्भीर ॥[3]

आचार्य भिखारीदास ने मम्मट की भाँति रीति और वृत्ति में अभेद माना है। उनके द्वारा विवेचित रीति वस्तुत. वृत्ति का ही विवेचन करती है।[4]

रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति और शैली

'रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति एव शैली' ये चारो शब्द व्यवहार में परस्पर समानार्थी व एक-दूसरे के स्थानापन्न माने जाते है तथा काव्यशास्त्र में भी कहीं-कहीं पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए दिखाई पडते हैं किन्तु तत्त्वत. इनमे परस्पर पर्याप्त सूक्ष्म भेद है। यह पार्थक्य अवगत कर लेना आवश्यक है।

रीति और वृत्ति

वामन ने 'रीति' को 'विशिष्टापद-रचना' कहा है। मम्मट वृत्ति का स्वरूप निरूपित करते हुए कहते है—'वृत्ति नियत वर्ण गतो रस विषयो व्यापार.।' इस दृष्टि से विचार करने पर रीति और वृत्ति मे अभेद दिखाई पड़ता है तथा दोनों मूलत भाषा

१ डॉ० कृष्णदत्त त्रिपाठी रीतिकाल और आधुनिक काल के संधि-सूत्र (अप्रकट शोध-प्रबंध), पृ० १३-१४
२ वही।
३ वही।
४ वही।

में सम्बद्ध प्रतीत होती हैं तथापि 'रीति' 'वृत्ति' से अपेक्षाकृत व्यापक सिद्ध होती है। वृत्ति वर्ण-योजना से और रीति पद-योजना से सम्बद्ध है। रीति में वृत्ति का अन्तर्भाव हो सकता है वृत्ति में रीति का नहीं। वृत्तियाँ दो प्रकार की मानी गई हैं—काव्य-वृत्तियाँ एवं नाट्य-वृत्तियाँ। भारती, सात्वती, कैशिकी एवं आरभटी—ये चार नाट्य-वृत्तियाँ हैं। उपनागरिका परुषा एवं कोमला – ये तीन काव्य-वृत्तियाँ हैं। तीनों काव्य-वृत्तियाँ रीतियों के निकट होने पर भी रीति की वाह्यांग मात्र है।

रीति और प्रवृत्ति

'रीति' पद-रचना से और 'प्रवृत्ति' वेश, भाषा एवं आचार से सम्बद्ध है। भरत की 'प्रवृत्ति' व्यापक है। राजशेखर की 'प्रवृत्ति' भी वेश-विन्यास से सम्बद्ध होने के कारण 'रीति' से तो व्यापकतर प्रतीत होती है। अतः 'प्रवृत्ति' व्यापक है और उसमें 'रीति' का अन्तर्भाव हो जाता है।

रीति और शैली

'शैली' शब्द आज तो अंग्रेजी के (Style) शब्द के अनुवाद के अर्थ में अधिक रूढ़ व व्यवहृत होता जा रहा है। पश्चिम में 'शैली' लेखक के व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग मानी जा चुकी है। आचार्य प० बलदेव उपाध्याय ने शैली के अंग्रेजी पर्याय (Style) का व्युत्पत्त्यर्थ स्पष्ट करते हुए उसके स्वरूप पर विचार किया है तथा पश्चिमी 'Style' के पर्यायभूत 'शैली' तत्त्व को अतिशय आत्म-परक, व्यक्ति-परक सिद्ध किया है।[1] शैली व्यक्ति-निष्ठ अधिक होती है, रीति कम। शैली लेखक के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। वह बहुत कुछ निजी होती है और उसका कोई एक स्थिर व निश्चित रूप नहीं होता। जितने लेखक उतनी शैलियाँ पायी जा सकती हैं। दण्डी ने सम्भवतः इसीलिए कहा होगा—"अस्त्यनेको गिरां मार्गः।" रीति का स्वरूप बहुत-कुछ स्थिर है। शैली का सम्बन्ध रचनाकार से और रीति का सम्बद्ध रचना से है। शैली रचनाकार के अन्तरंग से और रीति रचना की प्रकृति से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है। शैली और रीति का भेदक तत्त्व है 'व्यक्तित्व'।

रीति तथा अन्य काव्य-सम्प्रदाय

'रीति' शब्द की व्युत्पत्त्यादि पर विचार कर लेने पर 'रीति' का अन्य काव्य-सम्प्रदायों के साथ सम्बन्ध भी जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है। रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार एवं औचित्य आदि प्रमुख काव्य-सम्प्रदायों के परिवेश में रीति का स्वरूप समझ लेना प्रसंग-प्राप्त ही समझा जाएगा।

रीति और रस

रीति और रस का परस्पर-सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित दो प्रश्नों

---

१ आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्य शास्त्र, भा० २, पृ० २१३-१४

पर विचार करना आवश्यक है—

(१) रसवादी आचार्यों का रीति के प्रति क्या दृष्टिकोण है ?

(२) रीतिवादी आचार्यों का रस के प्रति क्या दृष्टिकोण है ?

रसवादी आचार्यों मे विश्वनाथ प्रमुख है। रीतिवादी आचार्यों मे वामन प्रमुख है। विश्वनाथ के रीति-विषयक एव वामन के रस-विषयक विचारो का परिचय पाते ही यह सम्बन्ध स्पष्ट हो जाएगा।

'साहित्य दर्पण' मे विश्वनाथ ने 'रीति' का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।'[1]

अर्थात्—(१) रीति पद संघटना-रूप है। (२) काव्य मे वह अंग-संस्थान वत् है। (३) रसादि की वह उपकर्त्री है। (४) रीतियाँ चार प्रकार की है। इससे स्पष्ट है कि विश्वनाथ 'रीति' को रस का अंग मानते है और उसे अंग-संस्थान से अधिक महत्त्व प्रदान नहीं करते। उनके अनुसार 'रस' अंगी और 'रीति' अंग है। दोनों मे अंगी-अंग सम्बन्ध है।

वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र' मे 'रीति' को काव्यात्मा कहकर 'रस' को काव्य के एक अर्थ-गुण 'कांति' का आधार-मात्र माना है। वे कहते हैं—दीप्तरसत्व कांतिः।[2] अर्थात् रचना के उस गुण को 'कांति' कहते हैं जिसमे शृंगारादि रस दीप्त हुए हो। वामन के अनुसार 'रस' अंग और 'रीति' अंगी है। और दोनों मे (क्रमशः) अंग-अंगी सम्बन्ध है।

इस प्रकार ये दोनो परस्पर प्रतियोगी से दिखाई पडते है। किन्तु स्थिति वस्तुतः वैसी नही है। अन्य आचार्यों ने 'रस' का प्रामुख्य एवं रीति का गौणत्व प्रतिपादित कर दिया है। आनन्दवर्द्धन ने रीति (जिसे वे संघटना कहते हैं) के नियामक तत्त्व के रूप में—रस, वक्ता, विषय एव वाच्य-सम्बन्धी औचित्य को स्वीकार किया है।[3] प्रायः रीति की अंग-रूप मे स्थिति प्रमुख सभी आचार्य स्वीकार कर चुके हैं।

डॉ० नगेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी रीति का अंगत्व सिद्ध कर दिखाया है। उनके विचार में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणो मे क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति-रूप रस-दशा के पूर्व की स्थितियाँ अवस्थित रहती है।[4] अतः अलंकार की भाँति ये रीतियाँ भी रस-रूप काव्यात्मा का उत्कर्षवर्द्धन करती हैं।[5] वे रीति के

१. डॉ० सत्यव्रत सिंह : साहित्य दर्पण, पृ० ६५८
२. डॉ० नगेन्द्र : काव्यालंकार सूत्र, मूल, पृ० १५७
३. डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (उत्तरार्द्ध), पृ० ७४१
४. डॉ० नगेन्द्र : काव्यालंकार सूत्र, भूमिका, पृ० १८५
५. वही।

स्वरूप को अधिक वस्तु-गत और रस के स्वरूप को अधिक व्यक्ति-परक मानते है।[1] निष्कर्ष यह कि 'रस' अगी और 'रीति' उसका अग है।

रीति और ध्वनि

लावण्यवती के प्रत्यंग मे अवस्थित फिर भी तद्विलक्षण, केवल बोध-गम्य किन्तु अनिर्वचनीय लावण्य की भाँति समस्त काव्यागो म परिव्याप्त फिर भी तद्भिन्न केवल प्रतीयमान एव अनिर्वचनीय 'ध्वनि' की प्रसक्ति काव्य के अन्तरंग व बहिरंग—उभय मे अबाधित है जबकि अंग-सन्स्थान-रूप विशिष्टा-पद-रचना-मूलक 'रीति' काव्य के बहिरंग मात्र मे सम्बद्ध है काव्य के अन्तरग मे उसकी प्रसक्ति अवरुद्ध है।

रीति-सम्प्रदाय देहवादी काव्य-सम्प्रदाय है जिसमे काव्य के बहिरंग तत्त्व-रूप 'रीति' की आत्मस्थानीय प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया गया है जबकि ध्वनि-सम्प्रदाय आत्मवादी सम्प्रदाय है जिसमें सहृदय श्लाघ्य एवं प्रतीयमान अर्थ-रूप ध्वनि की आत्म-स्थानीय प्रतिष्ठा की गई है। आनन्दवर्द्धन ने 'संघटना' (अर्थात् रीति) का गौणत्व प्रतिपादित किया है। वे सघटना को अस्थिर व गुणो को स्थिर काव्य-धर्म मानते है। उनके विचार से सघटना गुणाश्रित है और रसादि की व्यंजक होने से साधन-भूता है।[2] वामन जिसे साध्य-रूपा मानते है वह आनन्दवर्द्धन के यहाँ साधन-रूपा है। मूल विचारणीय प्रश्न है कि ध्वनि और रीति का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? विचार करने पर प्रतीत होता है कि दोनो परस्पर प्रतियोगी अधिक, सहयोगी कम है। एक केवल पद-रचना को ही काव्य की आत्मा मानकर चलता है तो दूसरा लावण्यरूप प्रतीयमान ध्वनि को। ध्वनि की व्यापक परिधि की तुलना मे रीति का प्रसार अत्यन्त सीमित जान पड़ता है। वामन के भी बहुत पूर्व 'ध्वनि' की अवधारणा का विकास होता आ रहा था किंतु सिद्धात-रूप में 'ध्वनि' की व्यवस्था व प्रतिष्ठा तो वामन-परवर्ती आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ही की है। अत यह स्वत स्पष्ट है कि रीति-सिद्धांत ध्वनि-सिद्धात का पूर्ववर्ती है फलत ध्वनि से अप्रभावित भी। अवश्य रीति-विवेचन मे ध्वनि के कुछ आभास खोजने पर उपलब्ध होंगे। डॉ० नगेन्द्र ने इस ओर सकेत करते हुए कहा है कि वामन कृत 'वक्रोक्ति' के लक्षण मे व्यजना का, शब्द-गुणो मे वर्ण-ध्वनि का, अर्थ गुण ओज मे अर्थ-प्रौढि के कई रूपो मे ध्वनि की प्रच्छन्न स्वीकृति का, साभिप्राय विशेषण मे पर्याय-ध्वनि का, अर्थ-गुण कांति मे असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि का सकेत मिल जाता है।[3] निष्कर्ष इस प्रकार है—(१) रीति की अपेक्षा ध्वनि अधिक व्यापक सिद्धात है। (२) रीति शरीरवादी एवं ध्वनि आत्मवादी सिद्धात है। (३) ध्वनि रीति की नियामक व साध्य है, रीति का ध्वनि मे समाहार हो जाता है (४) रीति ध्वनि का

---

१ डॉ० नगेन्द्र : काव्यालकार सूत्र, भूमिका, पृ० १८५

२ डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (उत्तरार्द्ध), पृ० ७२०

३ डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी काव्यालकार सूत्र (भूमिका) पृ० १८४

पूर्ववर्ती सिद्धांत है अत. उससे अप्रभावित भी । (५) रीति सिद्धांत ध्वनि सिद्धांत का प्रतियोगी अधिक है सहयोगी कम ।

रीति और अलंकार

अलंकार और रीति परस्पर सहयोगी काव्य-सिद्धांत है । अलकार-सम्प्रदाय के आदि पुरस्कर्ता दण्डी और रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक वामन है । दोनो ने क्रमश: काव्य मे बहिरंग तत्त्वो—अलकार और रीति—की आत्म-प्रतिष्ठा का प्रबल उद्योग किया । दण्डी ने अलकारों को काव्य की शोभा करने वाले धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित कर अलकार की व्यापक सत्ता स्थापित की—'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते ।'[1] तो वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य', 'विशिष्टा पद रचना रीति' तथा 'विशेषो गुणात्मा' आदि सूत्रों द्वारा 'रीति' की आत्मस्थानीय सत्ता प्रतिपादित की ।[2] इस प्रकार रीति एव अलकार दोनो सम्प्रदायों ने स्वकीय तत्त्वो को ही अधिक महत्त्व दिया है ।

वस्तुत रीति अलकार एवं वक्रोक्ति का सम्बन्ध मूलत काव्य के अभिव्यक्ति-पक्ष से है, अत तीनो सम्प्रदाय काव्य के शरीर से सम्बद्ध है । रीति और अलकार सम्प्रदायो की तो यात्रा भी बहुत दूर तक साथ-साथ होती रही । आगे चलकर उनका भेद-प्रस्थान-बिंदु आ गया । दोनों सम्प्रदायों के साम्य-वैषम्य को सारभूत रीति से डॉ० नगेन्द्र ने इस प्रकार विवृत किया है[3]—(१) दोनो ने शब्दार्थ मे काव्य-सौंदर्य की स्थिति स्वीकार की है । (२) दोनों ने काव्य-सौंदर्य के पर्याय के रूप मे 'अलंकार' को ग्रहण किया है । वामन भी कहते है—'सौन्दर्यमलंकार: ।'[4] (यद्यपि वामन का आशय दण्डी से भिन्न है) ।

रीति और अलंकार के बीच अन्तर यह है कि अलकार की व्यापक परिधि मे 'अलकार सम्प्रदाय' के अनुयायी सौन्दर्य (वस्तुगत और शैलीगत भी) के समग्र तत्त्वो—गुण, रीति, वृत्ति, सधि, संध्यग इत्यादि का अन्तर्भाव कर लेते है तथा अलकारेतर तत्त्वो को गौणत्व प्रदान करते है जबकि रीति के प्रस्थापक आचार्य वामन 'अलंकार' की परिधि सकीर्ण कर काव्य के नित्यधर्म गुणों का उसमे अन्तर्भाव नही करते । वामन के मतानुसार 'अलंकार' काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है । अत: अलकार के अभाव मे गुणों की सत्ता या महत्ता आहत नही होती । गुण अवश्य अनिवार्य तत्त्व है; उनके अभाव मे अलकारो की निस्सारता स्वत सिद्ध है । गुण रीति की आत्मा और काव्य-सौन्दर्य के प्रत्यक्ष उद्भावक हैं । अत. अलकार की अपेक्षा रीति अधिक व्यापक है और काव्य-तत्त्व (आत्मा) के अधिक निकट भी ।

अलकार और रीति का भेदक-बिंदु यही है कि 'अलंकार' अपने मे भिन्न तत्त्वो

१ श्री रामचन्द्र मिश्र : हिन्दी काव्यादर्श, पृ० ७४
२ डॉ० नगेन्द्र हिन्दी काव्यालंकार सूत्र (मूल), पृ० १९ २०
३ वही (भूमिका), पृ० १७९-८०
४. वही (मूल), पृ० ५

को गौणत्व प्रदान करता है तो 'रीति' सम्प्रदाय गुणात्मा रीति के अन्तर्गत अलंकारों का ग्रहण कर उनका अंगत्व सिद्ध कर देता है। इन दोनों की यात्राएँ यहीं से भिन्न दिशाओं में प्रस्थान करती हैं। इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य वामन ने दे दिया है। आचार्य वामन अलंकार को रीति का अंग स्वीकार करते हैं। पश्चिम में भी प्रमुख समीक्षकों ने अलंकारों को शैली का अंग माना है।[१]

सारतः यही कहा जा सकता है कि रीति में अलंकार की अपेक्षा अधिक व्यापकता है। अलंकार की अपेक्षा रीति काव्य-सौन्दर्य के अधिक निकट है। रीति में अलंकार की अपेक्षा व्यक्ति-तत्त्व की भी अधिकता है।

रीति और वक्रोक्ति

'रीति' वचन-विन्यास-क्रम रूपा है।[२] वक्रोक्ति 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' है।[३] रीति का साम्राज्य वर्ण से लेकर वाक्य-विन्यास तक परिव्याप्त है, किन्तु वक्रोक्ति की माया तो दो पग आगे चलकर प्रकरण एवं प्रबन्ध-योजना तक फैल जाती है। वक्रोक्ति कवि-प्रतिभाजन्य उक्ति-चारुत्व की पर्याय है। रीति केवल विशिष्ट पद-रचना की पर्याय है। दोनों मूलतः अभिव्यक्ति से घनिष्ठ रूपेण सम्बद्ध हैं। परन्तु रीति जहाँ भाषा-विमर्श से आगे नहीं बढ़ पाती, वक्रोक्ति कवि-प्रतिभा एवं कवि-स्वभाव को भी अपने विमर्श-वितान के नीचे समेट लेती है। वक्रोक्ति समस्त काव्य-कौशल की पर्याय है। इन दोनों का पारस्परिक साम्य-वैषम्य-निरूपित करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं कि[४] -

(१) रीति वक्रोक्ति का एक अंग-मात्र है। रीति कवि मार्ग है, वक्रोक्ति कवि-कर्म।

(२) दोनों में काव्य का वस्तु-परक विवेचन है।

(३) रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति का प्रसार अधिक है।

(४) रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति रस-सिद्धांत के अधिक निकट है।

(५) वक्रोक्ति में रीति का अन्तर्भाव हो सकता है परन्तु रीति में वक्रोक्ति का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। म० म० कप्पूस्वामी शास्त्री ने वक्रोक्ति के एक वृत्त में रीति, गुण एवं अलंकार का समाहार कर दिखाया है।[५]

---

१ डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी काव्यालंकार सूत्र (भूमिका), पृ० १८१

२ डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् (मूल भाग), पृ० ४१

३ डॉ० गंगासागर राय : हिन्दी काव्य मीमांसा, पृ० २५

४ डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी काव्यालंकार सूत्र (भूमिका), पृ० १८३

५ M M Kuppu Swami Shastri . Highways and Byways of Literary Criticism In Sanskrit, p. 27

रीति और औचित्य

रस, ध्वनि और औचित्य-सिद्धांत आत्मवादी सिद्धांत है तो रीति, अलंकार एवं वक्रोक्ति देहवादी सिद्धांत। औचित्य और रीति का परस्पर-सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए औचित्य के प्रति वामन का और रीति के प्रति क्षेमेन्द्र व आनन्दवर्द्धन का दृष्टिकोण परीक्षणीय है। वामन ने 'औचित्य' का या 'अनौचित्य' का प्रत्यक्ष कोई स्पर्श नहीं किया है। न तो उन्होंने औचित्य की स्वतन्त्र सत्ता या महत्ता की प्रत्यक्ष-परोक्ष चर्चा ही उठायी है। उनके 'गुण-दोष-विवेचन' को ही उनका औचित्य-विमर्श माना जा सकता है। समस्त गुण-दोष-विचार औचित्य-अनौचित्य का आधार लेकर ही अग्रसर हुआ प्रतीत होता है। रस को तो वामन ने अर्थगुण 'कांति' का अंग माना तथा उसे अंगत्व प्रदान किया, किंतु औचित्य का उन्होंने न तो किसी प्रकार से अंगत्व ही प्रतिपादित किया है, न ही अंगीत्व भी। वामन ने न तो औचित्य की उपेक्षा ही की है, न उसे अंगी-रूप में स्वीकार ही किया है।

आनन्दवर्द्धन ने अवश्य ही 'औचित्य'—रस, वक्तृ, विषय एवं वाच्य विषयक—को रीति का नियामक तत्त्व घोषित किया है।[1] उनके परवर्ती आचार्य अभिनव गुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के अनेक भेदोपभेदों में—पद, वाक्य, गुण विषयक औचित्य का समावेश कर उन्हें काव्यांग की कोटि में विन्यस्त कर विवक्षित किया है।[2] इस प्रकार औचित्य के समर्थक आचार्यों ने रीति का स्पष्टतः अंगत्व प्रतिपादित कर उसे औचित्य से अनुशासित स्वीकार किया है। परन्तु रीतिवादी वामन ने न तो औचित्य के व्यापक महत्त्व का उद्घोष ही किया है न ही उसकी सत्ता या महत्ता का निरादर ही। पश्चिम में भी शैली को एक काव्यांग के रूप में ही विवेचित किया जा रहा है।

वस्तुतः रीति की आत्मा गुण, गुण की आत्मा रस, और रस का प्राण औचित्य है। इस तर्क-शृंखला को स्वीकार करने का फल है—रीति को औचित्यानुशासित मान लेना। औचित्य सर्वोपरि सिद्ध होता है। सब तत्त्वों का नियन्त्रण करने वाला 'औचित्य' स्वयं भी अन्य काव्यांगों से शासित होता रहता है। काव्य के उपकरणों के अभाव में या अपनी निरपेक्ष स्थिति में केवल 'औचित्य' व्यर्थ है। कोरा औचित्य अपनी सत्ता नहीं रखता। उसे भी काव्यांगों या चतुर्दिक् के परिवेश की अपेक्षा है। म० म० कुप्पू स्वामी शास्त्री ने औचित्य को सर्वोपरि और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है—

औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः॥[3]

अर्थात् रस ध्वनि, अलंकार, गुण, रीति, आदि सभी औचित्य का अनुधावन

---

१ डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (उत्तरार्द्ध), पृ० ७४१

२ क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार विमर्श, पृ० ११६

३. Kuppu Swami Shastri : Highways and Byways of Literary Criticism In Sanskrit, p 27

करते हैं। औचित्य सब का अन्तर्भाव अपने में कर लेता है।

निष्कर्ष : रीति-विषयक इस समस्त विवेचन का निष्कर्ष इस प्रकार रखा जा सकता है

(१) 'रीति' शब्द 'री' और 'रीङ्' धातुओं से सिद्ध होता है।

(२) 'रीति' शब्द के धात्वर्थ हैं—गति एवं स्रवणशीलता।

(३) 'रीति के कोशगत अर्थ अनेक हैं किन्तु विवेच्य 'रीति' के ग्राह्य अर्थ तो हैं—पदरचना, शैली, काव्य-परिपाटी और साहित्य में वर्णों की वह योजना जिसमें ओज, प्रसाद या माधुर्य गुणों की स्थिति होती है।

(४) 'रीति' शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ और 'पद-रचना' से वह 'काव्यशास्त्र' तक व्याप्त हो गया। हिन्दी में 'रीति' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और वह वर्ण-योजना मात्र न रहकर 'काव्यशास्त्र' का वाचक हो गया।

(५) संस्कृत के आचार्यों ने प्राय सभी प्रमुख आचार्यों ने रीति को एक काव्यांग के रूप में ग्रहण किया है। केवल आचार्य वामन ने उसे काव्यात्मा के रूप में प्रतिपादित किया है। अग्निपुराणकार ने उसे वाग्शैली का पर्याय कहा है। कहीं-कहीं 'रीति' को 'वृत्ति' का पर्याय भी माना गया है यथा मम्मटाचार्य के विवेचन में। रीतिकालीन आचार्यों में चिंतामणि ने 'रीति' को काव्य-पुरुष का स्वभाव, देव ने उसकी गति कहा है। कुलपति मिश्र ने रीति और वृत्ति का अलग-अलग निरूपण किया है, जबकि भिखारीदास ने रीति और वृत्ति में अभेद माना है।

(६) रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति और शैली शब्द यद्यपि व्यवहार में समानार्थी प्रतीत होते हैं और तद्वत् प्रयुक्त भी किये जाते हैं तथापि तत्त्वतः वे परस्पर पर्याप्त भिन्न हैं। रीति पद-योग, वृत्ति वर्ण-योग, प्रवृत्ति वेश-भाषा एवं आचार योग तथा शैली कवि के व्यक्तित्व का योग है।

(७) विभिन्न भारतीय काव्य-सम्प्रदायों में रस, ध्वनि और औचित्य सम्प्रदाय रीति से अधिक व्यापक हैं। वे आत्मवादी सम्प्रदाय हैं। रीति उनकी प्रतियोगी अधिक सहयोगी कम है। रीति का उनके समक्ष गौणत्व या अगत्व सहज सिद्ध हो जाता है। अलंकार सम्प्रदाय रीति का सहयोगी सम्प्रदाय है। अलंकार की तुलना में रीति सम्प्रदाय की व्यापकता स्वत स्पष्ट है। वक्रोक्ति भी मूलत. अभिव्यक्ति-पक्ष से सम्बद्ध होकर 'रीति' का सहयोगी सिद्धान्त ही जान पड़ता है, परन्तु वह रीति से व्यापकतर है। रीति का प्रसार केवल पद-योजना तक है, जबकि वक्रोक्ति का प्रसार कवि-कर्म एवं उसके अंतर्मन तक भी है। वक्रोक्ति रस के अधिक निकट भी है।

रीति-युग

'रीति' के विवेचन के उपरान्त रीति-युग पर विचार करना आवश्यक है। बिना युग से परिचित हुए उस युग के साहित्य का परिचय अधूरा ही समझा जायेगा। उस युग की सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परिस्थितियों पर विस्तार कर लेना चाहिए। रीति-युग से तात्पर्य हिन्दी के रीतिकाल से ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १७०० से १९०० तक के काल को रीतिकाल की संज्ञा प्रदान की है। ई० स० १६५० से १८५० तक का यह समय भारतीय इतिहास में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। शाहजहाँ के उत्तरकालीन शासन से इसका प्रारम्भ होता है और गवर्नर जनरल डलहौजी के भारत आगमन के पाँच-छः वर्ष बाद और ई० स० १८५७ के स्वातंत्र्य-संग्राम के कुछ वर्ष पूर्व समाप्त होता है। इस बीच पूरे देश का जीवन अनेक प्रवाहों में डूबता-उतराता रहा।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

शाहजहाँ के शासन-काल के उत्तरार्द्ध में रीतिकाल का प्रारम्भ होता है। उसके पूर्व बाबर, हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर जैसे कुशल व विराट् व्यक्तित्व-सम्पन्न मुगल सम्राट् शासन कर चुके थे। उदारता, दूरदर्शिता, धार्मिक सहिष्णुता व प्रबन्ध-कौशल से अकबर ने भारत में अपना विशाल साम्राज्य प्रतिष्ठित कर दिया था। हिन्दू-मुस्लिम-एकता द्वारा उसने राष्ट्रीय शासन की सुदृढ़ नींव डाली थी। जहाँगीर का व्यक्तित्व अपने पिता के समान विराट् नहीं था। प्रकृति से वह विलासप्रिय था। शासन का समस्त दायित्व नूरजहाँ पर था। शाहजहाँ अवश्य कुशल शासक था। उसके शासन-काल को 'स्वर्णकाल' कहा जाता है, परन्तु उसके व्यक्तित्व में धार्मिक असहिष्णुता और कला व संस्कृति-प्रेम का विचित्र संयोग था। उसने राज्यारूढ होने के बाद दक्षिण का बहुत-सा भू-भाग जीतकर अपने राज्य में मिला दिया। अकबर द्वारा स्थापित परम्पराओं को इतना शीघ्र उलट देना न जहाँगीर के लिए संभव था न शाहजहाँ के लिए ही। अपनी उदार नीति से अकबर ने जिस गरिमामय, महिमामण्डित व ऐश्वर्य-सम्पन्न मुगल-शासन को स्थापित किया था, उसकी सुरक्षा एवं व्यवस्था में ही इन दो परवर्ती शासकों के शक्ति और समय का व्यय हुआ। अकबर द्वारा सुगठित मुगल-साम्राज्य का राष्ट्रीय-रूप जहाँगीर और शाहजहाँ के हाथों में बहुत-कुछ तो सुरक्षित रहा, किन्तु अपने हाथ में शासन लेते ही औरंगजेब ने उसे बहुत उलट-पलट कर दिया। भारतीय संस्कृति व दर्शन के अनुरागी युवराज दारा की पराजय एवं हत्या से केवल मुगल-साम्राज्य की ही हानि नहीं हुई, भारतीय जीवन व इतिहास की भी बड़ी भारी हानि हुई। अपने पिता को जीते-जी कारावास में डाल और भाइयों की हत्या कर औरंगजेब साम्राज्य का अधिपति बना। अकबर की उदार व सहिष्णु नीति का सर्वथा त्याग कर उसने भारत में इस्लामी राज्य स्थापित करने का संकल्प व प्रयत्न किया। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था। वह धर्मान्ध था। उसके वीतरागी व शुष्क व्यक्तित्व ने कला संगीत व काव्यादि की बड़ी हानि की। शियाओं के प्रति भी वह अनुदार

था। चरित्र की सादगी के साथ उसके व्यक्तित्व में धार्मिक कट्टरता घुल-मिल गई थी। शासन-सूत्र हाथ में आते ही उसने हिन्दुओं पर 'जजिया' लगाया, प्रसिद्ध तीर्थों के मंदिर तुड़वाये, हिन्दुओं से दुगुनी मालगुजारी वसूल करने का नियम कर दिया। मुसलमान बनने वालों को जागीरें देना शुरू किया। हिन्दुओं को उच्च पदों से हटा दिया। हिन्दुओं के सार्वजनिक त्यौहार मनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। दिल्ली दरबार से हिन्दू-रीति-रिवाज उठा दिए।[1] फलतः चारों ओर से उसके विरुद्ध विद्रोह का प्रबल बवंडर उठ खड़ा हुआ और मथुरा के समीप जाटों ने, नारनौल के समीप सतनामी सम्प्रदाय वालों ने, पंजाब में सिक्खों के गुरु तेगबहादुर ने, राजपूताने में वीर दुर्गादास राठौर ने, दक्षिण में शिवाजी ने उसका प्रबल विरोध किया।[2] औरंगजेब की मृत्यु के बाद स्थिति और भी करुणाजनक हो गई। घोर अव्यवस्था, रक्तपात और नैतिक पतन की कहानी बनकर ही रह गई बाद की स्थिति। उसकी मृत्यु के बाद सभी छोटे-बड़े राजा एवं सामंत स्वतन्त्र शासक बन बैठे। उसके उत्तराधिकारी सभी निर्वीर्य, अयोग्य, दुश्चरित्र हुए। औरंगजेब के किसी भी उत्तराधिकारी में वह महान् व विराट् व्यक्तित्व नहीं था, जो बाबर या अकबर में था।

परवर्ती शासकों की विलासिता, दुर्बलता, चरित्रहीनता ने मुगल-शासन की सुदृढ़ इमारत की जड़ें हिला दीं और वह इमारत ढहने लगी। प्रजा में सार्वत्रिक अरक्षा व भय तथा अनुशासनहीनता का भाव भर गया। केन्द्रीय शासन दुर्बल पड़ता गया। प्रांतीय शासक स्वतन्त्र व स्वेच्छाचारी हो गए। व्यापार और कर की केन्द्रीय आय घटती गई।

इधर शक्ति क्षीण होती गई, उधर मराठों की शक्ति बढ़ती गई। दक्षिण के मुसलमानी राज्यों को शिवाजी ने जीत लिया। चौथ और सरदेशमुखी वसूल की जाने लगी। शिवाजी के बाद पेशवाओं का नेतृत्व कायम हुआ। बालाजी विश्वनाथ, बाजीराव, बालाजी बाजीराव आदि ने मराठों की शक्ति को क्रमशः चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। दिल्ली दरबार में भी इन पेशवाओं की धाक थी। दिल्ली के बादशाह इन पेशवाओं के हाथ की कठपुतली बने हुए थे। सन् १७६१ में पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली और मराठों के बीच घोर संग्राम हुआ, जिसमें मराठों की पराजय हुई। मराठों के प्रभाव का अन्त हो गया।

अट्ठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में भारत में पश्चिमी देशों से आए—डच, वलन्दा, पुर्तगाली, फ्रेंच, अंग्रेज आदि—का प्रभुत्व शनैः-शनैः बढ़ने लगा। वे व्यापारी बनकर आए और धीरे-धीरे शासक बन बैठे। सन १७५७ से १८५७ तक पूरी एक शती तक भारतीय इतिहास व राजनीति पर अंग्रेजों का प्रभुत्व रहा। इस काल में बहुत से गवर्नर-जनरल भारत आए। उन्होंने शासन किया। भारत में आधुनिक-युग का सूत्रपात उन्होंने किया। इस युग में भारत का सर्वाधिक लाभ एक शासन के अन्तर्गत

१. सत्यकेतु विद्यालंकार भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ५२७

२. वही, पृ० ५२८

आ गया छोटे छोटे राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त-सी हो गई। केन्द्रीय शासन का आरम्भ हुआ। विदेशी आक्रमण थम गए। समग्र भारत में सुव्यवस्थित व सुगठित सरकार की स्थापना हुई। अंग्रेजी भाषा के द्वारा शिक्षा दी जाने लगी, ज्ञान-विज्ञान का प्रसार हुआ। भारतीय सैन्य-शक्ति से अंग्रेजों ने अन्यत्र भी अपना प्रसार किया।

ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय-चेतना का विकास होता गया, अंग्रेजों के एकाधिकार व स्वेच्छाचार को चुनौती दी जाने लगी। शासन-कार्य दुष्कर बनता जाने लगा।

ई० स० १६५० से १८५० तक का—दो शताब्दियों का यह काल जिसे साहित्येतिहास में 'रीतिकाल' कहते हैं—निरन्तर संघर्षों से ही भरा पड़ा है। परन्तु इन संघर्षों के बीच भी छोटे-छोटे राजा तो अपनी विलास-साधना में निरत ही रहे। धर्म, शासन और संस्कृति की विविध भूमियों पर यह संघर्ष चलता रहा।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि राजनीतिक दृष्टि से ये दो सौ वर्ष विप्लव और युद्ध के ही वर्ष रहे। युद्धों के पीछे न तो राष्ट्रीय जागरण था न ही शोषितों का शोषकों के प्रति आक्रोश। इनमें था व्यक्तिगत पारस्परिक वैमनस्य और धार्मिक संकीर्णता एवं अधिकार की लोलुपता। इससे राजनीतिक ऊहापोह तथा सामाजिक अव्यवस्था ही पैदा हुई। जनता का जीवन-स्तर भी नीचा हो गया।[1]

सामाजिक परिस्थितियाँ

रीतियुगीन सामाजिक जीवन सामंतीय अधिक था, साधारण व सहज कम। जीवन सामंतीय होने से उसमें बादशाह का स्थान सर्वोपरि था। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र ये मुगल बादशाह व अन्य शासक अपने-आप को 'देव' समझते थे और उनके कुछ विशिष्ट अधिकार भी थे। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने उनके इन विशिष्टाधिकारों का निर्देश किया है—(१) धर्म और शासन—दोनों क्षेत्रों में सर्वोच्च सत्ता केवल बादशाह की ही थी। (२) लोग बादशाह के दर्शन के लिए प्रातःकाल महल के पास एकत्र होते थे। कुछ लोग दर्शन किए बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करते थे। नूरजहाँ भी 'दर्शन' देती थी तथा अपने को 'जगत् गुसाइनी' कहलवाती थी। (३) बादशाह के सिवा अन्य किसी के भी सामने जमीन से हथेली छुआ कर तसलीम नहीं की जाती थी। (४) बादशाह के यात्रा पर प्रस्थान करते समय नगाड़ा और लौटने पर दमामा बजाया जाता था। (५) केवल बादशाह ही किसी को उपाधि या खिताब दे सकता था। (६) बादशाह के सवारी पर चलते समय दूसरा कोई सवारी पर नहीं चल सकता था। (७) किसी व्यक्ति को विकलांग करने का अधिकार केवल बादशाह को ही था। (८) केवल बादशाह के लिए ही हाथियों की लड़ाई का मनोरंजन आयोजित किया जाता था।[2] इन विशिष्टाधिकारों से यह सहज स्पष्ट हो जाता है कि ये बादशाह सही माने में एकराट्, स्वतन्त्र, एकतन्त्र एवं स्वेच्छाचारी थे। उनकी देखादेखी बहुत से छोटे-मोटे शासक और सामंत भी निरंकुश व्यवहार करने लगे थे। इन सामंतों व अमीर-उमराओं का जीवन सर्वसाधारण जनता से सर्वथा अलग व अछूता रहा। प्रजा चाहे अरक्षा, भय,

१ डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, (भाग ६), पृ० १२
२ डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार . भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ५४२

अशांति, विश्रृंखलता, अव्यवस्था एवं अनुशासनहीनता से ग्रस्त हो, ये निरन्तर भोग व विलास में डूबे रहते थे। अनर्गल भोग-विलास में लीन सामंतो को प्रजा की कोई चिंता नहीं थी। इनके अन्त पुर मे बेगमो, सेविकाओं, अविवाहिताओ की बडी भारी सख्या रहती थी, जिनकी व्यवस्था के लिए बहुत से कर्मचारी होते थे, अपार द्रव्य खर्च होता था। इनका बहुत-सा समय दावतो, सुरापान, सुस्वादु भोजन, नृत्य-गान, क्रीडादि मे बीतता था। केवल बादशाह के पद को छोडकर अन्य कोई पद वशानुगत नहीं था। इनके वैभव-ऐश्वर्य तडक-भडक आदि का विस्तृत वर्णन बर्नियर एव मनूची ने अपने ग्रंथो मे किया है। जिस शाहजहाँ के शासन-काल को 'स्वर्णकाल' कहकर उसके प्रबन्ध की प्रशसा की जाती है, उसकी विलासिता, ऐश्वर्य-वैभव प्रदर्शन, पाशविक ऐन्द्रिय भोग, लोलुपवृत्ति का विशद् विवरण पश्चिमी इतिहास-लेखको मे मिलता है। भारतीय इतिहासकार उन्हें आदर्श शासक मानते है और पश्चिम के इतिहास लेखकों से उनका मतभेद है।[1] परवर्ती मुगल शासको की विलासिता एवं चरित्रहीनता की कहानी तो और भी दु:खद है। ये इतने गये-गुजरे थे कि अपराधियो को उचित दण्ड भी नहीं दे सकते थे। उनकी चहेती वेश्या या रखैल के इशारो पर राज्य का कारोबार होता था। अनाज का भाव बढा दिया जाता था। यात्रियो से भरी नौकाएँ उलट दी जाती थी। योग्यता का कतई विचार किए बिना सारगी व तबला-वादकों को ऊँचे पदो पर नियुक्त किया जाता था। संतानोत्पत्ति के लिए बादशाह दरगाह मे नग्न स्नान करता था। चहेती के यारों के थप्पड-घूँसे और लातें सहता था।

साधारण जनता का जीवन इतना पतित व घृणित नही था। यद्यपि वे इन प्रभावो से सर्वथा अप्रभावित नहीं थे तथापि उनकी स्थिति उतनी वितृष्णा व जुगुप्सा प्रेरक न थी। सभ्रात हिन्दू-परिवारों में गार्हस्थ्य की पवित्रता व नैतिकता बराबर पाई जाती थी। साधारण जनता मे जाति-भेद, वर्ग-भेद, छुआछूत-विचार पाया जाता और इसका भग करने का कोई उद्योग नहीं होता था। बाल-विवाह अत्यन्त अधिक मात्रा मे होते थे। विधवा-विवाह का विशेष समर्थन नही होता था। महाराष्ट्र मे ब्राह्मणेतर कुछ जातियो मे और उत्तर मे जाटो मे विधवा-विवाह का निषेध नहीं था। शासको का प्रयत्न इसमें विफल होता था। पति की मृत्यु के बाद सती हो जाने का प्रचलन था परन्तु स्त्री की इच्छा के विपरीत बलात् उसे सती नही कर दिया जाता था। जाति, वश एवं कुल का गौरव विशेष रहता था; लोग अपने से निम्नतर जातियो को हीन मानते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनो ज्योतिष मे विश्वास करते थे। शकुन-अपशकुन का विचार भी अधिक करते थे। जनता अधविश्वासो मे घिरी हुई थी। इसी कारण फकीरो व भिक्षुकों की संख्या काफी बढी हुई थी। टेवर्नियर ने लिखा है कि इस देश में आठ लाख फकीर और बारह लाख साधु है जो जनता से भीख प्राप्त कर अपना निर्वाह करते हैं।[2] गुलामो का क्रय-विक्रय होता था। लोग नरबलि भी देते थे।

१. डॉ० नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, पृ० १३

२. डॉ० सत्यकेतु विद्यालकार भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ५५८-५५३

आर्थिक दृष्टि से रीतियुगीन समाज तीन स्तरों में विभक्त था - (१) सामन्त या शासक वर्ग, (२) मध्य वर्ग (३) श्रमजीवी व कृषक वर्ग। सामंत वर्ग या शासक वर्ग किसी प्रकार के अभावों से पीड़ित नहीं था। साथ ही विलास-वैभव की प्रचुरता के कारण उनमे प्रदर्शन, अलंकरण व अनैतिकता आ चुके थे। मध्य वर्ग में धनाभाव विशेष नहीं था किंतु शासकों के अत्याचार के भय से वे खुलकर धन का खर्च न करते थे न यही बताते थे कि उन्हें अभाव नहीं है। श्रमजीवी वर्ग, मजदूर वर्ग, कृषक वर्ग धनाभाव से पीड़ित रहता था। उसे खाने भर को तो मिल जाता परन्तु विलासिता के लिए, प्रदर्शन व वैभव के लिए, उत्सवों के लिए उनके पास धन नहीं रहता था। केवल खाने-पीने के मामले में वे दुखी नहीं कहे जा सकते। कपड़े-लत्ते भी वे ठीक से पहन नहीं पाते थे।

आर्थिक परिस्थितियाँ

आर्थिक दृष्टि से इस युग का समाज तीन वर्गों में विभाजित था—(१) सामन्त वर्ग (२) मध्यम वर्ग और (३) निम्न वर्ग। शासक, शासकीय कर्मचारी-वर्ग इस प्रथम वर्ग में स्थान पाते हैं, जिन्हें कोई अभाव नहीं था। उनका कोश प्रजा के द्रव्य से सदैव भरा रहता था। नाना प्रकार की विलास-सामग्री व आमोद-प्रमोद के आयोजनों में यह द्रव्य खर्च होता रहता था। विदेशी यात्रियों ने पूर्णत. निरंकुश इन मुगल बादशाहों की स्वेच्छाचारिता, विलास-वैभव, ऐश्वर्य आदि का अत्यन्त रोचक व विशद् वर्णन किया है। विशेषत शाहजहाँ के दरबार के ऐश्वर्य, वैभव व तड़क-भड़क का वर्णन अत्यन्त रसप्रद है। सर्वत्र प्रदर्शन, चमत्कार व अलंकरण की प्रवृत्ति प्रधान थी। सुन्दर से सुन्दर पोशाक, उत्कृष्टतम सुरा, षड्रस भोजन, भोग-विलास, नृत्य-गान, द्यूत-क्रीड़ा कबूतर-बाजी आदि में वे पानी की तरह रुपया बहाते थे। उनके अन्तःपुर में बेगमों, दास-दासियों अन्य स्त्रियों की बड़ी भारी सख्या होती थी। उनकी देख-रेख के लिए अलग विभाग होता था। उस विभाग के अधिपति को 'खानसामा' कहते थे। वह इनके वस्त्र, आभूषण, इत्र तथा अन्य विनोद-सामग्री को जुटाने का काम करता था। राजकोश से इस विभाग के लिए भी अपार खर्च मिल जाता था। बादशाह की देखादेखी छोटे-छोटे कर्मचारी भी बड़े ठाठ-बाट से वैभवयुक्त व विलासमय जीवन जीते थे। इन सामन्तों का वैभव इतना अधिक था कि फारस का सम्राट् भी उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। तीसरे दर्जे के मुंशी की आय भी बलख के सम्राट् की आय से अधिक होती थी।[1] मोरलैंड के दिये आकड़ों के अनुसार पाँच हजारी मनसबदार की आय (अपना सैन्य-खर्च निकाल कर) १८००० रुपये मासिक थी। एक हजारी की आय ५००० रुपये मासिक थी।[2] वस्तुओं का भाव इतना कम था कि इस सारी आय को खर्च करने के लिए उन्हें नवीन-नवीन आयोजन करने पड़ते थे।

---

१ डॉ० नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, पृ० १५

२ डॉ० सत्यकेतु विद्यालकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ ५५०

मध्यम वर्ग में निम्नवर्ग के कर्मचारी, व्यापारी, समृद्ध शिल्पियों, कलावंतों, आदि का समावेश होता है। व्यापारियों एवं शिल्पियों की माली हालत अच्छी होती थी किन्तु उन्हें नित्य-प्रति राजस्व का भय सताता था। वे अपने पहनावे व अन्य बाह्य-विभव के लिए पैसा खर्च इसलिए नहीं करते थे कि कहीं राज-कर्मचारी उनकी संपन्नता का पता लगाकर उनसे राजकीय कर के रूप में धन-सम्पत्ति छीन न लें। वे राज-कर्मचारियों को समय-समय पर भेंट-पूजा-उपहार चढ़ाते रहते थे। कलावंतों व शिल्पियों की आर्थिक हालत भी काफी अच्छी थी। उन्हें पुरस्कार के रूप में बहुत धन मिलता रहता था।

तीसरे वर्ग में साधारण जनता किसान कर्मकार, पेशेवर लोग, छोटे शिल्पियों का समावेश होता है, जिनकी आर्थिक दशा तुलनात्मक दृष्टि से बहुत पिछड़ी थी। प्रथम दो वर्गों की तुलना में इस वर्ग की हालत बहुत खराब थी। कहने को ये स्वतन्त्र थे परन्तु सबसे अधिक पीड़ित और परतन्त्र वे ही थे। उनसे राज-कर्मचारी बेगार करवाते थे, उन्हें वेतन का आश्वासन न था। छोटे दुकानदार भी राज-कर्मचारियों से पीड़ित थे। वे इनसे माल लेकर पूरी कीमत नहीं देते थे।[1]

यद्यपि साधारण जनता की अवस्था अच्छी नहीं थी तथापि यह भी स्पष्ट है कि वस्तुओं का मूल्य बहुत कम होने से वे अपना गुजारा कर लिया करते थे। उस युग के वस्तुओं के भावों से यह स्पष्ट हो जाता है। अकबर के समय में (कुछ बाद भी) वस्तुओं के मूल्य इस प्रकार थे—गेहूँ एक रुपये के ८३ सेर,[2] बाजरा एक रुपये का १२५ सेर, उड़द या मूँग की दाल एक रुपये की ५६ सेर, घी एक रुपये का ६ सेर, दूध एक रुपये का ४० सेर, बकरे का माँस एक रुपये का १५ सेर, चीनी एक रुपये की ८ सेर मिलती थी।[3] मजदूरी की दरें इस प्रकार थीं—मामूली मजदूर - प्रतिदिन दो दाम,[4] मिस्त्री, राज, बढ़ई आदि—प्रतिदिन सात दाम पाते थे।[5] पूरे देश में सर्वत्र खाद्य पदार्थों का बाहुल्य था। बिना किसी कठिनाई के सब लोग रोटी खा सकते थे।

इतना होते हुए भी निम्न वर्ग केवल पेट पाल सकता था। कपड़े, गहने, मकान, शादी-ब्याह, उत्सव व अन्य दायित्वों के निर्वाह के लिए उन्हें कर्ज लेना पड़ता था। समय-समय पर आने वाले दुर्भिक्षों के कारण भी इनकी दशा बिगड़ती रहती थी। युद्ध के लिए प्रस्थित सेनाएँ खड़ी फसलें उजाड़ देती थीं। डेढ़ लाख मुगल सैनिक जिधर चल पड़ते वहाँ की सारी फसलें नष्ट हो जातीं। मराठे भी विजय प्राप्त करने की धुन में इन बातों की परवाह नहीं करते थे। श्रमिकवर्ग केवल क्षुधा व आततायियों के,

---

१ डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ५५१
२ यह सेर गुजरात के सेर से दुगुना होता था। ८० तोले का होता था।
३. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ५५४
४. एक दाम = उस समय के रुपये का ४०वाँ हिस्सा। आज का २½ पैसा।
५ डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ५५४

आक्रमणों से ही पीड़ित न था, अनेक महामारियों से भी त्रस्त था। जन-धन की बहुत हानि होती थी।

धार्मिक परिस्थितियाँ

अकबर की धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप भारत में उस समय हिन्दू, सिक्ख, बौद्ध, जैन, इस्लाम, जरथ्रोष्टी एवं ईसाई धर्म के मतावलंबी शांतिपूर्वक अपने-अपने मत एवं सम्प्रदायों का अनुवर्तन करते थे। अकबर भी इन विभिन्न धर्मों के धर्मगुरुओं के उपदेश सुनता था तथा जिस धर्म से जो कुछ ग्राह्य हो सकता था, उसे ग्रहण करता था। अकबर के समय में लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता का अनुभव यथार्थ रीति से हुआ।

हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत उस समय प्रमुखतः मुख्य रूप से निर्गुण व सगुण मतों का समावेश होता था। सगुण सम्प्रदाय भी शैव, वैष्णव आदि भेदों से विभाजित थे। शैवों के प्रमुख भेद थे— (१) शंकराचार्य के अद्वैतवाद का अनुसरण करने वाले, (२) पाशुपत शैव, (३) कापालिक शैव, (४) वीर शैव, (५) लिंगायत शैव, (६) शिव सिद्धान्तानुयायी। शैवों के ये छः भेद पाये जाते हैं।[1] वैष्णवों में कृष्णोपासक, रामोपासक और आलवार—तीन भेद हैं। आलवार संत दक्षिण में हुए और उन्होंने भक्ति का प्रवाह द्रविड़ देश से उत्तर में प्रवाहित कर दिया। कृष्णमतावलम्बी सम्प्रदायों में (१) विशिष्टाद्वैत, (रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित), (२) मध्वगौड़ीय, (मध्वाचार्य द्वारा प्रतिपादित) (३) द्वैताद्वैत (निम्बार्काचार्य द्वारा प्रतिपादित) (४) शुद्धाद्वैत (वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित) प्रमुख हैं। रामोपासकों के दो वर्ग हैं—मर्यादावादी अर्थात् तुलसीदास की परम्परा में आने वाले तथा माधुर्यभाव के उपासक। सखी-सम्प्रदाय की भी यही स्थिति है। रामानन्द की परम्परा में तुलसी ने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम की उपासना की, जबकि माधुर्य भाव से राम की उपासना करने वालों ने—'राम रसिक सम्प्रदाय' में लीला विहारी राम की कल्पना की। इस सम्प्रदाय के उपासक राम को लीला विहारी, सीता को राधा और स्वयं अपने आप को गोपी समझकर राम की उपासना करते हैं। सखी सम्प्रदाय गोपी भाव की उपासना पद्धति का अनुवर्त्तन करता है।

निर्गुण धारा के दो भेद—(हिन्दी में) चल पड़े—ज्ञानाश्रयी व प्रेममार्गी। ज्ञानाश्रयी कबीर ने बाह्याचार का खंडन कर आत्मशुद्धि व अडिग ईश्वर-निष्ठा का प्रबल समर्थन किया। प्रेममार्गी जायसी ने लौकिक प्रेमाख्यान के माध्यम से अलौकिक रहस्यमय 'पारस' रूप का सर्वत्र उद्घोष किया है। ज्ञानमार्गियों में दादू, नानक, रैदास, वगैरह निरक्षर सन्तों ने अपने-अपने पन्थ चलाए।

बौद्धों में उस समय महायानी व वज्रयानी दो भेद थे। महायान-बौद्धों का प्रसार पश्चिमी भारत और मध्य प्रदेश में विशेष रूप से था। वज्रयानी बौद्ध उड़ीसा में अधिक प्रबल थे। वज्रयानियों से प्रभावित 'वाम मार्ग' तथा 'शाक्त सम्प्रदाय' अपनी-

1. Dr. A. B Pandey : Society and Government in Medieval India, p. 208

अपनी आचार-निष्ठा छोड़ प्रतीकों का रहस्य भूलकर स्थूल ऐन्द्रिय भोगादि में लिप्त हो गए थे।

नानक के बाद सिक्खों मे गुरु-परम्परा शुरू हुई। शुद्ध-धर्म-सम्प्रदाय के रूप मे शुरू हुए इस सम्प्रदाय को मुगल अत्याचारों का सामना करने के लिए थोड़ा राजनीतिक स्वरूप ग्रहण करना पड़ा। मुगल शासकों के द्वारा की गई गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेग-बहादुर की हत्याएँ तथा गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्रों—फतहसिंह और जुम्मारसिंह—को जीवित दीवार मे चुनवा देने का परिणाम ही यह हुआ कि समस्त सिक्ख जाति उनकी विरोधिनी हो गई।

जैनों की परम्परा पर्याप्त प्राचीन थी। उन्हे किसी राजनीतिक संघर्ष का प्रबल प्रतिकार करना नही पड़ा। गुजरात और राजस्थान में ही उनका अधिक प्रसार था। स्वयं अकबर ने भी अपने दरबार मे जैनाचार्य हीर विजयसूरि, विजयसेन सूरि, भानुचंद्र उपाध्याय और जिनचन्द्र आदि को सम्मानपूर्वक स्थान दिया और उनसे जैन धर्म का उपदेश भी सुना था। उनसे प्रभावित होकर उसने पशु-हिंसा बन्द करने का प्रयत्न भी किया था।[1]

जरथ्रुष्ट के उपदेश सुनने के लिए अकबर ने दस्तूर मेहरजीराना नामक धर्म-गुरु को तथा ईसाई धर्म के उपदेश सुनने के लिए गोवा से पुर्तगाली पादरियों को बुलवाकर अपने यहाँ स्थान दिया था।

मुगल शासन के कुछ पूर्व ही भारत में सूफी सन्तों का प्रभाव बढ़ने लगा था। इस्लाम का प्रचार भी बढ़ रहा था। अकबर ने सब धर्मों का सार-संग्रह कर 'दीने इलाही' की रचना की जिसमे—एक ही ईश्वर को मानने, अन्धविश्वास का त्यागकर विवेक मे काम लेने, माँस-भक्षण न करने, पशुहिंसा न करने, सूर्य और अग्नि की पूजा करने—का उपदेश दिया गया है। कुछ दरबारी और जनता के लोगों ने इस का अंगीकार किया परन्तु वह व्यापक धर्म नहीं बन पाया। धर्म शासक द्वारा चलाया नहीं जा सकता वरन् सहज ही जन-हृदय-ग्राह्य बनता है, यह इससे स्वत सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त कुछ सम्प्रदाय—प्राणनाथ, सतनामी, नारायणी, चिश्तिया (सूफी), निजामिया, कादरिया आदि—भी चले, जिनमे हिन्दू-मुस्लिम दोनों का विश्वास था।

उत्तर-मध्य-काल अर्थात् रीतिकाल मे जहाँगीर और शाहजहाँ ने इन धार्मिक परम्पराओं को तोड़ने का प्रयत्न नही किया, सम्भवत: इसलिए कि दोनों की माताएँ हिन्दू (राजपूत) थीं, किन्तु औरंगजेब ने अपनी कट्टरता मे इनमें से बहुत से धर्म-सम्प्रदायों को पनपने नहीं दिया।

पूरा रीति-युग धार्मिक दृष्टि से विभिन्न सम्प्रदायों का अखाड़ा था। नैतिक व

1 डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ५६१

बौद्धिक ह्रास का युग था।[1] धर्म भी अपने उदात्त रूप को छोडकर अन्धविश्वास, रूढियों की दासता, बाह्याडम्बर, में फँसा था। धर्मगुरुओं, मौलवियो, वैष्णव-आचार्यों का स्थान 'ईश्वर' के बराबर था। उनकी बात वेद-वाक्य समझी जाती थी। बादशाह भी उनमे भील रहता था। उनके धन-वैभव, विलास की तुलना मे शासक फीका पड जाता था। जनता का नैतिक स्तर उठाने के स्थान पर वे उसे अधि॰ निम्नतर करते थे। भक्तिकालीन माधुर्य भावना का सूक्ष्म तत्त्व लुप्त-सा हो गया और उसके स्थान पर स्थूल ऐन्द्रिक भोग व भ्रष्टाचार बढने लगा। डॉ० ए० बी० पाण्डेय ने इस पर प्रकाश डालते हुए विस्तार से उसकी आलोचना की है।[2] उनके मतव्य का सार यह है कि जीव और ब्रह्म के अद्वैत के उच्च आदर्श के प्रतीक-रूप यह 'राधाभाव' परवर्तीकाल मे स्थूल स्त्री-पुरुष सम्बन्ध मे परिणत होकर रह गया। सामाजिकता का विचार किए बिना इसने भ्रष्टाचार का अधिक प्रचार किया। राजाओ की भोग-लिप्सा को उसने अनुकूल भूमि प्रदान की व एक अलग सम्प्रदाय के रूप मे प्रतिष्ठा भी पायी। इसकी लपेट से 'रामभक्ति' भी बच नही पायी। 'रसिक सम्प्रदाय' ने राम की माधुर्य भाव से उपासना की। राम का लीला-विहारी रूप ग्रहण कर उनकी सयोग लीला के कुत्सित चित्र भी प्रस्तुत किए। इस पर अत्यन्त खीझकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कठोर शब्दों में इसकी प्रतारणा की।[3] उसके प्रत्युत्तर में डॉ० भगवती सिंह ने "राम भक्ति मे रसिक सम्प्रदाय' नामक शोध ग्रंथ में इस सम्प्रदाय के स्वरूप व दर्शन को स्पष्ट किया और बहुत सी शकाओं का निरसन भी किया। फिर भी इतना तो सत्य है कि यह एक ऐसा सम्प्रदाय था, जिसमें युगीन विलास-वृत्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा लक्षित होता है।

नैतिक भ्रष्टाचार, कामुक लोलुपता, भक्तजनो की स्त्रैण चेष्टाएँ, शारीरिक—स्थूल आकांक्षाएँ धार्मिक विकृतियों के रूप में उभर कर सामने आयी। इन विकृतियों को 'उन्नयन' कहना ईश्वर प्रेम का अपमान करना है। सर्वत्र स्थूल पार्थिवता व्याप्त थी। भक्ति मे वित्त सेवा का महत्त्व बढता ही गया।[4] साम्प्रदायिक गुरुओ की पूजा व भक्तों मे गोपी भाव के कारण अनाचार फैलने की पर्याप्त सुविधा हो गई। धर्म के गम्भीर तत्त्व-चिंतन के स्थान पर वितण्डावाद, चमत्कार, भेडियाधसान, बाह्याडम्बर, गुरुओ का आतक व तात्रिको का प्रभाव ही अधिक बढ गया था। सर्वत्र धार्मिक अराजकता दिखाई देती थी।

रीतियुग में किसी भी सम्प्रदाय मे एक भी ऐसा सन्त या महात्मा नहीं हुआ,

---

१. डॉ० नगेन्द्र · हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भा० ६, पृ० १७
२. Dr. A. B Pandey · Society and Government in Medieval India, p. 152-54
३. आ० रामचन्द्र शुक्ल · हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १५२-५४
४. डॉ० नगेन्द्र . हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, पृ० १८

जिसने अपनी वाणी व आचरण द्वारा समूचे समाज का नेतृत्व किया हो या समाज की गति बदल डाली हो। युगीन विलासपरक दृष्टि से धर्म भी प्रभावित हुए बिना नही रहा। सर्वत्र ऐश्वर्य, तृष्णा व स्थूल शृंगारोपासना का ही राज्य था।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

रीति-युग दो संस्कृतियों का संगम-स्थल है—इस्लामी संस्कृति और भारतीय संस्कृति का। भक्ति-युग में इन दो संस्कृतियों का संघर्ष रहा किंतु क्रमश यह उपशमित होता गया। जैसाकि सदैव होता है—विजेता की संस्कृति का विजित पर प्रभाव पड़ता है और विजित भी इस प्रभाव को शनैः-शनैः आत्मसात् कर लेता है। विजेता मुगलों का प्रभाव विविध क्षेत्रों में पड़ा। उन पर अलग-अलग विचार कर लेना समीचीन ही होगा।

भाषा

संस्कृति के अंगों में भाषा प्रमुख है। विजेता की भाषा का प्रभाव बहुत शीघ्रगामी व तीव्रतर होता है। मुगल शासन का बल पाकर फारसी पूरे देश में छाने लगी थी। राज्य-भाषा भी वही थी। शिक्षा, न्यायालय, शासन सर्वत्र फारसी का व्यवहार होने लगा। हिन्दू भी फारसी पढने लगे थे। राज-दरबारों में हिन्दी का स्थान फारसी ने ले लिया था। शाहजहाँ ने अवश्य हिन्दी को थोड़ा-बहुत प्रश्रय दिया परन्तु औरंगजेब ने तो अपने दरबार से हिंदी को बहिष्कृत कर दिया। हिन्दी के कवि छोटे-बडे हिन्दू-राजाओं के आश्रय में पलने लगे। यद्यपि राजभाषा फारसी थी और उसमें भी साहित्य रचा जाता था, परन्तु साहित्य सृजन की प्रमुख भाषाएँ ब्रज एवं अवधी ही थी। विभिन्न राजाओं का आश्रय पाकर रीतियुगीन कवि अपनी काव्य-रचना किया करते थे। केशव को इन्द्रजीत का, भूषण को शिवाजी, छत्रसाल आदि का, बिहारी को राजा जयसिंह का, मतिराम को राव भावसिंह का, घनानन्द को मुहम्मदशाह रंगीले का आश्रय मिला था। इन कवियों की भाषा पर फारसी का प्रभाव पड़ना सहज स्वाभाविक है। घनानन्द की भाषा पर फारसी प्रभाव बहुत स्पष्टतया लक्षित होता है।

साहित्य

रीतियुगीन साहित्य मुख्यत फारसी, ब्रज एवं अवधी भाषाओं में ही रचा गया है। फारसी के कई प्रसिद्ध कवि इस युग में हुए हैं। उनमें प्रमुख है—अबुल फजल, गियास बेग, नकीब खाँ, मुतमिद खाँ, निआमतुल्ला और अब्दुल हक देहलवी। औरंगजेब काव्य का प्रेमी नहीं था। उसके बाद के शासक भी विशेष कला व साहित्य-प्रेमी न थे। फारसी काव्य का विकास भी औरंगजेब के समय में अवरुद्ध हुआ। हिन्दी में उस समय ब्रज और अवधी में रचना होती थी। रीतियुग में असंख्य कवियों ने काव्य-रचना की थी किन्तु उच्च स्थान—लाभ तो गिने-चुने कवियों को ही हुआ। केशव, देव, बिहारी, मतिराम, सेनापति, घनानन्द, भूषण, रहीम, गिरधर, पद्माकर, बोधा आलम ठाकुर का नाम सगर्व लिया जा सकता है। काव्य-शास्त्रकारों में चिन्तामणि

केशव, कुलपति, भिखारीदास, श्रीपति आदि मुख्य हैं। रीतियुगीन काव्य-धाराओं को तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है—रीतिबद्ध, रीति-सिद्ध, रीति-मुक्त। रीतिबद्ध धारा के प्रतिनिधि केशव, रीतिसिद्ध धारा के प्रतिनिधि बिहारी और रीतिमुक्त धारा के प्रतिनिधि घनानन्द हैं। विषय की दृष्टि से इस युग की कविता अधिकांशतः शृंगार-परक ही थी। नायिका-भेद, षड्ऋतु-वर्णन, बारहमासा, नखशिख-वर्णन, संयोग-वियोग के ऊहात्मक वर्णनों से, कुछ वीर रस की रचनाओं से, कुछ भक्ति की रचनाओं से व कुछ नीतिपरक उक्तियों से इस युग का साहित्य-भण्डार आपूरित है। प्रेम और शृंगार ही इस युग के प्रमुख विषय थे और उनका निरूपण करना ही प्रमुख प्रवृत्ति थी। साहित्य में सर्वत्र चमत्कार, अलंकार-योजना एवं प्रदर्शन-भावना प्रमुख थी।

संगीत

रीतिकाल में संगीत की विशेष उन्नति नहीं हुई, बल्कि यों कहना चाहिए कि उसकी अवस्था शोचनीय हो गई। रीतिकाल के पूर्व राजा मानसिंह के प्रश्रय में भारतीय संगीत ने अपना चरमोत्कर्ष प्राप्त किया। राजा मानसिंह ने 'ध्रुपद' शैली का आविष्कार किया। मुगल युग में भारतीय संगीत कला एवं संगीत शास्त्र को विदेशी प्रभावों का सामना करना पड़ा जिसमें संगीत कला तो इन प्रभावों को झेलकर अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकी, किंतु संगीत शास्त्र में कोई नवीन मौलिकता नहीं आई। मुगल-दरबार में प्रश्रय पाने वाले ३६ संगीतज्ञों में केवल चार ही हिन्दू थे।[1] अकबर के समय में तानसेन, पुंडरिक विट्ठल का स्थान महत्त्वपूर्ण था। तानसेन संगीत कला के क्षेत्र में और पुंडरिक विट्ठल संगीत शास्त्र के क्षेत्र में अन्यतम थे। जहाँगीर के समय में पंडित दामोदर ने संगीत शास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'संगीत दर्पण' रचा। शाहजहाँ के समय में संगीत के क्षेत्र में प्रदर्शन वृत्ति व अलंकरण वृत्ति का प्रवेश हुआ। इसी युग में अहोबल का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संगीत पारिजात' रचा गया, जिसमें २९ विकृत स्वरों के नामों का उल्लेख युगीन अलंकरणवृत्ति का प्रमाण प्रस्तुत करता है। प्रायः सभी दरबारी गायक तानसेन की शैली में ईषत् परिवर्तन कर अपने युग की रुचि का प्रदर्शन करते थे। औरंगजेब संगीत का शत्रु था। उसके समय में संगीत कला का बहुत ह्रास हुआ। उसने दिल्ली दरबार के संगीतकारों को दरबार से बहिष्कृत कर दिया, संगीत गोष्ठियों पर राजकीय प्रतिबन्ध भी लगवा दिये। फलतः संगीतकारों के लिए आजीविका चलाना भी बड़ा दुष्कर हो गया। वे सभी छोटे-मोटे राजाओं के आश्रय में चले गये। बीकानेर नरेश के आश्रय में आचार्य भावभट्ट ने 'अनूप-संगीत-रत्नाकर', 'अनूप विलास' तथा 'अनूपांकुश' ग्रन्थ रचे।[2]

इसी समय दक्षिण में एक स्वतन्त्र शैली विकसित हो रही थी, जिसके प्रमुख आचार्य थे आंध्रनिवासी सोमनाथ और पं० व्यंकट मखी। उत्तर भारत की संगीत-

---

१ डॉ० नगेन्द्र : हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, पृ० २१

२. वही, पृ० २७-२८

पद्धति पर इसका प्रभाव बहुत स्पष्ट है, विशेषतः गीत-रचना पर। औरंगजेब की मृत्यु के बाद संगीतकला का पुनरुद्धार हुआ। मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में उच्च-कोटि के संगीतज्ञ रहते थे। रीतिकाल की स्वच्छन्द धारा के प्रतिनिधि, प्रमुख कविवर 'घनानंद' जो बड़े मधुर गायक थे, प्रारम्भ में इन्हीं के मीरमुंशी थे।

उत्तर रीति-युग में संगीत में चमत्कार, अलंकरण, अनुरंजन, शृंगारोद्दीपन की प्रधानता बढ़ती गई। संगीत में गम्भीर तत्त्वों का अभाव तथा स्त्रैण-तत्त्वों की अधिकता बढ़ती गई। ठुमरी जैसे स्त्रैण प्रकार का स्वागत बढ़ा।

रीति-युग के प्रमुख संगीतकार हैं—लोचन, पुंडरिक, भाव भट्ट, हृदयनारायण देव, मुहम्मद रजा, महाराजा प्रतापसिंह एवं कृष्णानंद व्यास। प्रमुख संगीत-ग्रंथों के नाम हैं : रागतरंगिणी, संगीत चंद्रोदय, राग मंजरी, राग माला, नर्तन निर्णय, राग-रत्नाकर आदि।[1] निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि रीति-युग में आकर संगीत तपस्या न रहकर मन-बहलाव की चीज बन गया था। संगीत-कला और संगीतशास्त्र दोनों क्षेत्रों में लोकप्रियता की ओर दौड़ अधिक थी, शास्त्रीयता पिछड़ती जाती थी। ध्रुपद का स्थान ख्याल, ठुमरी, टप्पा और दादरा ने ले लिया था। संगीत विलासयुक्त रंगीनी से प्रभावित होता जा रहा था। शोरी के टप्पों के आलंकारिक स्वर बहुत लोकप्रिय हुए। तराना, रेखता, कव्वाली आदि प्रणालियों का प्रचार बढ़ा।[2]

चित्रकला

रीतियुगीन चित्रकला की तीन प्रमुख शैलियाँ प्रसिद्ध थीं : (१) राजपूत-शैली, (२) मुगल-शैली, और (३) पहाड़ी अथवा कांगड़ा-शैली। ये तीनों शैलियाँ सर्वथा पृथक् व अप्रभावित न होकर परस्पर सम्बद्ध व प्रभावित थीं। विद्वानों की राय है कि राजपूत-शैली जन-भावना से, मुगल-शैली दरबार से और कांगड़ा-शैली स्थानीय जन-पद-भावना से घनिष्ठ रूपेण सम्बद्ध थी। इन शैलियों की अपनी कुछ विशेषताओं के कारण इनका अलग परिगणन और अध्ययन किया जाता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे सर्वथा असंपृक्त हैं। इस युग की चित्रकला में कलाकारों की 'स्वान्तः सुखाय'—भावना कम, बल्कि आश्रयदाता की परितुष्टि की भावना विशेष दृष्टिगत होती है। परिणामतः इन छोटे-मोटे सामन्तों की सुरुचि-कुरुचि का प्रत्यक्ष व तीव्रतम प्रभाव इन कृतियों पर पड़ना स्वाभाविक था। अन्य कलाओं व साहित्य की भाँति रीतियुगीन-चित्रकला में भी प्रदर्शन, अलंकरण अधिक, कलाकार का आत्मसंवेदन नहीं-वत् दिखाई देता था। रीतियुगीन चित्रकला की प्रमुख लाक्षणिकताएँ इस प्रकार हैं—(१) विलास-परकता एवं प्रदर्शन-प्रधानता, (२) शृंगार-निरूपण की प्रमुखता, (३) आत्मसंवेदन की गौणता, (४) विशदता और गाम्भीर्य का अभाव, (५) अलंकार की

१ डॉ॰ नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, पृ॰ २७-२८
२ वही

प्रवृत्ति, तथा (६) परम्परा-पालन, चमत्कार-प्रधानता, श्रमसिद्ध बारीकियो का सन्निवेश आदि।

रीतियुगीन चित्रकला के प्रमुख विषय थे—(१) नायिका-भेद पर आधारित विभिन्न प्रकार की नायिकाओ का चित्रांकन, (२) पौराणिक उपाख्यानों पर आधृत प्रसग व व्यक्ति-चित्र, यक्ष, नल-दमयंती, हरिश्चन्द्र-तारामती, गंगावतरण आदि, (३) राग-रागिनियो के प्रतीक चित्र और (४) व्यक्ति-चित्र (आश्रयदाता राजा या बादशाह सामतादि के चित्र)।[1]

मुगल-शैली के चित्रो मे विलासपरक प्रदर्शन की प्रधानता है, तो राजपूत व कागड़ा-शैली के चित्रो मे नारी-सौन्दर्य (आवृत और अनावृत भी) के अकन मे कलाकार की नव्यतर कल्पना व तज्जन्य कोमल ऐंद्रिय भाव की अभिव्यक्ति की प्रधानता है, इसमे विशदता एव गम्भीरता का अभाव पाया जाता है। मुगलों मे बाबर, हुमायूँ, अकबर व जहाँगीर चित्रकला के बडे प्रेमी थे, किन्तु शाहजहाँ को स्थापत्य-कला से विशेष अनुराग था। हुमायूँ के साथ पर्शिया से भारत आए हुए सैयदअली तजरीजी और ख्वाजा अब्बुस्समद नामक दो चित्रकारो ने भारत मे मुगल-शैली की चित्र-शैली की नींव डाली। अकबर के आश्रय मे सत्तरह चित्रकार थे, जिनमे तेरह हिन्दू थे। अकबर के आदेश पर इन्होने चगेजनामा, रामायण, नल-दमयंती, कालिय दमन आदि विविध प्रसिद्ध पुस्तको को चित्रो द्वारा विभूषित किया।[2] जहाँगीर के सरक्षण मे आधे दर्जन से भी अधिक चित्रकारो ने ख्याति प्राप्त की थी। जहाँगीर बहुत ऊँचे मूल्य दे-देकर उनके चित्र क्रय करता तथा इनका गौरव बढ़ाता था। उसमे चित्रो की परीक्षा करने तथा उनकी अभिशसा (एप्रिसिएशन) करने की अद्भुत क्षमता थी। वह चित्रो के गुण-दोषो की बडी सूक्ष्म मीमासा करता था। इतिहासकार व चित्रकला मर्मज्ञ मानते है कि जहाँगीर की मृत्यु के साथ ही मुगल-चित्रकला की आत्मा मर गई।[3]

शाहजहाँ को चित्रकला से अधिक वास्तु-कला से प्रीति थी। फलत. राज्याश्रित चित्रकारो को अन्यत्र आश्रय खोजना पड़ा। अपने चित्रो को बेचने के लिए घूमना पडा। शाहजहाँ के बाद तो चित्रो का व्यवसाय ही होने लगा। चित्रकार अब अमीर-उमराओ की रुचि का ही ध्यान न रखकर सर्व-साधारण जनता की पसन्द का विचार कर चित्र-निर्माण करने लगे। इस युग के चित्रो की आत्मा शृगार ही थी। अभिसारिका खडिता, वासक-सज्जा आदि नायिकाओं के परम्परा-निबद्ध चित्र ही अकित किए जाने लगे। कागड़ा-शैली के चित्रो मे कृष्ण-राधा, राजपूत-शैली के चित्रो मे शिव-पार्वती के शृगारपरक चित्रों की प्रधानता रही। रानी रूपमती एव राजबहादुर के चित्र भी बनने लगे। अधिकाश नायिकाओ के चित्र भानुदत्त की 'रसमजरी' पर आधृत थे। बारहमासा, षड्ऋतु, वसंत-वर्षा के उद्दीपक चित्र भी इसी युग की उपज हैं। जयदेव

१. डॉ॰ नगेन्द्र : हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, पृ॰ १९
२. डॉ॰ सत्यकेतु विद्यालकार : भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, पृ॰ ५७६
३. वही, पृ॰ ५७७

और विद्यापति के गीतो पर (और आगे चलकर बिहारी के दोहो पर) चित्र बनाने की प्रवृत्ति भी प्रबल पडती गई। व्यक्ति-चित्रो के नाम पर दरबार के तथा शिकार के प्रसगो पर भव्य चित्र बने। विभिन्न राजाओ के पूरे जीवन को चित्रो मे अकित करने की प्रवृत्ति भी शुरू हुई। औरगजेब व उसके परवर्ती शासकों ने चित्रकला के प्रति कोई आकर्षण नही दिखाया।

स्थापत्य-कला

रीतियुगीन स्थापत्य-कला के दो रूप उपलब्ध होते है—राजपूत-शैली का स्थापत्य और मुगल-शैली का स्थापत्य। मुगल-शैली का एक रूप वह है, जिसमे भारतीय एवं फारसी परम्परा का समन्वय किया गया है। दूसरा रूप वह है, जो पूर्णत फारसी परम्परा का अनुसरण करता है। अकबर ने समन्वयवादी रूप अपनाया था, तो शाहजहाँ ने 'शुद्ध फारसी परम्परा' का अनुसरण किया था। जहाँगीर चित्रकला का विशेष अनुरागी था। उसकी ख्याति तो कश्मीर मे निर्मित उद्यानो, झीलो और उपवनो के कारण ही विशेष थी। जहाँगीर द्वारा निर्मित सभी स्थापत्यो मे विलास, ऐश्वर्य, लालित्य व अलंकरण अधिक मात्रा मे विद्यमान थे, गाम्भीर्य कम। विशद, व्यापक एव गम्भीर प्रभाव के स्थान पर ये रचनाएँ पाषाण के माध्यम से कोमल व ललित अभिव्यक्ति ही अधिक कर देती थी। यही कारण है कि अकबर की स्मृति मे निर्मित अकबर का मकबरा सम्राट् अकबर के गम्भीर व प्रभावशाली व्यक्तित्व के अनुरूप नही बन पाया। गाम्भीर्य व व्यापक प्रभाव का तो उत्तरोत्तर ह्रास ही होता जा रहा था। जहाँगीर का मकबरा, अब्दुर्रहीम खानखाना का मकबरा, एतमाद उद्दौला का मकबरा देखने से यह स्वत स्पष्ट हो जाता है कि मुगल स्थापत्य-कला किस प्रकार दिन-प्रतिदिन अपना गाम्भीर्य एव व्यापक-प्रभाव खोकर क्रमश अलकरण, पच्चीकारी का आश्रयण करती हुई स्त्रैण प्रभावो से ग्रसित होती जा रही थी। इन रचनाओ मे रचयिताओं या निर्माता शासक-सम्राटो या साम्राज्ञियो की किसी प्रकार की मौलिक प्रतिभा के दर्शन नही होते थे। उसका स्पष्ट उदाहरण है, नूरजहाँ द्वारा परिकल्पित व उसके निर्देशन मे निर्मित उसके पिता एतमाद उद्दौला का मकबरा।

शाहजहाँ के समय मे स्थापत्य-कला का चरम विकास हुआ। शैली और अलंकरण दोनो क्षेत्रो में नव्यतर प्रयोग किये गए। उसकी अमर कृति 'ताजमहल' समस्त ससार के लिए आकर्षण का केन्द्र है। ताजमहल की समस्त गरिमा व समूचा वैभव उसकी सज्जा एव अलकरण पर निर्भर है। वास्तव मे कला-सौष्ठव की उत्तमोत्तम मिसाल है यह ताजमहल। इस विषय मे एक मंतव्य द्रष्टव्य है—"वास्तव मे शाहजहाँ के शिल्पी ने अपनी कला के द्वारा पुष्प-वदना मुमताज की प्रस्तर समाधि मे भी फूल की-सी कोमलता ला दी है। सफेद सगमर्मर की आत्मा में शाहजहाँ का ऐश्वर्य तथा उसके कोमल प्रभाव मे उसका प्रेम सदा के लिए अमर हो गया है।"[1]

---

1 डॉ० नगेन्द्र : हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, भाग ६, पृ० २५-२६

औरंगजेब ने साहित्य, संगीत, कला—किसी को भी बढावा नही दिया। उसके शासनकाल मे बने सभी मकबरे स्थापत्य-कला की दुर्बलता के उदाहरण है। उसके बाद के शासको ने भी स्थापत्यकला के विकास मे कोई योगदान नही दिया। परवर्ती कृतियों मे न तो मार्दव है, न गाम्भीर्य और न ऐश्वर्य ही। रीतियुगीन स्थापत्य-कला मे रीति-युगीन साहित्य की भाँति परम्परानुसरण, चमत्काराश्रय, अलंकरणाधिक्य, श्रृंगारी एव रोमानी वातावरण की सृष्टि ही पायी जाती है। इसका प्रभाव रीतियुगील राज-पूती स्थापत्य पर भी पडा है, किन्तु उसने भारतीयता की रक्षा की है। महाराजा मानसिंह, महाराणा कुंभा, महाराजा वीरसिंह देव आदि के नाम बडे गौरव के साथ लिए जा सकते है। महाराणा कुंभा द्वारा निर्मित विष्णु-मंदिर, गुजरात विजय के उपलक्ष्य मे निर्मित एक सौ बारह फीट ऊँचा विजय स्तम्भ उनकी कीर्ति का प्रमाण है। महाराज मानसिंह द्वारा बनवाया गया मानमंदिर व वृन्दावन का विशाल गोविंद देव का मंदिर बडे प्रसिद्ध है। महाराज वीरसिंह देव ने ओरछा मे विशाल चतुर्भुज मंदिर बनवाया था।

जोधपुर, ओरछा, दतिया आदि स्थानो पर विकसित राजपूत स्थापत्य-कला मे मुगल-शैली का प्रभाव अवश्य पाया जाता है किन्तु अलंकरण उसका अपना है।

सर्वत्र अलंकरण व प्रदर्शन की प्रवृत्ति प्रबल रूप से पायी जाती है।

उपसंहार

रीति-युग की विभिन्न परिस्थितियों पर सामूहिक रूप मे विचार करने पर कुछ तथ्य स्वत स्पष्ट रूप से उभर आते है (अ) रीतियुगीन समाज व्यवहार मे प्रमुखत. दो भागो मे विभक्त था----(१) ऐश्वर्य-सम्पन्न शासक वर्ग एवं उसके कर्म-चारी, कलावंत, शिल्पी, संगीतकार, कवि आदि जिन्हे किसी प्रकार का अभाव नही था। जिन्हे अपनी प्रभूत सम्पत्ति के व्यय करने के लिए विलास एव भोग के नित्य नवीन मार्ग खोजने पडते थे। (२) श्रमजीवी, मजदूर, कृपक वर्ग एवं राज्य के अति निम्न वर्ग के कर्मचारी जो केवल अपनी उदरपूर्ति कर सकते थे, जिन्हे अपने जीवन के अन्य उत्तरदायित्वो के निर्वाह के लिए सदैव चिंताग्रस्त रहना पडता था। यद्यपि उस युग मे वस्तुओं के मूल्य इतने कम थे कि व्यक्ति को सामान्य-स्तर के जीवन-यापन के लिए घोर परिश्रम करना नही पडता होगा, किन्तु उदरपूर्ति के अतिरिक्त मनोविनोद, विलास-वैभव के नाम पर वे कुछ भी सक्रिय नही होगे। लोक-व्याप्त सामूहिक उत्सव, मेले, व्रतादि से अवश्य इस की क्षति-पूर्ति हो जाती होगी। (आ) रीतियुगीन काव्य, संगीत, शिल्प, चित्रकारी, स्थापत्य आदि का भी इस सामन्त वर्ग से घनिष्ठतम सम्बन्ध रहा और इनकी रुचि-कुरुचि से वे अत्यन्त तीव्र एवं प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित रहे। लोक-जीवन से वे अल्पांश मे ही सम्बद्ध थे। रीतियुगीन काव्य अपने तीनों रूपो मे (विशेषत. रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध) सामन्तो-शासको की परितुष्टि को केन्द्र मे रखकर परि-चालित रहा। निष्कर्ष यह कि रीतियुगीन कविता सर्व-साधारण लोक हृदय की यथार्थ-

तम अभिव्यक्ति कम, सामन्तीय जीवन की प्रदर्शनमूलक एवं चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति ही विशेष थी। सम्भवतः यही कारण है कि उसमें अभिव्यक्ति-गत शास्त्रीयता और अनुभूति-गत रोमांस का मणि-कांचन योग हुआ है। रीति काव्य अपने कलेवर में परम्पराश्रित और आत्मा (spirit) से स्वच्छन्द रोमांसवादी व विलासपरक है। (१) धार्मिक क्षेत्र में भी अनेक सम्प्रदायों का डिम-डिम पीटा जा रहा था। अराजकता, निरंकुशता, भ्रष्टाचार, विलासप्रियता आदि दूषणों में कुछ धार्मिक सम्प्रदाय ग्रस्त थे। 'राधा भाव' का कुत्सिततम रूप रीतियुगीन वैष्णव धर्म-साधकों ने दिखा दिया। (ई) राजनीतिक दृष्टि से विचार करने पर विशाल राष्ट्रीय साम्राज्य भावना के स्थान पर संकीर्णता, व्यक्तिगत अहंकार तथा छोटे-छोटे राज्यों का ईर्ष्यामूलक संघर्षपूर्ण अस्तित्व दृग्गोचर होता है। धर्म के क्षेत्र में तुलसी द्वारा स्थापित समन्वय व राजनीति के क्षेत्र में अकबर द्वारा स्थापित एकता व समन्वय की भावना परवर्ती शासकों द्वारा शनैः-शनैः तोड़ी जाने लगी, विशेषतः औरंगजेब द्वारा सर्वाधिक। रीतियुगीन जीवन का चित्र बिखरा हुआ अधिक, सुगठित कम मालूम पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज स्पष्टतः दो वर्गों में अलग-अलग—परस्पर अल्पतम प्रभावित होकर—जी रहा होगा। जीवन का सारा प्रेय सामन्तीय वृत्तियों के परिपोष के लिए ही प्रयुक्त होता रहा; अधिकांशतः रीतिकालीन कविता इनकी अंकशायिनी ही बनी रही।

३ रीतिकाव्य में औचित्य : व्यावहारिक समायोग

प्रकरण-प्रवेश

औचित्य का सैद्धान्तिक विवेचन कर चुकने के बाद अब उसका हिन्दी की रीति-कालीन कविता मे व्यावहारिक समायोग करना आवश्यक है।

यह जिज्ञासा सहज ही हो सकती है कि औचित्य-सिद्धान्त का हिन्दी की रीति-कालीन कविता से क्या सम्बन्ध हो सकता है ? अथवा यह कि हिन्दी की रीति-कविता मे इस सिद्धान्त का व्यावहारिक समायोग किस रूप मे संगत है ? उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि सर्जन-प्रक्रिया मे सर्जक निरन्तर इसी बात के लिए सचेष्ट रहता है कि उसकी कृति मे उत्तरोत्तर चारुत्व वृद्धि होती रहे। अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह उन सभी काव्य-विरोधी अतः अवाछनीय तत्त्वो को दूर रखता है। रस विरोधी तत्त्वो का परिहार एव रस-पोषक तत्त्वो का सन्निवेश उसकी दृष्टि मे बराबर रहता है। युगीन प्रभाव व व्यक्ति-वैचित्र्य के बीच भी उसकी यह प्रवृत्ति अविच्छिन्न रूप से रहती है। औचित्य इसी परिहार एवं सन्निवेश प्रक्रिया का नाम है। यद्यपि यह विज्ञान के सिद्धान्तो की भाँति देश-काल-निरपेक्ष, अपरिवर्तनशील नही, सिद्धान्त भी नही तथापि एक सर्वात्रिक अविरोधी एव सामंजस्य-स्थापक व्यवस्था होने के नाते सब कालो की कृतियो से उसका मेल खाता ही है। निरन्तर परिवर्तनशील व विकसनशील काव्य में भी कुछ सामान्य-तत्त्व निहित रहते हैं। नित्य नूतन वाग्भगिमाओ का आविष्कार होते रहने पर भी मनुष्य की अनुभूति मूलत सागर के जल की भाति सर्वत्र एक-सी ही होती है।

एक अन्य सगति यह भी है कि हिन्दी की रीति कविता का प्रारम्भ वही से होता है, जहाँ संस्कृत का काव्य-शास्त्र अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँच चुका था। काव्यशास्त्र में विभिन्न काव्य-सिद्धान्त सम्यक् परीक्षाओं के अनन्तर पर्याप्त स्थिर व प्रतिष्ठित हो चुके थे। परिणामस्वरूप काव्य मे शास्त्रीयता के निर्वाह, अभिव्यक्ति एवं कलापक्ष में खूब परिष्कार करते रहने की एवं अपनी बात को ज्यादा से ज्यादा माँजकर कहने की प्रवृत्ति इस युग मे बड़ी प्रतीत होती है। भाव के क्षेत्र में भी इस काल की कविता ने अधिक निर्द्वन्द्व व उन्मुक्त होकर शृंगार का खेल खेला है। भाषा

एव भाव—दोनो क्षेत्रो मे शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से रचना करने की अधिकाधिक प्रवृत्ति इसी युग के साहित्य मे पायी जाती है। इस विषय मे आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का निम्नोद्धृत मन्तव्य द्रष्टव्य है—

"सच पूछा जाए तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कर्ता इस युग मे जितने अधिक हुए, हिन्दी साहित्य के सहस्र वर्षो के दीर्घकालीन जीवन में उतने अधिक कर्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करनेवाले कभी नही हुए। आधुनिक काल मे भी नही।"[1]

तात्पर्य यह कि हिन्दी साहित्य के चारो कालो की कविता मे केवल रीतिकालीन कविता ही अधिकाधिक शुद्ध-साहित्य की दृष्टि से प्रणीत हुई प्रतीत होती है। भले ही भक्तिकाल को स्वर्णकाल कहा गया हो, शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से साहित्येतिहास मे तो रीतिकाल ही स्वर्णकाल माना जाएगा। एक स्थान पर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र लिखते है—

"एक ही युग मे एक से एक उत्तम कर्ता सख्या मे सबसे अधिक इसी उत्तर मध्यकाल या शृंगारकाल या रीतिकाल में हुए। हिन्दी का सच्चा साहित्य युग यदि कोई था तो वस्तुत. यही था।"[2]

इस युग के प्राय सभी रचनाकारो ने शुद्ध साहित्यिक उद्देश्यो से प्रेरित होकर रचनाएँ की हैं। वीरगाथाकाल के कृतिकारो में आश्रयदाताओं की प्रशसा, प्राकृत जन गुन गाथा, राजस्तुतियाँ, अत्युक्तिपूर्ण प्रशस्तियाँ करने की प्रवृत्ति ही विशेष दिखाई देती है। उस युग की रचनाओं की भाषा भी शैशवावस्था मे थी। भक्तियुग के सभी कृतिकारो का प्रमुख उद्देश्य काव्य-रचना न होकर अपने-अपने इष्ट की परम-अनुरक्ति का ही प्रकाशन करना रहा। भाषा में निश्चय ही थोडा विकास हुआ, परन्तु भाव-क्षेत्र मे साहित्येतर तत्त्व का प्रभाव बढ गया था। आधुनिक युग की कविता पर तो न जाने कितने असाहित्यिक या साहित्येतर तत्त्वो का प्रभाव है। कही राजनीति ने कविता को दबोच रखा है, कही किसी विशिष्ट विचारधारा ने। मार्क्सवाद, गाधीवाद आदि अनेक वादो के प्रभाव में कविता आ गई है।

इस (रीति) युग के प्राय सभी रचनाकार भक्त या सन्त न होकर काव्य-शास्त्र से परिचित—कुछ तो काव्यशास्त्र के पडित व आचार्य कवि थे। अत ऐसी स्थिति मे भाव व उसकी निरूपण विधियों के विभिन्न स्तर भेदो के कारण रीतिकाल के कवियों को हम प्रमुख चार धाराओं मे विभाजित कर सकते है (१) रीतिबद्ध कवि—जिन्होंने शास्त्र-स्थिति-सम्पादन करते हुए काव्य-रचना की; (२) रीतिसिद्ध कवि— जिन्होंने लक्षणो का ध्यान तो रखा, पर उनके बन्धन मे सर्वथा बँधना स्वीकार नही किया। तथा रीतिमुक्त कवि—जिन्होने रीति की किसी भी परम्परा का पालन न करते हुए भाव-भाषा, अनुभूति-अभिव्यक्ति आदि के क्षेत्र में सर्वथा विलक्षणता दिखाई।

१. घनानन्द और स्वच्छद काव्यधारा (भूमिका), पृ० २
२. वही, पृ० ३

इन्हे स्वच्छन्दतावादी भी कहा जाता है। इन तीन धाराओ से हटकर एक चौथी धारा भी थी, जिसके कवियो ने नीति व उपदेश की बाते तथा जीवन के अनुभूत सत्यो व तथ्यो को सरलतम शब्दो मे प्रकट कर दिया। क्रमशः इन चार धाराओ के प्रमुख प्रतिनिधि कवि है—केशव, बिहारी, घनानन्द, रहीम।

रीतिसिद्ध कवि लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण के चक्कर मे नही पडे, परन्तु उनके काव्य मे इनका निरूपण पाया जाता है, रीतिमुक्त कवियों ने प्रेम का मुक्त गान किया। परम्परा से मुक्त रहकर वे मन की अनुभूति को ही अभिव्यक्त करते रहे। प्राय. रीति-युग की कविता मे नख-शिख वर्णन, नायक-नायिका भेद, परकीया प्रेम, सयोग-वियोग के चित्र आदि का ही निरूपण अधिक हुआ है। अधिकांश कवि राज्याश्रित थे; इन्हे आजीविका की कठोर समस्या का सामना करना नही पडा। जिस वातावरण मे वे रहते थे, वह मध्ययुगीन सामन्ती विलास एवं वैभव से परिपूर्ण था। फलतः शृगार की अधिकता, विभिन्न भाव-चित्रों को उभारने तथा अभिव्यक्ति मे नित्य नवीन चमत्कार लाने की तीव्र चेष्टा इस युग की कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ बन गई। इसका एक सुपरिणाम यह हुआ कि काव्य का अभिव्यक्ति-पक्ष नित नवीनता से परिपूर्ण होकर पूर्ववर्ती दो कालो की तुलना मे अधिक निखर उठा। एक ही भाव, चित्र या अनुभूति को भिन्न कवियो के द्वारा विभिन्न भगिमाओ मे प्रस्तुत करने की होड़-सी लग गई। लक्षण-ग्रन्थो के निर्माता आचार्यो पर प्राय सस्कृत के प्रमुख आचार्यो—मम्मट, विश्व-नाथ, जयदेव, अप्पय दीक्षित आदि—का प्रभाव ही अधिक था। ध्वनि, औचित्य आदि सम्प्रदायों का प्रभाव या परम्परा-निर्वाह नहीवत् था। प्रायः शृगार-रस-विवेचन, नायिका-भेद, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद आदि ही वर्ण्य विषय रहे। नाट्य-विषयक शास्त्रीय विवेचन तथा शब्द-शक्ति का गम्भीर विवेचन तो प्राय उपेक्षित ही रहा किन्तु ध्वनि और औचित्य तो नितान्त अस्पष्ट ही रह गए। गम्भीर शास्त्र-चर्चा के अनुरूप उस युग का वातावरण न होने के कारण छोटे किन्तु चमत्कारपूर्ण, ऊहात्मक, रस-सिक्त दोहों के निर्माण मे ही कृतिकारो की दृष्टि उलझी रही। जनरुचि ने साहित्य-कारो को प्रबल रूप मे प्रभावित किया। परिणामस्वरूप, कही-कही कुत्सित चित्र भी पाये जाते है, यथा विपरीत रति, पडोसी मे अवैध प्रेम सम्बन्ध, परकीया-प्रेम, देवर-भाभी के अनुचित सम्बन्ध आदि के चित्र।

प्रत्येक युग की भाँति इस युग के काव्य पर भी तद्युगीन परिस्थितियो—सामा-जिक, राजनीतिक आदि—की छाया पडना एक अनिवार्यता ही मानी जायगी। अपने युग से स्पष्ट साहित्य की औचित्यानौचित्य की दृष्टि से परीक्षा करते समय उस युग के परिवेश, रुचि-अरुचि आदि से सबंधित तथ्यो को छोडकर नही चला जा सकता। अतः आलोच्य युगीन काव्य के परीक्षण के लिए दो आधार स्वत उभर कर आते है, (१) शुद्ध काव्यशास्त्रीय आधार, जिस पर काव्य के गुण-दोषो को परखा जा सकता है, तथा (२) समाजशास्त्रीय आधार, जिस पर विषय-वस्तु के उचितानुचित होने का आख्यान सम्भव है। द्वितीय आधार को कम दृढ़ नही माना जा सकता, क्योंकि नित्य बदलते युग ने

औचित्य की अवधारणा भी सापेक्षिक मूल्य रखकर युग के परिप्रेक्ष्य मे ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

उक्त चर्चा के पश्चात् रीतिकाव्य मे औचित्य के व्यावहारिक समायोग का प्रश्न उपस्थित होता है। गम्भीरता से विचार करने पर तत्सम्बन्धी कुछ प्रविधियाँ इस प्रकार सामने आती है

(अ) कविक्रमानुसार औचित्य-अनौचित्य का परीक्षण।

(आ) कालक्रमानुसार औचित्यानौचित्य का विचार कर लेना।

(इ) धारा या प्रवृत्ति-क्रमानुसार अर्थात् रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवं रीति-मुक्त काव्यधाराओ का औचित्य-अनौचित्य-परक अध्ययन प्रस्तुत करना।

(ई) तत्त्वक्रम से औचित्य-अनौचित्य की समीक्षा करना अर्थात् सामूहिक रूप से सब कवियो की रचनाओ को ध्यान मे रखते हुए, औचित्य के प्रमुख भेदो के निर्वाह-अनिर्वाह का परीक्षण करना और वही प्रसगत: अनौचित्य का भी निर्देश करना।

कविक्रमानुसार एव कालक्रमानुसार परीक्षण करने मे पुनरावृत्ति व नीरसता (मॉनॉटोनी) का भय बहुत है। प्रत्येक कवि के प्रसंग मे सभी औचित्य-अनौचित्य के प्रकारो का परीक्षण करते जाना एक प्रकार से अत्यन्त स्थूल, रूढिगत व घिसा-पिटा होगा। यही बात अशत: कालक्रमानुसार परीक्षण में भी सम्भव है। तत्त्वक्रम मे औचित्य का विचार करने पर इस पुनरावृत्ति के दोष से तो बचा ही जा सकता है। साथ ही, पूरे युग के प्रमुख कृतिकारो की रचनाओ के परिवेश मे किसी एक प्रकार के औचित्य-अनौचित्य का एक ही स्थान पर समग्रत विवेचन भी सभव हो सकेगा।

सामान्यत शास्त्रो मे औचित्य के अनेक प्रभेदों की चर्चा प्राप्त होती है, जिन्हे विवेचन के सुविधार्थ चार-पाँच प्रमुख विभागो मे रखा जा सकता है.

(अ) भाषागत औचित्य—जिसमे पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, काल, निपात, उपसर्ग-सम्बन्धी औचित्य-प्रकारो को समाविष्ट किया जा सकता है।

(आ) काव्य-शास्त्रगत औचित्य के अन्तर्गत गुण, अलकार, प्रतिभा, प्रबध व रस-विषयक औचित्य का समाहार कर दिया जा सकता है।

(इ) लोक-व्यवहार या समाजगत औचित्य के अन्तर्गत देश, कुल, व्रतादि सम्बन्धी औचित्य का समावेश हो जाता है।

(ई) भाव, विचार या कविगत औचित्य के अन्तर्गत तत्त्व, सत्व अभिप्राय स्वभाव, सार-संग्रह, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वादगत औचित्य का समावेश किया जा सकता है। एक अन्य प्रकार से भी इन २७ भेदो का वर्गीकरण हो सकता है—कविगत औचित्य, काव्यगत औचित्य और सामाजिक अर्थात् सहृदय अथवा समीक्षक (यहाँ सहृदय भी समीक्षक हो जाता है) गत औचित्य। कविगत औचित्य के भीत

उन सभी प्रकार के औचित्यो का समावेश है, जिनका अनुभूतिपक्ष मे मौलिक व मूलभूत सम्बन्ध है। काव्यगत औचित्य मे विचार-पक्ष के अतिरिक्त उन सभी प्रकार के औचित्यो का समावेश हो जाता है, जिनका अभिव्यक्ति से सम्बन्ध है तथा जो काव्य-शास्त्रीय वृत्त मे स्थान पाते है (रसादि सम्बन्धी)। समीक्षक या सहृदय सम्बन्धी औचित्य के भीतर सामाजिकता के घेरे मे आने वाले सभी तत्त्वों से सम्बन्ध रखने वाले औचित्यो का समावेश हो जाता है (यथा—देश, काल, कुल, व्रतादि सम्बन्धी) रीतिकाव्य मे औचित्य के निर्वाह-अनिर्वाह का परीक्षण करने के लिए विवेचित उपर्युक्त चार पद्धतियो मे से मै अन्तिम (चतुर्थ) पद्धति को अपनाने के पक्ष मे हूँ, क्योकि मेरे विचार से वह अधिक निरापद, शास्त्रीय वैज्ञानिक है, उसमे पुनरावृत्ति तथा रूढिगतता भी नही है।

पदौचित्य

पद का उचित प्रयोग पदौचित्य है, क्योकि पात्र, प्रसंग, भाव एवं परिस्थिति के अनुरूप पद-प्रयोग काव्यार्थ को चमका देता है। प्राय सभी कवि पद-प्रयोग के औचित्य की रक्षा के लिए सहज ही जागरूक रहते हैं। जब किसी भाव की विशेष व्यजना करने मे कोई पद अपना विशिष्ट योगदान देता है तब काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि का वह प्रमुख कारण बनता है। कोश मे उपलब्ध अनेक पदों, पर्यायो व समानार्थी शब्दो मे से कौन-सा पद या पर्याय विवक्षित भाव या वर्ण्य की चारु-अभिव्यक्ति करने में सर्वाधिक सफल हो सकेगा, इसका निर्णय प्रयोक्ता को कर लेना चाहिए। शिव, रुद्र, भव, पशुपति, कपाली, पिनाकी, महेश आदि सभी पद भगवान् शंकर के वाचक है परन्तु किस प्रसग मे इनमें से कौन-सा पद प्रयोज्य तथा कौन-सा पद अप्रयोज्य है, इसका पूरा-पूरा विचार सर्जक को सदैव करते रहना चाहिए, शंकर की दरिद्रता के वर्णन के प्रसग मे उन्हे कपाली और उनके शौर्य-वर्णन के प्रसग मे उन्हें पिनाकी ही कहना उचित है। इसी प्रकार स्त्री के पर्यायवाचक तन्वी, ललना, कामिनी, रामा आदि अनेक शब्द हैं। परन्तु सयोगावस्था में उसके लिए ललना तथा यौवनागमजनित मदन-विकार की अवस्था का बोध कराने के लिए उसे कामिनी कहना ही उचित है।

रीतिकालीन हिन्दी कविता की भाषा मे अपूर्व निखार आ गया था। इस काल के प्राय सभी कवि सस्कृत मे परिचित तथा काव्यशास्त्र के विद्वान् थे। व्रज और अवधी भाषा के पण्डित इन कवियो ने अपनी भाषा को निरन्तर माँजते रहने का उद्योग किया। फलत. पद-प्रयोग के कौशल की ओर उन्होने विशेष सजगता दिखाई है। सस्कृत मे विरहजन्य कृशता का बोध कराने के लिए नायिका को 'कृशागी' और उसकी सहज तनुता की व्यजना करने के लिए उसे 'तन्वंगी' कहा गया है। रीतिकाल के कवि भी इस पार्थक्य से परिचित रहे है। उन्होने भी विरहजन्य कृशता की व्यजना के लिए 'दूबरी' पद का तथा सहज सुकुमारता के बोध के लिए 'पातरी' पद का प्रयोग किया है, यथा—

देखि परी नहिं दूबरी, सुनिये स्याम सुजान।
जानि परै परजंक मे, अंग आँच अनुमान ॥[1]

मतिराम ने यहाँ नायिका की विरहजनित कृशता प्रकट करने के लिए 'दूबरी' विशेषण-पद प्रयुक्त किया है। पर्यंक मे उसका अस्तित्व केवल उसकी गरम साँसो के सहारे ही अनुमानित किया जा सकता है। उक्ति ऊहात्मक होते हुए भी 'दूबरी' पद मे नायिका की अतिकृशता सम्यक् रीति से बोधित हो पाई है।

इसी प्रकार नायिका की सहज सुकुमारता व तनुता को बोधित कराने के लिए बिहारी ने 'पातरी' पद का प्रयोग किया है, यथा—

अंग-अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह ॥[2]

यहाँ कवि ने 'पातरीऊ' पद का अत्यन्त सटीक व प्रभावशाली प्रयोग किया है। नायिका की तनुता की व्यंजना इस पदप्रयोग से सहज ही हो जाती है। पदान्त मे स्थित 'ऊ' निपात के संयोग मे यह व्यंजना तीव्रतर हो गई है। लावण्यवतियो की कृशता उनका सौन्दर्य है, पीनता उनका दोष। नायिका पातरी होते हुए भी उसकी देह भरी-भरी-सी लगती है, यही उसके यौवन व सौन्दर्य की विशिष्टता है।

देव ने नायिका के सौन्दर्य का प्रभाव निरूपित करते हुए उसके भोलेपन व यौवन की व्यंजना की है—

जे जे गनी गुन आगरि नागरि
ह्वै है ते वाके चितौत ही चेरी ॥[3]

सामान्यत: नगर के स्त्री-पुरुष चतुर एवं रूप-गुण सम्पन्न समझे जाते है। ग्रामीण जनो की अपेक्षा उनमे वाणी, वेशभूषा, शृंगार-सज्जादि की प्रवीणता भी विशेष मानी जाती है, परन्तु यहाँ तो इस ग्रामवधू के अनाविल रूप-सौन्दर्य व लावण्य को देखकर सभी गुण-आगरी स्त्रियाँ भी चकित होकर उसकी चेरी बन गई है। ग्रामवधू तथा नागरी स्त्रियो के सौन्दर्य का विरोध (कंट्रास्ट) दिखाने के लिए 'आगरि नागरि' पद बड़े सार्थक सिद्ध होते है।

कोमल भावो की व्यंजना के लिए उचित पदप्रयोग की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता कठोर भावों की व्यंजना के अवसर पर भी है। घृणा, अवमानना, तिरस्कार, गर्व-गर्जन के अवसर पर भी प्रसंग व पात्रोचित शब्दावली का प्रयोग वाछनीय है। केशव के निम्नलिखित उदाहरण मे यह द्रष्टव्य है

अति अमल ज्योति नारायनी कह केशव बुझि जाय जाइ बर।
भृगुनन्द सँभारु कुठार मैं कियो सरासन युक्त सर ॥[4]

१. हरदयालु सिंह : मतिराम-मकरन्द, पृ० २०३
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १६८
३ राजकृष्ण दूगड़ और ब्रजमोहन जावलिया : देवकाव्य रत्नावली, पृ० ११-१२
४ लाला भगवानदीन : रामचंद्रिका (पूर्वार्ध), पृ० १२४

परशुराम द्वारा बार-बार युद्ध के लिए ललकारे जाने पर तथा गुरु विश्वामित्र की निंदा की जाने पर रामचन्द्रजी भी क्रुद्ध हो गये। क्रोधावेश मे उन्होंने परशुराम के लिए सम्मानदर्शक, भार्गवेश, भृगुकुलावतस, भृगुकुलशिरोमणि आदि पदो या सम्बोधनो का प्रयोग न कर उन्हे केवल 'भृगुनन्द' ही कहा है। 'भृगुनन्द' पद से रामचन्द्रजी के क्रोध की समुचित व्यंजना तो हो ही जाती है साथ ही, परशुराम के प्रति दिखाये गये अनादर का भी इससे बोध हो जाता है। स्व० लाला भगवानदीनजी ने एक अन्य व्यजना यह भी निकाली है कि 'अब तुम केवल ब्राह्मण हो, नारायणावतार नही रहे।'[1] अर्थात् अब तुम्हारा प्रभाव समाप्त हो गया है।

सेनापति ने भी ऐसे अवसर पर राम द्वारा परशुराम के लिए केवल 'जामदग्नि अर्थात् 'जमदग्नि का पुत्र' पदप्रयोग करवाया है। परशुराम के लिए 'जामदग्नि' पद का प्रयोग कर कवि ने उसी अनादर व तिरस्कार की व्यंजना की है, जो केशव के राम प्रकट करते है। जनेऊधारी ब्राह्मण होने के कारण वे अवध्य है। राम इसका संकेत भी करते है—

आज **जामदग्नि** जानतेऊ एक घरी माँझ।
होती जौ न ज्यारी यह जिरह जनेऊ की ॥[2]

यदि जनेऊ की आड (कवच) न होती तो परशुरामजी को ठीक-ठीक पता चल जाता।

सीता के स्वयंवर के प्रसग मे केशव ने शिवजी के धनुष का भारीपन प्रकट करने के लिए भी सुन्दर पदप्रयोग किया है—

रघुनाथ शरासन चाहत देख्यो।
अति दुष्कर राज समाजनि लेख्यो ॥
ऋषि है वह मन्दिर माँझ मँगाऊँ।
गहि ल्यावहि हौ **जनयूथ** बुलाऊँ ॥[3]

'जनयूथ' पदप्रयोग मे धनुष्य की गुरुता व भारी-भरकमता का सहज ही बोध हो जाता है। इसी पदप्रयोग से रामचन्द्रजी के बल व पराक्रम की व्यंजना भी कवि ने कर दी है। इतने बड़े भारी धनुष्य को रामचन्द्रजी ने उठाया ही नही, खेल ही खेल मे तोड़ भी दिया। एक साथ ही धनुष्य की भीषणता व राम के पराक्रम की भूमिका व्यंजित करने मे यह पदप्रयोग अत्यन्त सफल हुआ है।

भूषण ने शिवाजी और औरंगजेब के सैनिको के लिए क्रमशः सिहराज और गजन पदो का प्रयोग कर दोनो दलो के सैनिकों की विशेषताएँ व्यजित की है—

---

१. लाला भगवानदीन : रामचन्द्रिका (पूर्वार्ध), पृ० १२५

२. उमाशंकर शुक्ल : कवित्त-रत्नाकर, पृ० ८०

३. लाला भगवानदीन : रामचन्द्रिका (पूर्वार्ध), पृ० ७२

उतै पातसाहजू के 'गजन' के ठट्ट छुटे
उमडि घुमडि मतवारे घन भारे है।
इतै सिवराजजू के छूटै 'सिंहराज' और
बिदारै कुम्भ करिन के चिक्करत कारे है॥[1]

शिवाजी के सैनिक 'सिंहराज' है और औरगजेब के सैनिक 'गजराज' है। सिंह और गज के बीच स्वाभाविक शत्रुता है तथा सिंह हाथियो के कुम्भस्थलों को चीर डालता है— यह भी प्रकट है। परस्पर की इस शत्रुता की व्यजना के अतिरिक्त यह भी व्यग्य है कि औरगजेब के सैनिक स्थूल, तुन्दिल व शिथिल है तथा शिवाजी के सैनिक लम्बे, पतले, छरहरे, चपल व स्फूर्तिवान् हैं। दोनो पदप्रयोग बडे सटीक है।

वाक्यौचित्य

भावानुरूप वाक्यप्रयोग को वाक्यौचित्य कहते हैं। किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व अकित करते समय अथवा किसी भाव विशेष की तीव्रतर अभिव्यक्ति करते समय कविगण प्राय: तदनुरूप वाक्यावली की योजना करने मे तत्पर दिखाई देते है। परशुराम, द्रोण, अश्वत्थामा, भीम, कर्ण आदि पात्रों के पौरुष की व्यंजना करने के लिए, उनके क्रोध की अभिव्यक्ति के लिए अथवा उनके भीषण पराक्रमों का वर्णन करने के लिए सस्कृत के कवियो ने तदनुकूल वाक्यावलियों का सटीक प्रयोग किया है। भट्ट नारायण रचित सस्कृत नाटक 'वेणीसंहार' मे ऐसे अनेक स्थल है, जहाँ अश्वत्थामा, कर्णादि का क्रोध ओजपूर्ण, प्रवाहमय वाक्यो मे वर्णित किया गया है। अश्वत्थामा की इस प्रतिज्ञाबद्ध स्वभावोक्ति मे यह द्रष्टव्य है—

यो य. शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमद: पाण्डवीना चमूनाम्।
यो य. पाचालगोत्रे शिशुरधिकवय: गर्भशय्या गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीप:।
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥

शास्त्र-निर्दिष्ट अति परुष वर्णों की समधिक योजना नही होने पर भी वक्तव्य बडा प्रभावशाली हो पाया है।

रीतिकाल के कवियो मे केशव और पद्माकर इस दृष्टि से विशेष सफल हुए हैं— केशव परुष वर्णयुक्त वाक्यावली के प्रयोग में और पद्माकर कोमल वर्णयुक्त वाक्यावली के प्रयोग मे। अन्य कवियो के भी कुछ अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं। केशव द्वारा अकित एक व्यक्तिचित्र इस दृष्टि से दर्शनीय है -

प्रचण्ड हैहयाधिराज दण्डमान जानिए।
अखण्ड कीर्ति लेय भूमि देयमान मानिए॥

---

१. श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र : भूषण ग्रन्थावली, पृ० १४२-४३

अदेव देव जेय भीत रक्षनान लेखिए।
अमेय तेज भर्ग भक्त भार्गवेश देखिए ॥[1]

यहाँ केशव ने बड़ी सशक्त वाक्यावली में भार्गवेश श्री परशुराम का चित्र अंकित किया है। अतुलित बल, तेज व पराक्रम के भण्डार, हैहयाधिराज को दण्डित करने वाले, अखण्ड कीर्ति को पाने वाले, भूमि को जीतकर दान दे देने वाले, भीत व शरणार्थी का रक्षण करने वाले भार्गवेश परशुराम के वीरत्व एवं पराक्रम की वीरोचित वाक्यों मे व्यंजना हुई है। अन्तिम पंक्ति मे प्रयुक्त भर्ग भक्त, भार्गवेश आदि शब्द चित्र को समुचित रीति से उभार सके है। वाक्य की गति और लय भी इस औचित्यनिर्वाह मे अपना विशेष योगदान दे रही है।

निम्नोद्धृत पंक्तियों मे देव द्वारा अंकित भावचित्र मे वाक्यौचित्य का सुन्दर उदाहरण देखा जा सकता है .

बोलिए बोल सदा हँसि कोमल, जे मनभावन के मन भाये।
यो सुनि ओछे उरोजनि पै, अनुराग के अंकुर से उठि आये ॥[2]

लज्जायुक्त 'अंकुरित अनुराग व आन्तरिक उल्लास' का ऐसा मधुर चित्र दुर्लभ है। गौने का अवसर है; सखियाँ नायिका को सीख देती है, पति को रिझानेवाली मधुर वाणी बोलने का उपदेश देती है। सखियों की वाणी सुनकर वह हल्का-सा रोमाच अनुभव करती है। नायिका के शरीर मे उत्पन्न रोमांच और अनुराग की झलक उसके ओछे उरोजों में प्रकट हुई। नायिका मे उदित इस अनुराग व रोमांच की सटीक व्यंजना करने मे 'यो सुनि ओछे उरोजनि पै, अनुराग के अंकुर से उठि आये।' पंक्ति अत्यन्त सफल हुई है। वाक्यावली की सहज विकासात्मक प्रमोदमयी लय, कोमलवर्ण तथा कोमल ध्वनि का इस सरल वाक्य में प्रयोग ही नायिका के सारल्य व मौग्ध्य की व्यंजना कर देता है।

मतिराम ने नायिका के मन की स्थिति का चित्राकन अत्यन्त सयत किन्तु भाव-ग्राही वाक्यावली में प्रस्तुत किया है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम शरीर से तो एक स्थान पर है, परन्तु हमारा मन कही अन्यत्र ही मंडराता रहता है। प्रेमी-जन इस प्रकार की मन स्थिति से विशेष परिचित होते है—

तन तो तिया को बर भाँवरे भरत मन,
साँवरे बदन पर 'भाँवरैं' भरत है ॥[3]

यहाँ सव्रीडा गोपिका के मन की अवस्था का मार्मिक चित्र अंकित किया गया है। सखियों के साथ मन्द-मन्द चलती वह गोपी घूँघट के पट में से बीच-बीच मे कृष्ण को देख लेती है। नन्दलाल का दर्शन जी-भरकर करना तो चाहती है, पर सकोचवश उन्हे जी-भरकर देख नही सकती। शरीर से तो वह सखियो के साथ जा रही है, परन्तु मन उसका

---

१. लाला भगवानदीन : रामचन्द्रिका (पूर्वार्ध), पृ० ११०-११
२. हरदयालु सिंह : देव-दर्शन, पृ० ७०
३. हरदयालु सिंह : मतिराम मकरद, पृ० १४८

गावरे के आस-पास भाँवरें लेता है। 'साँवरे बदन पर भाँवरै भरत है।' पंक्ति मानसिक दशा व्यक्त करने मे बडी सफल हुई है। 'भाँवरे भरत है।' क्रिया-प्रयोग द्वारा मन की कृष्ण मे एकनिष्ठ अनुरक्ति का बोध कराया गया है। लगता है, यह वाक्य ही स्वय सत्यावर्तित होकर खड़ा रह गया है। अब एक चित्र घनानन्द का देखिए—

ज्यौं बुधि सौं सुधराई रचै कोऊ, सारदा कौं कबिताई सिखावै।
मूरतिवन्त महालछमी-उर पोत-हरा रचि लै पहिरावै।
रागवधू-चित-चोरन के हित सोधि सुधारि कै तानहिं गावै।
त्यौंही सुजान तियैं घनआनन्द मो जिय-बौरई रीति रिझावैं।।[1]

घनानन्द के इस छन्द मे प्रेमिका को रिझाने के लिए प्रेमी की आतुरता व विह्वलता का चित्र अंकित है। प्रेम की समस्त भंगिमाओ से सर्वथा सुपरिचित सुजान को रिझाने का प्रयत्न पूर्णत निरर्थक है, यह संज्ञान प्रेमी को भी है। वह जानता है कि जब तक सुजान स्वयं रीझना न चाहे, उसे रिझाना सम्भव नही। नायक की सबमे बडी विवशता इसी मे प्रकट हो जाती है कि वह जानता है कि नायिका उसकी सभी युक्तियों से परिचित है।

पद्माकर ने अपनी चित्रात्मक भाषा के बल पर नायिका के कपोल-स्थित तिल का सौन्दर्य उद्घाटित किया है—

कैधौ रूप-रासि मे सिगार रस अकुरित
संकुरित कैधौ तम तडित जुन्हाई मे।
कहै पदमाकर त्यों किधौ काम कारीगर
नुकता दियौ है हेम-फरद सुहाई मे।
कैधौं अरबिंद मे मलिंद-सुत सोयो आनि
ऐसो तिल सोहत कपोल की लुनाई मे।
कैधौ पर्यो इंदु में कालिंदि-जल-बिन्दु आइ
गरक गुबिंद किधौ गोरी की गुराई मे।।[2]

सन्देहालंकार का आश्रय लेकर कवि ने नायिका के गौरवर्ण और लावण्य तथा तिल का सौन्दर्य निरूपित किया है, जिसमे की गई ये विभिन्न कल्पनाएँ अत्यन्त भावप्रवण व सटीक है। वाक्यौचित्य की दृष्टि से अंतिम पंक्ति दर्शनीय है।

प्रबन्धौचित्य

प्रबन्धौचित्य का पारम्परिक अर्थ है कथा-प्रवाह की अविच्छिन्नता की सुरक्षा आचार्यों के अनुसार महाकाव्य एव खण्डकाव्य में कवि द्वारा गृहीत कथा की शृंखला अविरत व अविच्छिन्न बनी रहनी चाहिए तथा रस-प्रवाह को कही भी शिथिल नहीं

---

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र · घनानन्द कवित्त, पृ० २८
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र पद्माकर ग्रंथावली, पृ० ३१३

होते देना चाहिए। परिणामतः प्रत्येक रसाभिनिवेशी कवि इसका निर्वाह करने के लिए निरन्तर उद्योगशील रहता है। परन्तु 'प्रबन्धौचित्य' से क्षेमेन्द्र का तात्पर्य उक्त तात्पर्य से कुछ अधिक व्यापक है। कथा-प्रवाह के सुचारु निर्वाह के अतिरिक्त क्षेमेन्द्र वहाँ पर प्रबन्धौचित्य की स्थिति मानते हैं, जहाँ कवि अपनी प्रतिभा के बल पर, वर्ण्य विषय-वस्तु के अनुरूप, नवीन (जन-ग्राह्य व सदाश्रित), रसोपकारक अर्थोद्‌भावना कर लेता है।[1]

जहाँ तक कथा-प्रवाह की अविशृंखलता का प्रश्न है, रीतियुगीन-काव्य में प्रबन्ध-काव्य ही अत्यन्त अल्प मात्रा में हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' ही उस युग का प्रमुख काव्य है, जिसके प्रबन्ध-कौशल पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। अधिकांश विद्वानों ने उसकी प्रबन्ध-योजना को अत्यन्त शिथिल माना है। यदि हम उस रचना की मूल प्रेरणा व उसके उद्देश्यों पर गहराई से विचार करें, तो उसके प्रबन्धत्व पर किये गये बहुत से आक्षेपों का निरसन स्वतः हो जाएगा। वह न तो चरित-प्रधान महाकाव्य है, न घटना-प्रधान। उसमें तो कवि केवल अपने कथा-नायक श्रीराम के वैभव की चन्द्रिका का पूरा प्रकाश विकीरित करना चाहता है।

जहाँ तक प्रतिभा के बल पर नवीन कल्पनाओं व उद्‌भावनाओं का सम्बन्ध है, रीति-काव्य से ऐसे बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनमें कवि-प्रतिभा का चमत्कार सहृदयाह्लादकारी है। उदाहरणार्थ—

सुन्दरि-बदनि राधे सोभा को सदन तेरो,
बदन बनायो चारिबदन बनाय कैं।
ताकी रुचि लैन को उदित भयो रैनपति,
मूढ़ मति राख्यो निजकर बगराय कै॥
'मतिराम' कहै निसिचर चोर जानि याहि,
दीनी है सजाइ कमलासन रिसाय कै॥
रातौ दिन हेरे अमरालय के आसपास,
मुख मैं कलंक मिस कारिख लगाय कै॥[2]

चन्द्रमा कलंक-युक्त है, यह तो सर्वविदित है; किन्तु इसके कारण की कल्पना सर्वथा अपूर्व एवं मौलिक है। राधा की रूप-माधुरी की चोरी करने के उपक्रम में पकड़े जाने पर ब्रह्मा ने उसके मुख पर कालिख लगवाकर अमरालय के चारों ओर पहरा लगाने का दण्ड दिया है। व्यंग्य है राधा का अप्रतिम रूप-सौन्दर्य, जिसकी व्यंजना करने में कवि की यह कल्पना नितान्त सार्थक हुई है।

कामदेव का एक पर्याय 'मनसिज' भी है। काम मन की ही संतान है। मन में

---

१. क्षेमेन्द्र का उक्त मत उनके द्वारा दिए गए उद्धरणों से ही फलित किया गया है; उनकी किसी स्पष्टोक्ति का परिणाम नहीं है।
२. हरदयालु सिंह : मतिराम-मकरंद, पृ० १६७

ी उत्पन्न होकर यह 'काम' मन को ही निरन्तर बेधता रहता है। अपने ही जनक को सतानेवाला यह कामदेव 'पितृहंता' है, अत. 'कपूत' ही कहलाने योग्य है। घनानन्द के निम्नलिखित छंद में 'कपूत' कामदेव की कथा द्रष्टव्य है--

मुरझाने सबै अंग, रह्यौ न तनक रंग,
बैरी सु अनंग पीर पारै जरि गयौ ना।
इते पै बसंत सो सहायक समीप याके,
महा मतवारौ कहूँ काहू तें जु नयौ ना।
नीखे नए नीके जी के गाहक सरनि लै लै,
बेधे मन कौं कपूत पिता-मोह-मयौ ना।
पवन-गवन-संग प्रानन पठायहौ तौ,
जान घनआनन्द को आवन जौ भयौ ना॥[1]

कामदेव को 'कपूत' कहने में पदौचित्य तो है ही, किन्तु साथ-साथ इसमें कल्पना का चमत्कार व नवीनता भी कम नहीं है।

उक्त दोनों पदों में कवि-प्रतिभाजनित नवीन उद्भावनाओं को देखने से रीतिकालीन कवियों में प्रबन्धौचित्य की उपस्थिति की सम्यक् प्रतीति हो जाती है।

गुणौचित्य

रसानुरूप गुणों का प्रयोग गुणौचित्य कहलाता है। गुण रस के स्थिर धर्म माने गये है। गुणो का संविधान वर्ण-संघटना पर आधारित है। किस रस में कौन सा गुण प्रकर्षाधायक है तथा कौनसा गुण अपकर्षकारक है, इसका विवेकसम्मत ज्ञान प्रयोक्ता को होना चाहिए। ओज, माधुर्य और प्रसाद---इन तीन गुणो में से रस की प्रकृति के अनुकूल गुण की व्यावहारिक स्वीकृति ही महत्त्वपूर्ण है, यथा---शृंगार रस के प्रसंग में माधुर्य गुण का तथा वीर, रौद्र, भयानक रसो के अवसर पर ओज गुण का प्रयोग ही उचित होगा। प्रसाद गुण के विषय में ऐसा कोई विशेष बन्धन नहीं है।

रीति-काव्य में---एकमात्र भूषण की कविता को छोड़कर जिसमें वीर रस प्रतिपाद्य है---शृंगार-रस की योजना ही प्रमुख रही है। अतः माधुर्य गुण का इस युग के काव्य में सर्वाधिक सन्निवेश हुआ है। सामान्यत ओज एवं प्रसाद गुण के औचित्यों के उदाहरण भी समुचित मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं, परन्तु इस युग की प्रकृति के अनुकूल तो माधुर्य गुण ही था। माधुर्य गुण में कोमल वर्णों की अधिकता रहती है। मृदु, सुचिक्कण, मसृण व सरल वर्णों से इसका गठन होता है। ओज गुण में परुष व कठोर वर्णों की प्रधानता रहती है। प्रसाद गुण का लक्षण है अर्थ की सुग्राह्यता। सूखी लकड़ी में जैसे आग सद्य.आद्यंत फैल जाती है, वैसे ही प्रसाद गुण में काव्यार्थ सद्य आद्यंत व्याप्त हो जाता है।

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र . घन आनद कवित्त, पृ० ४१-४२

प्रसाद गुण

नासा मोरि नचाय दृग करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकति हिये वहै कटीली भौंह ॥[1]
बालापन को भेदि कै छवि को अंकुर होइ।
जग मोहै दिन दिन बढ़ै जोबन कहिए सोइ ॥[2]

बिहारीरचित इस प्रसिद्ध उद्धरण में नायिका की समग्र चेष्टाओ तथा हावो का उद्दीपन विभाव के रूप मे वर्णन हुआ है। ये सभी उद्दीपन शृंगार रस की योजना मे बड़े सहायक सिद्ध हुए है। भाव की सहज बोध-गम्य स्थिति के कारण यहाँ प्रसाद गुण का अनाविल रूप प्राप्त है।

दूसरे उदाहरण में देव ने 'यौवन' को परिभाषा निबद्ध करने की सफल व सार्थक चेष्टा की है। शिशुता को भेद कर उभर आते वाले यौवन का कवि ने आडम्बर-हीन व सहज सरल पदावली मे चित्रांकन किया है। नव-प्रस्फुटित यौवनांकुरो ने समस्त जगत् को मोहित कर रखा है। यही यौवन का लक्षण है, यही उसका प्रभाव।

केशव ने निम्नलिखित छन्द मे दर्शन की उलझी हुई व गुरु-गम्भीर बात को भी कितने सरल शब्दो मे अंकित कर दिया है। केशव को कठिन काव्य का प्रेत कहने वाले यदि उनकी ऐसी रचनाओ पर ध्यान देते तो शायद अपना अभिमत परिष्कृत करते—

जैसें चढे बाल सब काठ के तुरग पर,
　　तिनके सकल गुन आपुही मे आनै हैं।
जैसें अति बालिका वै खेलति पुतरियन,
　　पुत्र पुत्रिकानि मिलि विषय बितानै हैं।
आपनौ जौ भूलि जात लाज साज कुल कर्म,
　　जाति कर्मकादिकन ही सो मनमानै है।
ऐसें जड जीव सब जानत है 'केसौदास'
　　आपनी सचाई जग सांचोई कै जानै है॥[3]

संसार मिथ्या, है फिर भी हम मायावशवर्ती होकर उसमे सत्य का आक्षेप करते हैं और भ्रमवश उसी को सच्चा मानने लगते है—उसी प्रकार जैसे बच्चे काठ के घोडे पर बैठकर उसे सच्चा घोडा कल्पित कर लेते है और काल्पनिक सुख पाते रहते है। यदि इस छन्द मे 'केसौदास' की छाप न होती तो कदाचित् उसे केशव की रचना मानने से भी लोग इन्कार कर देते। यहाँ पाण्डित्य भी सरल व प्रासादिक शब्दावली में प्रकट हुआ है।

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १६५
२ राजकृष्ण दूगड और ब्रजमोहन जावलिया : देवकाव्य रत्नावली, पृ० ११
३ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : केशव ग्रंथावली (भाग २), पृ० ६६०

माधुर्य गुण

अरुन बरन तरुनी चरन अंगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरंग रंग सी मनौ चपि बिछुवन के भार ॥[1]

सोरह सिंगार कै नवेली की सहेलिन हूँ,
कीन्ही केलि मन्दिर मे कलपलि केरै है।
कहै पदमाकर सु पास ही गुलाब पास
खासे खस खास खुसबोइन की ढेरै हैं।
त्यों गुलाबनीरन सो हीरन के हौज भरे
दंपति मिलाप हित आरती उजेरै हैं।
चोखी चाँदनीन पर चौसरे चमेलिन के
चंदन की चौकी चारु चाँद की चगेरे हैं ॥[2]

मंजुल-वंजुल-पुंज-निकुंज अछेह छबीलो महारस-मेहतें।
द्यौस मैं रैन सो चैन को ऐन, पै जोति पग्यौ जगि दंपति-देहतें।
ह्रास-विकास बिलास-प्रकास सुजान समान अदेह के तेहनें।
भीजि रहे घन आनन्द स्वेद, समीर ढुलै बिजना भरि नेह नें ॥[3]

च वर्ग के वर्णों का प्रयोग माधुर्य गुण का पोषक होता है। इसी प्रकार अघोष व अल्पप्राण व्यंजन कोमल भाव की व्यंजना मे सहायक सिद्ध होते है। बिहारी और पद्माकर ने रीतिकाल के कवियों मे अपनी चित्रात्मक भाषा व मधुर-पद योजना के कारण विशेष प्रसिद्धि पाई है। बिहारी के इस दोहे में नायिका के चरणों की कोमलता व्यंग्य है। इस कोमलता की व्यंजना करने मे प्रयुक्त मधुर पदावली शृंगार रस के सर्वथा अनुकूल है इतना ही नही उसमे 'र' वर्ण की आवृत्ति भी अत्यन्त मनोहारी है—अरुन बरन तरुनी चरन—मे वर्णावृत्ति व लय द्रष्टव्य है। दूसरी पंक्ति में अंगुलियों की सुकुमारता ही व्यंजित नहीं होती, अपितु लालिमा भी प्रकट होती है।

द्वितीय कवित्त मे पद्माकर ने मुग्धावासकसज्जा नायिका का चित्र अंकित किया है। सभी प्रकार के शृंगारादि से सुसज्ज होकर वह केलि-मन्दिर मे प्रतीक्षा-रत है। हीरे के हौजों में गुलाबजल भरा हुआ है। खस की खुशबू फैली हुई है। चाँदनी मे चन्दन की चौकियाँ बिछी हुई है। कोमल वर्ण-योजना के भीतर 'ख' वर्ण से युक्त एक पूरी पंक्ति किंचित् खटकने लगती है परन्तु यह दोष अन्य सभी पंक्तियों में प्रयुक्त सुन्दर वर्णों में इस प्रकार ढँक गया है, जिस प्रकार फूलों की सुन्दर माला के बीच एक नीला पलाश का पत्ता।

तृतीय सवैये मे घनानन्द ने माधुर्य गुण की वर्षा-सी कर दी है। यों भी सवैया

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १६६
२ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : पद्माकर ग्रन्थावली, पृ० १२४
३ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घन आनन्द कवित्त, पृ० १६७

छन्द शृगार की अभिव्यक्ति के लिए श्रेष्ठ साधन है; ऊपर से मधुर-वर्णों की योजना तथा प्रासादिकता का संयोजन मणिकाचन-योग ही माना जायगा।

ओजगुण

बोरौं सबै रघुबश कुठार की धार मे वारन बाजि सरत्थहि।
बान की वायु उडाय के लच्छन लच्छ करो अरिहा समत्थहिं॥
रामहिं बाम समेत पठै बन कोप कै भार में भूंजौ भरत्थहि।
जौ धनु हाथ धरै रघुनाथ तौ आजु अनाथ करौं दसरत्थहि॥[1]

प्रेतिनी पिसाचऽरू निसाचर निसाचरिहु,
मिलि मिलि आपुस मैं गावत बधाई है।
भैरौ भूत प्रेत भूरि भूधर भयकर से,
जुत्थ जुत्थ जोगिनी जमाति जुरि आई है।
किलकि किलकि कै कुतूहल करति काली,
डिम डिम डमरू दिगम्बर बजाई है।
सिवा पूंछै सिव सो समाज आजु कहाँ चली,
काहू पै सिवा नरेस भृकुटी चढाई है?[2]

अपने गुरु शिवजी के धनुष्य का भग हुआ सुनकर परशुराम का क्रुद्ध हो जाना स्वाभाविक ही है। क्रोधाविष्ट परशुराम को जब यह पता चला कि धनुष्य रामचन्द्र ने तोडा है, तब वे अधिक क्रोधाभिभूत होकर प्रतिज्ञा करने लगे कि आज मैं समस्त रघुवश को अपने कुठार की तीक्ष्ण धार में डुबो दूंगा। उनकी इस प्रतिज्ञाबद्ध स्वभावोक्ति मे ओज गुण का पूर्ण प्रकर्ष दिखाई पडता है। प्रत्येक पंक्ति के अन्त मे स्थित क्रमश सरत्थहिं, समरत्थहि, भरत्थहिं, दसरत्थहिं शब्दो मे संयुक्ताक्षर के कारण वचन की परुषता में वृद्धि होती है। इसी प्रकार कुठार, धार की कठोर वर्ण-योजना भी रस-पोषक है। 'कोप के भार मे भूंजौ भरत्थहिं'—मे क्रोध की चाक्षुष बिम्बात्मक अभिव्यक्ति हो पाती है, भाड मे भूंजने की क्रिया का दृग्गोचर रूप उपस्थित हो जाता है।

द्वितीय उद्धरण मे भूषण ने युद्ध के लिए प्रस्थित सेना को देख प्रहर्षित प्रेत-प्रेतनियों, भूतो, निशाचरो, जोगिनियो का वर्णन उपस्थित कर भयानक रस का अगभूत ओजगुण निष्पादित किया है। 'पिसाच', 'निसाचर', 'भैरौ', 'भूत', 'जोगिनी' के उल्लेख-मात्र से ही पर्याप्त भयंकरता छायी हुई है। 'भैरौं भूत प्रेत भूरि भूधर भयकर' से तथा 'डिम डिम डमरू दिगम्बर बजाई है।' पंक्तियो से भय की साक्षात् प्रतिमा-सी स्थापित हो जाती है। शिवाजी के क्रोध की प्रतिमा-सम ये पंक्तियाँ आकुचित भृकुटी का दृश्य-बिंब उपस्थित कर देती है।

---

१ लाला भगवानदीन . रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० १०६

२ श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र : भूषण ग्रंथावली, पृ० १३४

अलंकारौचित्य

अलकार का उचित प्रयोग अलंकारौचित्य कहलाता है। अलकार गुण के और गुण रस के धर्म हैं। अत. अलकारो का धर्मी के रूप मे प्रयोग आचार्यो के द्वारा समादृत नही है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अलंकारो का अयत्नज प्रयोग ही उपकारक माना है

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य. सोऽलकारो ध्वनौ मत ॥[1]

लांजिनस ने भी उसी अलकार-प्रयोग को सुन्दर व सार्थक माना है जो काव्य मे उक्ति का सहज अंग बनकर आवे तथा पाठक को यह आभास न होने दे कि यहाँ अमुक अलंकार है। अलंकार ऊपर से यत्नपूर्वक आक्षिप्त न होने चाहिए। इस विषय मे लाजिनस की उक्ति द्रष्टव्य है·

'A Figure looks best when it escapes one's notice that it is a figure.'[2]

अलंकारों के प्रयोग के विषय मे दूसरी महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि वे अलकार्य के अनुरूप हो। इस विषय मे आचार्य अभिनव गुप्त का यह कथन सर्वथा ध्यान देने योग्य है कि—

तथाहि—अचेतन शवशरीर कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्त हास्यावह भवति, अलकार्यस्यानौचित्यात्।[3]

शव-शरीर अथवा यति का शरीर कटक, कुडलादि के लिए उचित अलकार्य नही है। अलकार्य के अभाव मे अलंकार व्यर्थ व निरर्थ है। अनुचित अलकार्य के प्रसग मे भी वे अपनी सारी शक्ति खो बैठते हैं। उचित अलकार्य के प्रसंग मे भी उनका यथास्थान सन्निवेश ही शोभाधायक सिद्ध होगा। आचार्य क्षेमेन्द्र भरत के भाव को दोहराते हुए यही कहते है

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबधनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नाऽयाति के हास्यताम् ?
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नाऽलंकृतिर्नोगुणाः ॥[4]

उक्त सभी विद्वानो की धारणाओ मे पुष्टि हो जाती है कि—

(१) काव्य में अलंकारो का प्रयोग अयत्नज, सहज और स्वाभाविक हो, ऊपर से लादा गया न हो।

(२) अलकार्य के अभाव में अलंकार की कोई सार्थकता नही है।

---

१ सपा० डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (पूर्वार्द्ध), पृ० ४८०
२ बलदेव उपाध्याय . भारतीय साहित्यशास्त्र (भाग २) पृ० ११६ से उद्धृत
३. सपा० डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (लोचन टीका), पूर्वार्द्ध, पृ० ४१९
४. डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य विमर्श, पृ० १८६

(३) अनुचित अलंकार्य के प्रसंग में भी अलंकार अपनी सत्ता-महत्ता खो देते हैं।

(४) उचित स्थान पर विन्यस्त होकर ही अलंकार अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। परिणामतः अलंकार्य और अलंकार के बीच सहज एकान्विति को ही अलंकारौचित्य कहा जा सकता है।

रीति-काव्य अधिकांशतः अलंकार-प्रधान काव्य है। अलंकारों के प्रति जितनी सजगता इस युग में पायी जाती है, उतनी, सम्भवतः, अन्य कालों के कवियों में नहीं है। इस युग के प्रायः सभी कवि अलंकार-पण्डित थे। रीति-बद्ध, रीतिसिद्ध व रीति-मुक्त सभी धाराओं के कवि अलंकार-प्रयोग में अपना कौशल दिखाने में समुद्यत रहे। हाँ, इनका अलंकारों के प्रति अभिगम (एप्रोच) अलग-अलग रहा। चमत्कार का सन्निवेश कर अपनी उक्ति को सर्वाधिक आकर्षक बनाने के उपक्रम में कवियों ने ऊहाओं तथा वक्रतापूर्ण वाग्वैदग्ध्य का समाश्रय लिया, कारण कि सीधी व सरल उक्तियों में वैसा आकर्षण व प्रभाव नहीं रहता जैसा वक्रोक्ति में। परिणामतः विरोध-मूलक अलंकारों—विभावना, विरोध, विषम, असंगति, परिसंख्या—की ओर कवियों का स्वाभाविक रुझान पाया जाता है।

रीति-काव्य में अलंकारौचित्य का परीक्षण अपने में एक स्वतंत्र विषय हो सकता है, अतः यहाँ अनावश्यक विस्तार न करते हुए कुछ उदाहरणों से अपनी बात को स्पष्ट कर देना ही उपयुक्त होगा।

अलंकारों के प्रमुख दो भेद—शब्दालंकार और अर्थालंकार—शास्त्र-गृहीत हैं। शब्दालंकारों में यमक, श्लेष, व अनुप्रास ही मुख्य हैं। इन शब्दालंकारों का प्रयोग नाद-सौन्दर्य को सम्प्रेषित करने तथा शब्द-गत प्रयोगों के माध्यम से काव्य की चमत्कृति वर्धित करने के लिए होता है।

अनुप्रास

हीन भएँ जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेही कौं लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीत के पानि परें कौं प्रमानै।
या मन की जु दसा घन आनन्द जीव की जीवनि जान ही जानै॥[1]

प्रिय की परवशता, आकुल-व्याकुल अवस्था की जड़ मीन से कोई समता नहीं है। उस मर्मान्तक पीड़ा को वही समझ सकता है, जिसे विरह ने बींध डाला हो। 'हीन', 'मीन', 'प्रीति', 'रीति', 'जीव की जीवनि जान ही जानै' में योजित अनुप्रास की सहजता तथा पंक्तियों के अन्त में स्थित 'समानै', 'प्रानै', 'प्रमानै', 'जानै' में आए अंत्यानुप्रास ने विरही की व्याकुलता तथा वेदना को सशक्त शाब्दिक अभिव्यक्ति प्रदान की है।

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घनानंद कवित्त, पृ० ७

श्लेष

(१) राउरी दुहाई तौ बुझाई ना बुझैगी फेरि।
नेहभरी नागरी की देह दिया बाती सी ॥[1]

(२) ऐसो पति पायो बड़भागनि सो प्यारी सदा,
सुबिरन ही को पघिलावत सुहाग सो ॥[2]

(३) खेलन सिखए अलि भले चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैन मृग नागर-नरनि सिकार ॥[3]

प्रथम उद्धरण में पद्माकर ने श्लेष का चमत्कारी प्रयोग कर 'नेहभरी' नायिका की देह को दिया-बाती-सी बताया है। दीपक की लौ में जलन है और वह तेल से भरी भी रहती है। नायिका की देह में ज्वलनशीलता (विरहजन्य ताप) और स्नेहशीलता का समन्वित निवास है। श्लेष की सहायता से दोनों का उद्घाटन कर दिया गया है। स्नेह और जलन में विरोध नहीं किन्तु कार्य-कारण भाव अवस्थित है। यह दिया-बाती-सी उसकी देह विरहजनित अपार कष्टों में भी चिर-ज्वलित रहती है। बुझाने पर भी नहीं बुझ पाती है। स्नेह का सबल तो है।

मतिराम ने नायिका को सुहागा और नायक को सुवर्ण कहकर श्लेष का अच्छा प्रयोग किया है। 'सुबिरन' और 'सुहाग' क्रमश. सुपुरुष और सौभाग्य के अर्थ का बोध भी कराते है। सोने को पिघलाने के लिए उसमें सुहागा मिलाया जाता है। सुपुरुष अथवा सुन्दर नायक को भी सौभाग्यवती के अतिरिक्त कौन द्रवीभूत कर सकता है ? नायिका की सम्मोहन-शक्ति की व्यजना कर उसके अद्भुत रूप-सौन्दर्य की कवि ने अपूर्व व्यंजना की है।

बिहारी ने नेत्रों को काननचारी मृग कहकर उनके चांचल्य दीर्घत्व और इषु-वत् बेधन-क्षमता की व्यजना कर दी है। नायिका के नेत्र-सौन्दर्य की बड़ी सटीक व्य-जना कवि ने यहाँ की है।

अमल कमल, जहाँ सीतल सलिल, लागी,
आस आस पासिन सबनि ताल जाति है।
तहाँ नव नारी, पचवान बैस बारी, महा,
मत्त प्रेम-रस आस बनि ताल जाति है ॥
गावति मधुर, तीनि ग्रान, सात सुर मिलि,
रहीताननि मैं बसि, बनि ताल जाति है।

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र · पद्माकर ग्रन्थावली, पृ० १६०.
२ कृष्णबिहारी मिश्र · मतिराम ग्रन्थावली, पृ० ६२
३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र . बिहारी, पृ० १७८

सेनापति मानौ रति, नीकी निरखत अति,
देखिकै जिनै सुरेस बनिता लजाति है ।।[1]

कविवर सेनापति ने उक्त उद्धरण के प्रत्येक चरण के अन्त मे 'बनिता लजाती है।' की आवृत्ति की है। प्रत्येक बार उसका अर्थ भिन्न-भिन्न है, अतः यमक अलकार की यहाँ स्थिति होती है। शृंगार के प्रसग मे यमक-योजना बडी पोषक होती है।

ग्राम-वधुओ का सहज सौन्दर्य, उनके कठ का मधुर संगीत, उनका जल हरण, उनकी नई उभर, उनकी तालबद्धता, उनकी निकाई आदि को देख सुरेश-वनिता अर्थात् शची भी लज्जित हो जाती है। कथ्य की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति मे 'यमक-योजना' अधिक सक्षम हो गई है।

अर्थालकार

उपमा · राम पद-पद्म सुख सद्म कहँ बन्धु युग,
दौरि तब षट्पद समान सुख पाइयो ।।[2]

यद्यपि केशव विरोधमूलक अलकारो का प्रयोग कर चमत्कार की सृष्टि करने मे प्रवीण माने जाते है और उनकी इसी कारण विशेष अनुकूल-प्रतिकूल आलोचनाएँ भी होती रहती हैं तथापि सादृश्याधृत अलकारों—उपमा-उत्प्रेक्षादि —के प्रयोग मे उनका कौशल अवज्ञा-योग्य नहीं है।

प्रस्तुत उदाहरण में उन्होने राम के चरणों को कमल तथा भरत एव शत्रुघ्न को भ्रमर कहकर भक्ति-भाव की तीव्रता, इष्ट के चरणो मे आतुरतापूर्ण प्रणति व अधीर होकर अपने-आपको समर्पित करने की व्यंजना की है। राम के प्रति इन दो अनुजो की अनन्य भक्ति, राम से मिलने की छटपटाहट, आतुरता, विकलतादि की तीव्रतर व्यंजना इस उपमा द्वारा हो पाई है। एक स्थान पर केशव ने भरत की उपमा बछडे से तथा माताओ की उपमा गायो से देकर वात्सल्य की अपूर्व व्यंजना कर दिखाई है।[3] अग्नि की गोद मे स्थित सीता को 'पिता अंक ज्यो कन्यका शुभ्र गीता।' कहकर सीता के पावित्र्य की व्यजना की है।[4] ये सारी उपमाएँ निश्चय ही सुन्दर व कथ्यानुकूल है।

सेनापति सहज की तन की निकाइ ताकी,
देखि कै दृगन जिय उपमा विचारी है।
ताल गीत बिन, एक रूप कै हरति मन,
परबीन गाइन की ज्यौ अलापचारी है ।।[5]

---

१. उमाशंकर शुक्ल . कवित्त रत्नाकर (भूमिका), पृ० ४३
२. लाला भगवानदीन . केशव कौमुदी (भाग २), पृ० ९३
३. लाला भगवानदीन . रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० १६३
४. वही, पृ० ३५२
५. उमाशकर शुक्ल . कवित्त रत्नाकर (भूमिका), पृ० ८

सेनापति ने सद्य स्नाता के अग की सहज 'निकाई' की व्यजना करने के लिए उसकी तुलना ताल-गीत रहित 'अलाप' से की है। अंग की निकाई की अपेक्षा अलाप अधिक सूक्ष्म है। इस उपमा मे आभूषणादि से विरहित नायिका के अनाविल व सहज सौन्दर्य की मूर्त्त अभिव्यक्ति हो पायी है। श्राव्य-बिम्ब की इस योजना मे किंचित् नवीनता, ताजगी व मौलिकता भी आ गई है।

भूषण ने इस छद मे उपमाओ की वर्षा-सी कर दी है—

सक्र जिमि सैल पर अर्क तम फैल पर,
बिघन की रैल पर लबोदर लेखिये।
राम दसकंध पर भीम जरासंध पर,
भूषन ज्यो सिंधु पर कुभज बिसेखिये।
हर ज्यो अनग पर गरुड भुजंग पर,
कौरव के अग पर पारथ ज्यो पेखिये।
बाज ज्यो बिहग पर सिंह ज्यो मतंग पर,
म्लेच्छ चतुरंग पर सिवराज देखिये ॥[1]

शिवाजी के बल, पराक्रम एव प्रभाव का वर्णन करने मे यह मालोपमा बहुत सफल हुई है। उत्तरोत्तर शात्रव भाव की तीव्रता व प्रकर्ष दिखाने मे ये उपमाएँ सटीक है। प्रयुक्त सभी उपमाओ मे उल्लिखित प्राणियों, व्यक्तियों व पदार्थों का परस्पर-विरोध या शात्रव सुप्रसिद्ध है।

आँखिन ते गिरे आँसु के बूँद,
सु हास गयौ उड़ि हस की नाई ॥[2]

वार्त्तालाप के प्रसंग मे नायक द्वारा निरभिप्राय ही परकीया का नाम-कथन हो जाने पर नायिका की समग्र प्रसन्नता विलुप्त हो गई। नेत्रो से अश्रु बहने लगे। विलुप्त होते हास्य की उडते हुए हंस से तुलना क्रिया एव रूप-सादृश्य पर आधृत है। हास्य का रंग भी श्वेत माना जाता है और हंस तो श्वेत होता है ही। दोनो के आकस्मिक उड जाने का बोध इस बिम्ब द्वारा हो जाता है। वर्षा का संध्या से अश्रु-पात की सगति, भी अपूर्व है। नायिका की उदासीनता भी 'वर्षा की साँझ' से व्यजित हो जाती है।

घनानंद ने भी इसी प्रकार के भाव की मधुर व्यजना की है—

गए उडि तुरत पखेरू लौं सकल सुख,
परयौ आय औचक वियोग बैरी डेल सो ॥[3]

अमूर्त (सुख) के लिए मूर्त (पखेरू) की उपमान रूप में कल्पना अत्यत मोहक,

---

१. मिश्र-बधु : भूषण ग्रथावली, पृ० १४६
२ हरदयालु सिंह : मतिराम-मकरद, पृ० १४६
३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घन आनद कवित्त, पृ० २३

नवीन व ताजी हैं। बिरहजनित मुख-लोप का सुन्दर निरूपण द्रष्टव्य है। अलंकार के क्षेत्र मे भी स्वच्छन्दधारा के कवियो की विलक्षणता अपनी चमक दिखा जाती है। एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

मेरो मन भँवै भटू, पात ह्वै बघूरे को।[1]

नायिका के मन की भटक समय विवशता और परिस्थितियो की प्रबलता की व्यंजना के लिए कवि ने क्रमश पत्ते और वात्याचक्र का आश्रय लिया है, जो नायिका की मानसिक अवस्था का सटीक उपमा द्वारा बिम्बग्राही चित्र उपस्थित करता है।

उत्प्रेक्षा

सोहत ओढे पीत पट स्याम सलोने गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर, आतप पर्यौ प्रभात ॥[2]

पीताम्बर ओढे हुए श्रीकृष्ण का सुन्दर श्याम शरीर ऐसी शोभा देता है, मानो नीलमणि पर्वत पर प्रात काल की धूप पड रही हो। यहाँ पर उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है। नायिका के सामने सखी द्वारा कहे गए इन वचनो मे नायक श्रीकृष्ण के रूप को उभारने की चेष्टा की गई है। इस दोहे मे श्रीकृष्ण और उनका पीत-पट उपमेय है और नीलमणि पर्वत और प्रात कालीन सूर्य की पीत किरणे क्रमश. उपमान है। रग-सादृश्य के आधार पर कवि ने रूप के ओप को बडे ही सुन्दर ढंग से व्यजित किया है।

लसत सेत सारी ढक्यौ तरल तरौना कान।
पर्यौ मनौ सुरसरि सलिल रवि-प्रतिबिंब बिहान ॥[3]

यहाँ पर भी उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है। श्वेत साडी मे ढँका हुआ झिलमिलाता कान का कर्ण-फूल इस तरह शोभित है, मानो गगा के जल मे प्रभातकालीन सूर्य का बिम्ब पड रहा हो। प्रस्तुत उत्प्रेक्षा के द्वारा दो समानान्तर दृश्य-बिम्ब खडे हो जाते है। एक तो ऐसी नायिका का चित्र खडा होता है, जो श्वेत वस्त्रो से आवृत्त है और जिसका कर्णफूल झीने श्वेत पट से अपनी प्रतिच्छवि को बाहर फेकता रहता है। साथ ही प्रकृति-विषयक दूसरा बिम्ब है, जिसमे गगा के लहराते पानी मे सूर्य का प्रतिबिम्ब झिलमिलाता है। इस प्रकार उपमेय और उपमान के ये दोनो बिम्ब रग-रूप और तारल्य के सादृश्य को प्रकट करते है। नायिका का सौन्दर्य तो इस उत्प्रेक्षा के माध्यम से द्विगुणित व मूर्तिमंत हो जाता है।

रूपक

बरुनी बघंबर औ गूदरी पलक दोऊ,
कोये राते बसन भगोहै भेख रखियाँ।

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र घन आनंद-कवित्त, पृ० २२
२ वही, बिहारी, पृ० २१७
३ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० २१२

बूडी जल ही में दिन जामिनी रहति भौंहें,
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
आँसू ज्यों फटिक माल, लाल डोरे सेल्ही सजि,
भयी है अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजियै 'दरस' देव लीजियै सजोगिनि कै,
जोगिनि ह्वै बैठी वा बिजोगिनि की अखियाँ ॥[1]

देव का यह अत्यन्त प्रसिद्ध रूपक है। इसमे आद्यन्त सादृश्य व साधर्म्य की सुरक्षा व उनका निर्वाह हुआ है। उफनते हुए क्रोध को नदी के रूपक मे बाँधना सरल है। ज्ञान-दीपक की रूपक-योजना भी विशेष दुष्कर नही है। क्योकि वहाँ लम्बी-चौडी भूमि (कैनवस) प्राप्त होती है, परन्तु आँख जैसे छोटे पदार्थ मे जोगिनी का रूपक बाँधना तथा उसका निर्वाह कर लेना निश्चय ही बहुत बडे कौशल की अपेक्षा करता है। रूपक की सफलता इसी मे है कि उसके अंग-प्रत्यग का सटीक निरूपण हो। प्रस्तुत पद मे कवि उसका पूरा-पूरा निर्वाह कर पाया है। बरुनी व्याघ्रचर्म है; दोनो पलकें गूदड है; नेत्रों की लालिमा लाल वस्त्र है; आँसू स्फटिक माला है; विरहानल जोगिनी की धूनी है, भौहों का धुआँ इनमे छाया रहता है। उभय-पक्ष की सगतिपूर्ण विनियोजना करने मे देव ने अद्भुत कौशल दिखाया है। देव ने अन्य सफल रूपक लिखे है यथा—वसंत-रूपक, दूध-जीवन रूपक; ढोल का रूपक आदि।

व्याजस्तुति

धीवर कौ सखा है, सनेही बन चारन कौ,
गीध हू कौ बन्धु सबरी कौ मिहमान है।
पंडव कौ दूत, सारथी है अरजुन हू कौ,
छाती विप्र-लात कौं धरैया तजिमान है॥
ब्याध अपराध-हारी स्वानसमाधान-कारी,
करै छरीदारी, बलिहू कौ दरबान है।
ऐसो अवगुनी! ताके सेइबे कौ तरसत,
जानियै न कौन सेनापति के समान है॥[2]

प्रस्तुत व्याजस्तुति में सेनापति ने अनेक अवगुणो (!) से युक्त श्री रामचन्द्रजी की सेवा की जाने पर आश्चर्य प्रकट किया है। इस व्याजस्तुति मे निंदा के बहाने राम के समत्व, बधुत्व, सहनशीलता, क्षमाशीलता, दया, भक्त-वत्सलता आदि गुणो का निर्वचन किया गया है।

---

१ दूगड और जावलिया : देवकाव्य रत्नावली, पृ० ५७
२. उमाशङ्कर शुक्ल : कवित्त रत्नाकर, पृ० १००-१०१

परिसंख्या

विरोधमूलक या विरोधाश्रित अलकारो का प्रयोग चमत्कारवर्द्धक होता है। नृप-वैभव, शासन-सुप्रबन्ध, प्रताप-वर्णन आदि के प्रसग मे ऐसे विरोधमूलक अलकार अधिक उपकारक सिद्ध होते है। परिसख्या का प्रयोग भी प्रायः ऐसे अवसरो पर होता है। केशव का यह अति प्रिय अलकार जान पडता है। भूषण ने भी इसका प्रयोग किया है। नीचे क्रमश. केशव और भूषण के उदाहरण देखिए—

मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम-हुताशन-धूम नगर एकै मलिनाइय॥
दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिलगति सरितन ही मे।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कवि कुल के जी मे॥[1]

चोरी रही मन मे ठगौरी रूप ही में रही,
नाही तो रही है एक मानिनी के मान मे।
केस मे कुटिलताई नैन मे चपलताई,
भौह में बंकाई हीनताई कटियान मे।
भूषण भनत पातसाही पातसाहन मे,
तेरे सिवराज अदल जहान मे।
कुच मे कठोरताई रति मे निलजताई,
छाँडि सब ठौर रही आई अबलान मे॥[2]

प्रथम-पद में राजा दशरथ के प्रताप व शासन-प्रबन्ध की विशेपता दर्शाई गई है। अयोध्या मे वृक्ष की जडों को छोडकर किसी की अधोगति होती ही नही। केवल यज्ञ के धुएँ से ही भवन मलिन होते है। दुर्गों मे ही दुर्गति पायी जाती है। कुटिलता केवल सरिताओ के प्रवाह मे ही है। श्रीफल (लक्ष्मी की वाछा अथवा कुचो की अभिलापा) की अभिलाषा केवल कवियो को ही है, क्योंकि कुचो की उपमा देने के लिए वे उसका आश्रय लेते है। साराश यह है कि अयोध्या मे कुटिल, अधोगामी, दुर्गनिपूर्ण, मलिनचरित्र द्रव्य-लोभी एवं कामी जनो का वास ही नहीं है।

द्वितीय उदाहरण में भूषण ने शिवाजी के शासन-प्रबन्ध का वर्णन किया है। शिवाजी के राज्य मे चोरी, ठगविद्या, अवज्ञा, कुटिलता, वक्रता, हीनता, कठोरता, निर्लज्जता आदि का वास केवल अबलाओ के रूप व शृगाराराधन मे ही था, अन्यत्र नही। प्रजाजन इनमे सर्वथा विमुक्त थे। चोरी केवल नायिकाओ के मनमें थी, ठगौरी मात्र रूप मे थी, 'ना' केवल मानिनियो के मान मे थी, कुटिलता केवल उनके केशों मे थी,

---

१ लाला भगवानदीन रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० २२
२ विश्वनाथप्रसाद मिश्र भूषण ग्रन्थावली, पृ० १०५

चपलता केवल उनके नेत्रो मे थी, वक्रता उनकी भौहो मे थी तो कठोरता उनके कुचों में ही थी। निर्लज्जता उनके रति-प्रसग मे ही थी।

विभावना

कारण से विपरीत कार्य होने पर विभावना होती है। विभावना भी विरोधाश्रित चमत्कार-प्रदर्शन करने-कराने में अत्यन्त सहायक होती है। केशव के निम्न उदाहरण मे उसका चमत्कार द्रष्टव्य है—

यद्यपि ईधन जरि गए अरिगण केशवदास।
तदपि प्रतापानलन के पलपल बढत-प्रकास ॥[1]

सामान्यत. ईधन के जल चुकने पर अग्नि-ज्वाला शनै शनै मन्द होकर बुझ जाती है परन्तु यह प्रतापाग्नि तो विलक्षण है। अरिगण-रूपी ईधन के जल जाने पर भी उसकी ज्योति प्रतिपल बढती जाती है। दशरथ का प्रताप घोषित करने मे यह विभावना अधिक सार्थवती हुई है।

घनानन्द ने विभावना का आश्रय लेकर प्रेमिका के हृदय की अवस्था का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है

बिरह-समीर की झकोरनि अधीर नेह—
नीर भीज्यौ जीव, तऊ गुडी लौं उड्यौ रहै।[2]

विरह के समीर की प्रबल झकोरों मे स्नेह-नीर से भरा हुआ होने पर भी जीव गुडी की तरह उडता रहता है। प्राय. भीग जाने पर पतंग उड़ नहीं सकती परन्तु बिरहिणी का मन साधारण पतग तो नही है, वह तो स्नेह-नीर से भीगा होने पर उडेगा ही।

असंगति

कार्य एक स्थान पर और उसका कारण कही अन्यत्र वर्णित होने पर असंगति अलंकार माना जाता है। असगति भी एक प्रकार से विरोधमूलक अलकार है। बिहारी और केशव की रचनाओ मे इसका विशेष प्रयोग पाया जाता है। बिहारी का एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हिये दई नई यह रीति ॥[3]

प्रेम की विलक्षणता का इस दोहे मे कवि ने परिचय दिया है। प्रेमियों के नेत्र उलझते है, पर छूट जाता है कुटुम्ब; प्रीति दो दिलो में जुडती है परन्तु गाँठ दुर्जनो के हृदय मे ही पड़ती है। सामान्यतः जो चीज उलझती है, वही टूटती है। जब उसे पुनः जोडा जाता है तो गाँठ भी उसी मे ही पडती है। किन्तु प्रेम के क्षेत्र मे सारे व्यापार

१ लाला भगवानदीन रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० २८
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र घनआनन्द कवित्त, पृ० ११
३. वही, बिहारी, पृ० १६२

भिन्न-भिन्न स्थानों पर होते हैं। प्रेम की विचित्रता का निरूपण करने में यह असंगति अलंकार अपूर्व योग देता है।

केशव के निम्न उदाहरण में दशरथ का प्रताप व बल-पराक्रम प्रकट किया गया है। असंगति का चमत्कार देखिए :

जब तें बैठे राज, राजा दशरथ भूमि मे।
सुख सोयो सुरराज ता दिन ते सुरलोक में ॥[1]

इधर राजा दशरथ अयोध्या के राज-सिंहासन पर विराजमान हुए और उधर सुरराज इन्द्र ने सुख की नींद पायी। कारण पृथ्वी पर और परिणाम स्वर्गभूमि में दिखा कर राजा दशरथ के स्वर्ग तक व्याप्त प्रभाव की, उनके बल-पराक्रम व पौरुष की व्यंजना कवि ने कर दी है। रघुवंशी राजा दशरथ के बल-बूते पर ही इन्द्र स्वर्ग का राज सुख-पूर्वक चला लेता है, यह व्यंजित है।

विषम

कन दैबो सौंप्यौ ससुर बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहचटे लगि लग्यौ माँगन सब जग आनि॥[2]

ससुरजी ने पुत्रवधू को छोटे हाथों वाली जानकर अन्न-भिक्षा देने का कार्य सौंपा, किन्तु उसके रूप का यह प्रभाव हुआ कि सारा गाँव भिक्षुक बन बैठा। 'चौबेजी होने गये छब्बे और रह गये दूबे' वाली स्थिति हो गई। इस प्रकार उक्त दोहे में छोटी बहू के अप्रतिम रूप-सौन्दर्य की व्यंजना करने में यह अलंकार-योजना बड़ी सार्थक है।

विरोध

प्यौ राख्यौ परदेस तें अति अद्भुत दरसाय।
कनक कलस पानिप भरे सगुन उरोज दिखाय॥[3]

सामान्यत: प्राचीन काल में विदेश-गमन, युद्ध-गमन, यात्रा-प्रस्थान आदि अवसरों पर रीती गागर आदि का आगमन अशुभ माना जाता था और यात्रा आदि स्थगित कर देनी पड़ती थी। किन्तु मतिराम की नायिका तो आपूर्ण कनक पयोधरों (कनक कलश सदृश उरोजों) को दिखाकर यानी शुभ शकुन दिखाकर नायक की यात्रा स्थगित करा देती है। इस प्रकार विरोधालंकार द्वारा कवि ने नायक-नायिका के मनोभावों व नायिका के रूपाकर्षण की सुन्दर व्यंजना कर दी है।

विषादन

याकें उर औरै कछू, लगी बिरह की लाइ।
पजरे नीर गुलाब कें, पिय की बात बुझाइ॥[4]

---

१. लाला भगवानदीन रामचंद्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० ७१
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १७३
३. हरदयालुसिंह . मतिराम-मकरंद, पृ० २४४
४. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० २०८

साधारण अग्नि से विरहाग्नि की भिन्नता यह है कि साधारण अग्नि पर जल डालने से वह बुझ जाती है और वायु (वात) के चलने पर भड़क उठती है, जबकि विरहाग्नि तो गुलाब जल से भड़क उठती है और प्रिय की बातचीत (वायु) से शमित हो जाती है। नायिका की अवस्था, विरह की विलक्षणतादि का बोध कराने में यह विषादन अलंकार बड़ा सफल हुआ है।

परिकरांकुर

मीत सुजान अनीति करौ जिन, हाहा न हूजियै मोहि अमोही।
दीठि कौं और कहूँ नहिं ठौर, फिरी दृग रावरे रूप की दोही।
एक बिसास की टेक गहें, लगि आस रहे बसि प्रान-बटोही।
हौ घनआनन्द जीवनमूल दई! कित प्यासनि मारत मोही॥[1]

यहाँ 'जीवनमूल' विशेषण का प्रयोग साभिप्राय हुआ है। जीवन पानी का पर्याय भी है। यह शब्द प्राण और पानी दोनो अर्थों की व्यंजना करता है। व्यंजना यह है कि तुम प्राणो की रक्षा करने वाले या प्राण देने वाले होकर भी हमें तड़पाते हो, प्यासा मारते हो? 'जीवनमूल' विशेषण सटीक व औचित्यपूर्ण है। केशव की भाँति केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है।

लोकोक्ति

यह कीरति और नरेशन सोहै।
मुनि देव अदेवन को मन मोहै।
है को बपुरा सुनिये ऋषिराई।
सब गाँऊँ छ सातक की ठकुराई॥[2]

जनक के विनम्र, विनयसम्पन्न व निरभिमनी स्वभाव आदि की सुष्ठु अभिव्यक्ति करने मे 'सब गाँऊँ छ सातक की ठकुराइ' पंक्ति बड़ी सफल हुई है। लोकोक्ति का प्रयोग सार्थक है, क्योंकि अपने वैभव की स्वीकारोक्ति केवल गर्विष्ठ जन ही करते हैं।

अन्योक्ति

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक-कली न रली करै, अली अली जिय जानि॥[3]

नायिका कान की पातरी अर्थात् भोली है। सुनी-सुनाई बातों पर झट से विश्वास कर लेती है। प्रिय के अन्यत्र रमण करने के समाचार मात्र से मान करने लगी है; रूठ गई है। सखी उसे समझाती है कि तू इन मिथ्या बातों पर विश्वास मत कर। यह विश्वास रख कि भौरा कभी मदार की कली में अनुरक्त नही होता। यहाँ परकीया की निकृष्टता, नायक की निष्ठा व नायिका का रूप-सौन्दर्य अन्योक्ति द्वारा व्यंजित हो जाता है।

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घनआनन्द कवित्त, पृ० ८
२ लाला भगवानदीन : रामचंद्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० ६८
३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र . बिहारी, पृ० १७७

गूढोत्तर

गूढ उत्तर-प्रत्युत्तर का प्रयोग संवाद-कौशल दिखाने में बडा सहायक होता है। उससे काव्यीय सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। केशव ने अपनी संवाद-योजना मे इसका पर्याप्त प्रयोग किया है। रावण-अंगद संवाद मे गूढोत्तर का सौन्दर्य द्रष्टव्य है .

कौन के सुत ? बालि के, वह कौन बालि न जानिये ?
कॉख चॉपि तुम्हे जो सागर सात न्हात बखानिये ।।
है कहाँ वह ? वीर अंगद देवलोक बताइयो ।
क्यों गयो ? रघुनाथ-बान विमान बैठि सिवाइयो ।।[१]

यहाँ राम का प्रताप वक्र शैली मे वर्णित किया गया है। अनुज वधू को अपनी बनाकर रखने वाले बालि व उसके पराक्रम का स्मरण कराकर एक ओर तो रावण को अपनी दीन-हीन अवस्था का बोध कराना अंगद का इष्टार्थ है, जो इस रूप मे व्यजित होता है कि . जो बालि तुम्हे अपनी कॉख मे दबाकर सातों समुद्रो मे नहाता रहता था, उसे भगवान ने वाण के विमान पर बिठा कर स्वर्गधाम पहुँचा दिया, तो तुम किस गिनती मे हो और दूसरी ओर यह भी व्यजित करना इष्ट है कि सुग्रीव की पत्नी को बालि ने अपने घर में रख लिया था; केवल इतने अपराव मात्र मे भगवान् राम ने उसको मार डाला (यद्यपि बालि ने राम का प्रत्यक्ष कोई अपराध नही किया था) तो तुमने तो उनकी पत्नी को ही अपने घर मे बिठा रखा है तुम्हारा क्या हाल होगा ?

अनुरणन · (आनामोटोपोइया)

ध्वनि के माध्यम से बिम्ब-स्थापन करना इस अलंकार की विशेषता है। इसके प्रयोगौचित्य पर पोप ने बहुत बल दिया है। पवन की सरसराहट का बिम्ब तभी खडा किया जा सकता है जब तदनुरूप ध्वननशील वर्ण-योजना हो। इसी प्रकार गगन का निर्घोष दिखाने के लिए भी वैसे ही ध्वननशील वर्ण ही प्रयुक्त किए जाय। रीतिकाल मे बिहारी और पद्माकर ने इसके सुन्दर एवं सफल प्रयोग किए है।

रनित-भृंग-घंटावली झरित-दान-मधुनीर।
मन्द मन्द आवत चल्यौ कुँजर-कुंज-समीर ।।[२]

बिहारी के उक्त पद में समीर के लिए हाथी का उपमान जुटाया गया है। भौंरों की गुंजार को घण्टो की ध्वनि से झरते हुए पराग को गण्डस्थल द्रवित मद से उपमित कर कवि ने दृस्य-श्राव्य बिम्ब की सफल योजना की है। उसकी अनुरणन-क्षमता को आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी अभिशंसात्मक दृष्टि से देखते है।[3]

---

१. लाला भगवानदीन : रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० २८४
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० ३०८
३. वही, पृ० १२०

पद्माकर के निम्न उदाहरण मे युद्ध की पूर्व-पीठिका का अति मनोरम ध्वन्यात्मक चित्र पाया जाता है --

समर प्रबल दल दिग्ध उमडिय
दुंदुभि-धुनि दिगमंडल मंडिय ।
घर्घरात घनतें अति धुक्कनि
भर्भरात अरि भजत सुनुक्कनि ।।[1]

सैन्य के चलने, दुंदुभियों के बजने, नगाडों पर चोट पडने और सेना के भागने का जो चित्र यहाँ कवि ने उपस्थित किया है उसका बहुत कुछ आधार भाव व लयानुकारी या प्रसगानुरूप वर्ण-योजना पर ही है। ध्वननशील वर्णों की योजना से भाव का चित्र उभर आता है।

रसौचित्य

आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा 'रसौचित्य' की कल्पना किये जाने में समीक्षक व सहृदय की दृष्टि ही प्रधान रही है। रसौचित्य पर विचार करते समय प्रश्न उठता है कि यदि काव्य के विभिन्न तत्त्व रस के मुखापेक्षी है तो रस किस का मुखापेक्षी है ? आचार्य क्षेमेन्द्र का उत्तर स्पष्ट है—रस अन्य काव्यागो का मुखापेक्षी है। वे रस को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नही मानते। कभी कभी ऐसा होता है कि रसाभिनिवेशी कवि रस का प्रकर्षपूर्ण निबन्धन तो कर लेता है परन्तु प्रवाह-पतित होकर इसका विचार नही कर पाता कि उसका प्रस्तुत रस-निबन्धन प्रकृत विषय-वस्तु के अनुरूप है या नही। काव्य की आत्मा रस है, रस अंगी है; सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, सर्वोपरि होते हुए भी औचित्य के अनुशासन से मुक्त नही। रसौचित्य से क्षेमेन्द्र का तात्पर्य केवल इतना ही है कि रस का पूर्ण परिपाक वस्तु, विषय, प्रसगादि के अनुरूप हो। क्षेमेन्द्र के ऐसा मानने से रस अगी से अग नही बन जाता, अंकुशित अवश्य हो जाता है। रीतिकालीन कविता मे रसौचित्य की स्थिति को स्पष्ट देखने के लिए कुछ रसो में उसके समायोग की चर्चा अपेक्षित ही होगी।

शृंगार रस (संयोगपक्ष)

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करे भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय।।[2]

सयोग की अवस्था का चित्र है यह। प्रिय से बात करने का अवसर ढूँढने के लिए नायिका नाना प्रकार के हावो का आश्रय लेती है। नायिका का सौंह करना, भौहों मे हँसना, मुरली लौटाने का वचन देना और फिर नट जाना (मुकर जाना) आदि सारी चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती है। समग्र रस-योजना प्रसंगानुरूप है।

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : पद्माकर ग्रन्थावली, पृ० ९
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० २११

पीतम दृग मींचत तिया पानी।परस-सुख पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नेकु न होति लखाइ ॥[1]

प्रियतम का नायिका के नेत्र बन्द करना, उन्हें जान लेने पर भी प्रिय-स्पर्श का अधिक सुख लेने के विचार से न जानना आदि शृंगार चेष्टाएँ शृंगार रस का उद्दीपन करने में सर्वथा समर्थ है।

पद्माकर ने तो प्रसंग की योजना ही ऐसी कर दी है कि कुछ कहते नहीं बनता—

मंडप ही में फिरै मण्डरात न जात कहूँ तजि नेह को औनो।
त्यों पदमाकर तोहि सराहत बात कहै जु कहूँ कछु कौनो।
ए वडिभागिनी तो सी तुँही बलि जो लखि रावरो रूप सलौनो।
व्याह ही में भए नाह लटू तब ह्वै है कहा जब होइगो गौनो ॥[2]

पद्माकर ने यहाँ अनुकूल नायक की योजना की है तथा नायिका के प्रति उसकी परम अनुरक्ति दिखाकर नायिका की रूप-माधुरी का प्रभाव एवं नायिका का सौभाग्यातिशय निरूपित किया है। सारी शृंगार-योजना नायक-नायिका के अनुराग के सर्वथा अनुरूप है।

किंकिनि नेवर के झनकारनि,
चारु पसारि महा रस जालहि।
काम कलोलनि मैं मतिराम,
कलानि निहाल कियौ नन्दलालहि।
स्वेद के बिन्दु लसैं तन मैं,
रति अन्त रही भरी अंक गोपालहि।
फूली मनो मुकताफल कुंजनि,
हेमलता लपटानी तमालहि ॥[3]

नायिका को हेमलता तथा नायक को तमाल वृक्ष कहकर तथा हेमलता को तमाल-वेष्टित दिखलाकर कवि ने मिलन की व्यंजना कर दी है। चित्र न पूर्वराग का है न मिलन का, परन्तु सुरतांत के प्रगाढ़ आवेष्टन का। संयत शब्दावली में शृंगार के संभोग-पक्ष का ऐसा चित्र सामान्यतः दुर्लभ ही है।

सेनापति द्वारा निरूपित एक अन्य चित्र द्रष्टव्य है—

फूलन सौं बाल की बनाइ गुही बेनी लाल,
भाल दीनी बैंदी मृगमद की असित है।

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १९६
२ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : पद्माकर ग्रन्थावली, पृ० १४२
३ हरदयालुसिंह मतिराम-मकरंद पृ० १४०

अग अग भूषन बनाइ ब्रज-भूषन जू,
बीरी निज करकै खवाई अति हित है।
ह्वै के रस बस जब दीबे कौ महाउर के,
सेनापति स्याम गह्यौ चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सौ,
कही प्रान पति यह अति अनुचित है ॥[1]

नवानुरागवती नवोढा स्वकीया नायिका और अनुकूल नायक का यह चित्र है। नायक ने फूलो की माला स्वय बनाई तथा नायिका की चोटी उससे सजाई और गूँथी भी। नायिका के भाल मे कस्तूरी की बिंदिया भी लगा दी। नायिका के सब अंगो को आभूषणो से स्वय अलकृत किया। पान की 'बीरी' अपने ही हाथो से खिलाई और अन्त मे पैरो मे महावर लगाने के लिए ज्योही नायक ने नायिका के चरण ग्रहण किए त्योंही व्रीडा से नायिका ने उसे वर्जित किया, उसके हाथ पकड लिये। उसके हाथो को चूमकर कहा—'प्राणपति यह अनुचित है। यह आप को शोभा नही देता।' भारतीय नारी के स्वभाव का चित्र तो है ही। अनुकूल नायक तथा सौभाग्यातिशायिनी नायिका का भी चित्र मधुर है। कवि ने जिस प्रकार प्रसग उठाया व चित्रित किया है उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण योजना रसानुकूल ही है।

वियोगपक्ष

(१) हिमाशु सूर सो लगै सो बात वज्र सो बहै।
दिशा लगै कृसानु ज्यों विलेप अग को दहै।
बिसेस काल राति सो कराल राति मानिये।
वियोग सीय को न, काल लोकहार जानिये ॥[2]

प्राय कवियो ने वियोग-पक्ष को अकित करते समय नायिकाओ की विरह-व्यथा पर ही विशेष ध्यान दिया है। नायक की विरह-व्याकुलता की ओर बहुत कम कवियों ने ध्यान दिया है। वियोग-वर्णन में नायक-पक्ष सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है।

केशव ने उपर्युक्त छद मे सीता के वियोग मे व्याकुल, विह्वल रामचन्द्रजी की अवस्था का चित्र अकित किया है। रामचद्रजी को चद्र जलाता है, पवन वज्र-सा लगता है। दिशाएँ कृशानु की भाँति तापकारी होती है, चदनादि का लेप अग को अधिक जलाता है। कालरात्रि के समान कराल यह वियोग ससार-सहारक काल ही है। उक्त स्थिति मे विप्रलम्भ शृगार सुकरता से व्यंजित हो गया है।

१ उमाशकर शुक्ल : कवित्त रत्नाकर (भूमिका), पृ० ११
२ लाला भगवानदीन रामचंद्रिका (पूर्वार्द्ध) पृ० १९६

(२) कहा कहौं वाकी दसा हरि प्रानन के ईस।
विरह-ज्वाल जरिबौ लखै मरिबो भयो असीस ॥[1]

कागद पर लिखत न बनत 'कहत सँदेस लजात।
कहि है सब तेरो हियो मेरे हिय की बात ॥'[2]

ऊपर दिए गये दो दोहो में बिहारी ने ऊहा का आश्रय न लेकर सरल किन्तु प्रभावपूर्ण पदावली मे नायिका की विरहावस्था का चित्र प्रस्तुत किया है। नायिका की दशा का वर्णन किन शब्दो मे किया जाय ? विरह की ज्वाला मे जलती-तडपती उसके लिए तो मृत्यु आशीर्वाद-समान होगी। दूसरे दोहे मे भी नपे-तुले शब्दो मे 'विरह-व्यथा प्रकट की गई है। उसकी व्यथा पत्र मे लिखी नही जाती। मौखिक सदेश भिजवाने मे भी बडा सकोच होता है। परस्पर के अत करण ही एक-दूसरे की बात कह देते है। इस प्रकार बिहारी के इन दोहो मे विप्रलभ शृगार के अनुकूल परिस्थितियो की योजना होने के कारण विप्रलम्भ शृगार व्यवस्थित रूप से व्यजित हो सका है।

(३) लाज छुटी गेहौ छुट्यो, सुख सो छुट्यो सनेह।
सखि कहियो वा निठुर सो रही, छूटिबे देह ॥[3]

जे अगनि पिय सग में बरखत हुते पियूख।
ते बीछू के डक से, भये मयक मयूख ॥[4]

मतिराम ने किसी प्रकार का सदेश न कहलवाकर केवल इतना ही कहलवा दिया कि प्रिय के विरह मे अब नायिका की मृत्यु होना ही शेष है। दूसरे दोहे मे मतिराम ने पूर्वानुभूत सुख का स्मरण कराकर सयोग एवं वियोग अवस्था का साम्य-वैषम्य निरूपित कर और विरहजन्य दु.ख वर्णित कर शृंगार के वियोग-पक्ष का सुन्दर नियोजन किया है।

सोएँ न सोयबो, जागें न जाग, अनोखियै लाग सु आँखिन लागी।
देखत फूल पै भूल भरी यह, सूल रहै नित ही चित जागी।
चेटक जान-सजीवनि-मूरति रूप-अनूप महारस पागी।
कौन बियोग-दसा घनआनन्द, मो मति-सग रहै अनि खागी ॥[5]

घनानंद की नायिका विरहजनित विकलता के कारण न सो पाती है न उससे जागते ही बनता है। यह अनोखी आँख लगी है। वह उन्मनी-सी बनी घूमती रहती है। सम्पूर्ण प्रसग-नियोजन रसानुकूल ही है।

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १७४
२ वही, पृ० १७५
३ हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरद, पृ० २१२
४. वही, पृ० २०७
५. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घनआनन्द कवित्त, पृ० ३७

सॉसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनकी तनुता करि।
'देव' जियै मिलिबेई की आस कि आसहू पास प्रकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥[१]

इस छन्द के काव्य-सौन्दर्य की समीक्षा करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते है कि "···इसमे संदेह नहीं कि उनके पूर्वराग और विशेषकर खण्डिता के वर्णन अपूर्व है, परन्तु विरह की गम्भीर अवस्थाओं तथा मनोदशाओं का अंकन करने मे भी वे उतने ही सफल हो पाए हैं—यह कवि पीड़ा की गहरी अनुभूतियों से परिचित था, इसलिए इसे अतिशयोक्ति और ऊहा पर ही निर्भर रहना पड़ा।"[२]

यहाँ उद्धृत छन्द मे भाव की सरसता एव अतिशयोक्ति की शक्ति दोनो के सहयोग से एक ऐसी तीव्रता आ गई है जो विरहजन्य कृशता की व्यंजना करने मे बडी सफल हुई है। देव के विरह की गम्भीरता ताप पर ही समाप्त नही होती। विरह की विविध अवस्थाओ का यहा तक कि मरण तक की अवस्था का भी उन्होने कौशलपूर्वक व बडे प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है। "सॉसन ही सो समीर गयो···" —इस उद्धरण में मरणावस्था का चित्र अंकित किया गया है। इस छद मे भाव-सौदर्य आदि की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् एवं देव-काव्य-मर्मज्ञ प० कृष्ण विहारी मिश्र कहते है कि "मनुष्य शरीर पंच-तत्त्व (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) से निर्मित है। देवजी कहते हैं कि मुख घुमाकर ईषत् हास्यपूर्वक जिस दिन से हरिजू ने हृदय हर लिया है, उस दिन से सम्मिलन मात्र की आशा से जीवन बना है (नही तो शरीर का ह्रास तो खूब ही हुआ है)। उसॉसे लेते-लेते वायु का विनाश हो चुका है। अविरल अश्रु-प्रवाह से जल भी नही रहा है। तेज भी अपने गुण समेत विदा हो चुका है। शरीर की कृशता और हल्कापन देखकर जान पड़ता है कि पृथ्वी का अंश भी निकल गया और शून्य आकाश चारों ओर भर रहा है, अर्थात् नायिका विरहवश नितात कृशागी हो गई है। अश्रु-प्रवाह और दीर्घोच्छ्वास अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गये है। अब उनका भी अभाव है। न नायिका साँसें लेती है और न नेत्रो से आँसू ही बहते हैं। उसको अपने चारो ओर शून्य आकाश दिखाई पडता है। यह सब होने पर भी प्राण-पखेरू केवल इसी आशा से अभी नही उडे हैं कि सभव है, प्रियतम से मिलन हो जाय, नही तो निस्तेज हो चुकने पर भी जीवन शेष कैसे रहता?"[३]

वीररस

रीतिकाल के बहुत से कवियों को राज्याश्रय प्राप्त था। परिणामस्वरूप, कुछ ऐसी रचनाएँ भी रची गई जिनमें आश्रयदाता के पराक्रम, बल, तेज, दान इत्यादि का

---

१ हृदयालुसिंह, देवदर्शन, पृ० ९६
२ डॉ० नगेन्द्र : देव और उनकी कविता, पृ० १०८-१०९
३. वही, पृ० ११०

अतिरंजनापूर्ण वर्णन पाया जाता है। ये स्तुतियाँ राज-स्तुतियाँ मात्र है, इनमे सच्चे वीरत्व के दर्शन बहुत कम होते है। केवल भूषण ही एक ऐसा कवि था जिसने वीर रस को अपना प्रमुख प्रतिपाद्य माना और वीर रसात्मक रचनाएँ प्रस्तुत की। युगीन परम्परा-प्रभाव में आकर भूषण ने भी अलंकार-ग्रंथ लिखा है परन्तु वह उनका प्रकृत क्षेत्र नही है। भूषण का प्रमुख क्षेत्र तो वीर रस है। उनकी 'शिवा बावनी' और 'छत्र साल दशक' रचनाएँ इस युग की प्रमुख वीर रसात्मक कृतियाँ है। इनके अतिरिक्त मतिराम ने राव 'भावसिंह की वीरता' में और पद्माकर ने 'हिम्मतबहादुर बिरुदावली' नामक कृति में वीर रस का नियोजन किया है। केशव की रामचंद्रिका मे कुछ स्थानो पर वीर रसपूर्ण छन्दो के उदाहरण अवश्य मिलते है। रामाश्वमेध के प्रसंग पर लव-कुश तथा भरतादि के बीच युद्ध हो जाता है। लव युद्धभूमि मे घायल हो गया है। सीताजी बडी व्याकुल हैं। उस अवसर पर कुश की यह उक्ति रसानुकूल है—

रिपुहि मारि, सघारि दल जमतें लेहुँ छँडाइ।
लवहि मिलैं हौं देखिहौं माता तेरे पाइ॥[1]

यहाँ कुश की प्रतिज्ञाबद्ध स्वभावोक्ति है। सीता माता को चिंतामुक्त करने और अपने क्षात्र-तेज का परिचय देने के लिए वह प्रतिज्ञा करता है कि मै शत्रुओ का सहार कर, लव को यमराज के पंजे से भी छुडा कर साथ मे ले आऊँगा तभी आप के चरण छूऊँगा।

क्षत्रियोचित इस वीर उक्ति मे बालक कुश का वीरत्व एवं दर्प समुचित रीति से प्रकट हुआ है।

सिर कटहिँ सिर कटि धर कटहिँ धर कटि सुहम कटि जाते हैं।
इमि एक-एकहि बार मे कटि भट भए बिन गात हैं।
इत सुभट भूप अनूप गिरि के उकढि आए ताउ सों।
उत सुभट अर्जुन के बिकट फिरि परे अति चाउ सों॥[2]

कुश ने लड़ने की प्रतिज्ञा की थी। पद्माकर ने दो दलों के सैनिको के भिड जाने व लडने का वर्णन किया है। कवि ने अनूप गिरि और अर्जुनसिह के सैनिको के परस्पर युद्ध का शब्दचित्र अंकित किया है। टवर्ग की बारबार आवृत्ति तथा धड, सिर, हयादि के कटने का वर्णन वीर रस का पोषक है।

भूषण ने सैनिको के भिड जाने के बाद की स्थिति का चित्र अंकित किया है। परस्पर अस्त्र-शस्त्रो का प्रहार तथा तीर तलवार, बन्दूक—गोले आदि के चलने का तादृश चित्र कवि ने अपनी ओजस्वी वाणी मे अंकित किया है। छत्रसाल बुंदेला की वीरता इस छन्द मे अंकित की गई है। जिस प्रकार सूर्य की किरणे अन्धकार के जाल को नष्ट कर देती है वैसे ही उनकी तलवार हाथियों के समूह को नष्ट कर देती है।

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र . केशव ग्रन्थावली (भाग २), पृ० ५०४
२ विश्वनाथप्रसाद मिश्र · पद्माकर ग्रन्थावली पृ० २५

ये तलवारें वैरियो के कठ में नागिनो की भाँति लिपट जाती है, मुड काटकाट कर मुण्ड-मालाएँ अर्पित कर शिवजी को रिझाती है, शत्रु-सैन्य-रूपी कटीले केतकी वन को काट-काटकर वह कालिका-सी किलक-किलक कर काल को भोजन कराती है। यथा —

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै भानु कैसी,
फारै तम तोम से गयदन के जाल को।
लागति लपटि कठ वैरिन के नागिनि सी,
रुद्रहि रिझावै दै दै मुण्डन के माल को।
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौं बखान करौ तेरी करवाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि
कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल को ॥[1]

यहाँ पर परुष वर्णो की योजना रसानुवर्ती है। पूर्णोपमा का भी चमत्कार द्रष्टव्य है।

हास्य रस

रीति-काव्य मे हास्य की विशेष रचना नही हुई है। वहुत खोजने पर यत्र-तत्र कुछ उदाहरण मिल जाएँगे। केशव की रामचद्रिका से उदाहरण देखिए :

भगी देखिकै सकि लकेस-बाला। दुरी दौरि मन्दोदरी चित्रसाला ॥
तहाँ दौरिगो बालि को पूत फूल्यौ। सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यौ ॥
भली कै निहारी सबै चित्र सारी। लहै सुन्दरी क्यों दरी को विहारी ॥
तजै देखि कै चित्र की सृष्टि धन्या। हँसी एक ताको तही देव कन्या ॥[2]

रावण की चित्रशाला मे अगद प्रविष्ट हुआ। चित्रशाला मे स्थित सुन्दर पुत्तलिकाओ को साक्षात् सुन्दरियाँ समझकर वह क्रमश: एक-एक को पकडता है और उन्हें निर्जीव पुतलियाँ पाकर छोड देता है। वहाँ उसके इस कार्य को देखकर छिपी हुई एक देवकन्या हँस पडी। उसने उसे पकड लिया। देवकन्या ने मन्दोदरी का पता बता दिया।

अंगद की वानर-प्रकृति का निरूपण कर हास्य उत्पन्न करने मे यह छंद सफल है। बन्दर स्वभाव से ही चंचल होता है और जो वस्तु हाथ मे आ जावे उसे तोड़-फोडकर फेंकने में अभ्यस्त भी।

करुण रस

लक्ष्मण राम जही अवलोक्यो,
नैनन ते न रह्यो जल रोक्यो।

---

१. मिश्रबधु : भूषण ग्रन्थावली, पृ० १५७
२ लाला भगवानदीन : रामचद्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० ३३८-३६

बारक लक्ष्मण मोहि बिलोकौ,
मोकहँ प्रान चले तजि रोकौ।
हौ सुमरौ गुन केतिक तेरे,
सोदर पुत्र सहायक मेरे।
बोलि उठौ प्रभु कौ पन पारौ,
नातरु होत है मो मुख कारो ॥[1]

राम को कभी विचलित होते नहीं देखा गया। किन्तु जब लक्ष्मण शक्ति के आघात से मूर्च्छित हो जाते हैं, तब राम का हृदय फूट-फूटकर रोने लग जाता है हे लक्ष्मण! एक बार तो मुँह खोलो! मै तुम्हारे किन गुणो को याद करूँ? तुम मेरे भाई, पुत्र, सहायक सभी कुछ हो। तुम बोलो, नहीं तो मेरा मुँह काला हो जाएगा।

केशव ने इस छद मे करुण रस का अत्यन्त सुन्दर, निर्दोष उदाहरण प्रस्तुत किया है।

कहे जु बचन वियोगिनी विरह-विकल बिललाई।
किये न को अँसुवा-सहित सुआ ति बोल सुनाई ॥[2]

कुछ विद्वानो ने बिहारी के इस दोहे में करुण रस के स्थान पर वियोग-शृंगार की दशम दशा मानी है, परन्तु वस्तुत यह करुण रस का ही उदाहरण है। यह नायिका की सखी की उक्ति है। नायिका तो विरह मे प्रिय के वियोग मे तड़प-तड़प कर मर चुकी है। घर के पालित शुक ने नायिका के मरण-पूर्व कहे गये हृदयद्रावी शब्द सुने थे। नायक के आने पर सुग्गे ने उन सभी वाक्यो को दुहरा दिया, जो नायिका मरते समय बोली थी। सुग्गे के वचन सुनकर कोई भी तो वहाँ ऐसा नही था, जो अपने आँसू रोक सका हो। यहाँ शब्दो का किंचिन्मात्र भी अपव्यय नहीं हुआ है, करुण रस बड़े ही मार्मिक ढग से ध्वनित हो गया है।

रौद्र रस

करि आदित्य अदृष्ट नष्ट जम करौं अष्ट वसु।
रुद्रन बोरि समुद्र करौं गधर्व सर्व पसु।
बलित अबेर कुबेर बलिहि गहि देउँ इन्द्र अब।
विद्याधरन अविद्य करौं बिन सिद्धि सिद्ध सब।
निजु होहि दासि दिति की अदिति, अनिल अनल मिटि जाय जल
सुनि सूरज! सूरज उवतहीं, करौं असुर संसार बल ॥[3]

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम प्रथम तो विचलित हो जाते है, किन्तु बाद में कुछ ही क्षणोपरान्त वे दृढ़ निश्चय कर अपनी प्रतिज्ञा घोषित कर देते है मैं

१. लाला भगवानदीन रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० ३१०
२ विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी, पृ० १७५
३. लाला भगवानदीन · रामचद्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० ३१२

आदित्य को नष्ट करूँगा; जमराज को भी नष्ट कर दूँगा, आठो वसुओ का सर्वनाश कर दूँगा, इन्द्र, कुबेर, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नरादि को मिटा दूँगा, रुद्र को समुद्र में डुबो दूँगा। पृथ्वी, पवन, अग्नि, जल सभी तत्त्वो का नाश करूँगा। प्रलय मचा दूँगा। सूर्योदय होते ही सारे ससार मे से असुरों का बल सहार करूँगा।

राम की यह प्रतिज्ञा रौद्र रस का परिपाक प्रस्तुत करती है। कठोर वर्ण, द्वित्व का प्रयोग वर्ण-छप्पय जैसे छद का प्रयोग रौद्र रस का बहुत ही उपकारक है। गति, लय का उतार-चढाव भी अनुकूल है।

इसी प्रकार सेनापति ने निम्नलिखित छंद में परशुराम के रौद्र रूप का चित्र समुपस्थित किया है—

भीज्यौ है रुधिर भार, भीम, घनघोर धार
जाकौ सतकोटि हू तै कठिन कुठार है।
छत्रियन मारि कै निच्छत्रियन करी है छिति,
बार इकईस तेज पुज कौ अधार है।
सेनापति कहत कहाँ है रघुवीर कहौ ?
छोह भर्यो लोह करिबे कौ निरधार है।
परत पगनि दसरथ कौ न गनि आयौ,
अगनि-सरूप जमदगनि-कुमार है ॥[1]

धनुर्भंग के समाचार सुनकर कुपित परशुराम का यह चित्र है। रौद्र रस के सभी अवयव यहाँ उपस्थित है। अग्नि के समान यह जमदग्नि कुमार क्रोध मे इस बात का भी विचार नही करते कि दशरथ उनके पैरों मे गिरकर क्षमा माँग रहे है।

भयानक रस

मत्त दंति अमत्त ह्वै गये देखि देखि न गज्जहीं।
ठौर ठौर सुदेस 'केसव' दुदुभी नहिं बज्जहीं।
डारि डारि हथ्यार केसव जीव लै लै भज्जहीं।
काटि कै तन त्रान एकै नारि भेपन सज्जहीं ॥[2]

प्रस्तुत पंक्तियो मे परशुराम के रुद्र-रूप का प्रभाव निरूपित किया गया है। दूर से ही उन्हे आते देखकर मदमत्त हाथी मदहीन हो गए; उनका मद उतर गया। नगाडो और दुदुभी-वाद्यो का बजना बन्द हो गया। सब सैनिक हथियार छोड-छाड कर अपने-अपने प्राण बचाने के लिए भागने लगे, कुछ सैनिक तो अपने कवचादि उतार कर नारी-वेश धारण करने मे प्रवृत्त हो गये। इस प्रकार इन पंक्तियों मे भय की सफल व्यजना हुई है।

---

१. उमाशकर शुक्ल कवित्त रत्नाकर (भूमिका), पृ० १७
२ लाला भगवानदीन रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० १०५

सेनापति ने निम्नलिखित छंद में धनुष्य टूटने से उत्पन्न भयाक्रान्तता का निरूपण किया है—

हहरि गयौ हरि हिए, धधकि धीरत्तन मुक्किय।
ध्रुव नरिंद थरहर्‌यौ, मेरु धरनी धसि धुक्किय।
अख्खि चिख्खि नहि सकइ सेस नख्खिन लग्गित तल।
सेनापति जय सद्द, सिद्ध उच्चरत बुद्धि बल॥
उद्दण्ड चण्ड भुजदण्ड भरि, धनुष राम करषत प्रबल।
टुट्टिय पिनाक निर्घात सुनि, लुट्टिय दिग्गंत दिग्गज विकल॥[1]

धनुष्य के ऐंचने की टंकार को सुनकर और उसके भयावह परिणामों की कल्पना कर विष्णु अपने स्थान पर काँप उठे; ध्रुव विचलित हो उठा: धीरजनों की धीरता मचल कर रह गई; पृथ्वी शेषनाग के सिर से लुढ़क गई; दिग्गज लड़खड़ाने लगे, मेरु धरती में धँस गया।

धनुर्भंग का प्रसंग ही भयानक रस के प्रणयन की अपूर्व सामग्री से पूर्णत गर्भित है।

बीभत्स रस

भूतल के सब भूपन को मद भोजन तौ बहु भाँति कियोई।
मोद सो तारकनन्द को मेद पछ्यावरि पान सिरायो हियोई।
खीर षडानन को मद 'केसव' सो पल में करि पान लियोई।
राम तिहारेइ कंठ को सोनित पान को चाहै कुठार पियोई॥[2]

राजाओं के मद का भोजन, तारकासुर के मेद का पछ्यावर, षडानन कार्तिकेय के मद का खीर-पान आदि बीभत्स का परिकर प्रस्तुत करते है। राम के शोणित को पान करने की इच्छा भी बड़ी जुगुप्साकर है। सब मिलाकर उक्त प्रसंग-योजना बीभत्स रस को व्यंजित करने वाली है।

अद्‌भुत रस

'केसोदास' मृगज-बछेरू चोषै बाघनीन,
चाटत सुरभि बाघबालकबदन है।
सिंहन की सटा ऐंचैं कलभ करनि करि,
सिंहन के आसन गयंद को रदन है।
फणी के फणन पर नाचत मुदित मोर,
क्रोध न विरोध जहाँ मद न मदन है।
बानर फिरत डोरे डोरे अंध तापसनि,
सिव को समाज कैधौं रिषि को सदन है॥[3]

१. उमाशंकर शुक्ल : कवित्त रत्नाकर (भूमिका), पृ० १७
२. लाला भगवानदीन : रामचंद्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० ११७
३. वही, पृ० ३६५

यहाँ भारद्वाज मुनि के आश्रम की अद्भुत शांति तथा विस्मय प्रेरक वातावरण का केशव ने अंकन किया है। आश्रम के वातावरण की अद्भुतता यह है कि यहाँ सभी प्राणी परस्पर निर्वैर होकर रह रहे है, बाघिन मृगशिशु को चाटती है; गाय बाघ के बच्चे का मुँह चूमती है; हाथी के बच्चे सिंह की सटाएँ खींचते है, सिंह हाथी के दाँतों पर आसन जमाए बैठा है, सर्प के फणों पर मयूर नाचता है और बंदर अंधे तपस्वियों को पकड़ कर रास्ता पार कराते हैं। सभी प्राणी अपनी प्राकृतिक शत्रुता-दुष्टता छोडकर शांतिपूर्वक रह रहे है। उपर्युक्त तथ्यों को पढकर पाठक अद्भुत तत्त्व की अनुभूति का सुख लेता है।

शांत रस

> हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाऊँ ठाऊँ कुठाउँ बिलैहे।
> तात न मात न पुत्र न मित्र न वित्त न तीय कहूँ सँग रैहें।
> केशव काम के राम बिसारत और निकाम रे काम न ऐहे।
> चेति रे चेति अजौं चित अन्तर अंतक लोक अकेलोइ जैहे।।[1]

संसार की असारता, क्षणिकता का चित्र उपस्थित कर केशव ने यहाँ निर्वेद का संचार किया है। इस दुनिया को छोड़कर जब जीव जायेगा तब उसके साथ कोई चीज नहीं जा सकेगी। हाथी, साथी, घोडे, नौकर, चाकर, स्थान, महल, गाँव, चौपारे, पुत्र, मित्र, पत्नी, परिवार, माता, पिता, धन, आदि सारी चीजे व सारे सम्बन्धी यहीं रह जायेंगे। कोई कहीं किसी के साथ नही जा सकता। हे चित्त इसीलिए चेत और निकम्मी बाते छोड़कर भगवान का नाम ले। इस दृष्टि से केशवदास ने 'शांत रस' की निष्पत्ति करने वाले सभी आवश्यक प्रसंग योजित किए हैं।

> जम-करि-मुँह-तरहरि परयौ इहि धर हरि चित लाउ।
> विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ।।[2]

इसी प्रकार यम की प्रबल दाढों से छूटने का कोई साधन न देखकर बिहारी नर-हरि के गुण गाने का उपदेश 'जीव' को देते हैं।

रस-सांकर्य का औचित्य

आचार्यों ने रसों का परस्पर शत्रु-मित्र भाव बताया है। दो मित्र-रस मिल-कर चल सकते है किन्तु दो शत्रु-रस या विरोधी रसों की एक साथ योजना नहीं की जा सकती। दो रसों के एक साथ आ जाने से उनमें एक प्रमुख व दूसरा गौण हो जाता है। इसे रस-सांकर्य कहते है। किन्तु रस-सांकर्य प्रयोक्ता की यदृच्छा के वशवर्ती नहीं होता। उसे भी औचित्य का अनुशासन स्वीकार कर चलना पड़ता है।

वीर और शांत के सांकर्य का औचित्य

> बालक वृद्ध कह्यौ तुम काकौं। देहनि कौं किधौं जीव प्रभा कौं।
> है जड़ देह कहै सब कोई। जीव सो बालक वृद्ध न होई।।

---

१ लाला भगवानदीन : रामचंद्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० २६३

२ विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी, पृ० १८

जीव जर न मर नहिं छीजै । ताकहुँ सौक कहा अब कीजै ।
जीवहि बिप्र न क्षत्रिय जानौ । केवल ब्रह्म हिये महँ आनौ ।।
जौ तुम देव हमै कछु सिक्षा । तो हम देहिँ तुम्हैं हय भिक्षा ।
चित्त बिचार परै सोइ कीजै । दोष कछू न हमैं अब दीजै ।'[१]

केशव ने यहाँ शात की पृष्ठभूमि पर वीर रस का प्रकर्ष दिखाया है । वीर रस मुख्य और शात रस गौण है । अथवा शात रस का आधार लेकर वीर रस को प्रस्तुत किया गया है । सामान्यत वीर और शांत रस परस्पर विरोधी समझे जाते है परन्तु प्रयोग कौशल से इनका यह विरोध उपशमित ही नही होता वे परस्पर सपोषक भी बन जाते है । प्रसग इस प्रकार है कि रामाश्वमेध के प्रसग पर भरत ने लव-कुश को छोटे बालक समझकर युद्ध करना उचित नही समझा और घोडा दे देने के लिए समझाया । किन्तु कुश ने प्रत्युत्तर मे दर्शन का आश्रय लेकर यह कहा कि न तो जीव बालक होता है न वृद्ध न युवा । न जीव स्त्री है न पुरुष । देह तो जड है । जीव चैतन्य है उसे न कोई मारता है न काटता है, न क्षीण करता है । ब्रह्म न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय न वैश्य न शूद्र । अत यह चर्चा छोडकर युद्ध होने दो । कुश का यह सारा ब्रह्मज्ञान तो माध्यम या उपलक्षण मात्र है । व्यंग्य यह है कि तुम बालक वृद्ध का विचार किये बिना सीधे-सीधे युद्ध होने दो । पद्माकर ने शांत को वीर रस की पृष्ठभूमि मे विकसित किया है । यहाँ शात मुख्य और वीर गौण है । यथा—

जैसे तैं न मो कों कहूँ नेकहूँ डरात हुतो
ऐसे अब हौंहूँ तोहि नेकहूँ न डरिहौं ।
कहै पदमाकर प्रचंड जो परैगो तौ,
उमंड करि तोसो भुजदण्ड ठोंकि लरिहौं ।
चल्यो चल चल्यो चल बिचल न बीच ही तें
कीच बीच नीच तो कुटुंब कों कचरिहौं ।
ए रे दगादार मेरे पातक अपार तोहि
गंगा के कछार में पछारि छार करिहौं ।।[२]

पद्माकर ने भी युद्ध ठान लिया है किन्तु अपने ही पातकों से । पातकी और उद्दण्ड मन तथा इन्द्रियाँ बार-बार अकुशहीन हो जाती है और अनेक कुचाले चलती रहती हैं । मन ने जीवन भर असंख्य उपद्रव किये है, अनेक नाच नचाये है । अब उसे वश मे करने के लिए कवि अनेकविध धमकियाँ देता है । गंगा की कछारों मे बार-बार उसे पछाड कर कुराह से सच्ची राह पर लाया जाना अनिवार्य है ।

यहाँ वीर आधार है और शांत आधेय । वीर की पृष्ठभूमि मे शात का पल्लवन हुआ है ।

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र . केशव ग्रन्थावली (भाग २), पृ० ४१०
२ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : पद्माकर ग्रन्थावली, पृ० १९८

अद्भुत और शृंगार के साकर्य का औचित्य :

पुनि गर्भ सयोगी रति रस भोगी जग जन लीन कहावै।
गुणि जगजन लीना नगर प्रबीना अति पति को मन भावै।
अति पतिहि रमावै चित्त भ्रमावै सौतिन प्रेम बढावै।
अवयौ दिन रातिन अद्भुत भातिन कविकुल कीरति गावै।'[१]

फुलवारी के इस वर्णन मे केशव का पाण्डित्य द्रष्टव्य है। प्रत्येक शब्द प्राय- श्लेषार्थ से सम्पन्न है। प्रयुक्त सभी विशेषण एक ओर फुलवारी पर तो दूसरी ओर दशरथ की रानियो पर लागू होता है। शृगार की सहायता से अद्भुत का प्रकर्ष होना दिखाया गया है। वाटिका का अद्भुत सौन्दर्य और उसका मादक प्रभाव लक्षित कराने के लिए कवि ने विरोध व श्लेष अलकारो का आश्रय लिया है। अर्थ की गम्भीरता, रोचकता द्रष्टव्य है। प्रास भी ध्यान आकृष्ट करता है।

वीर और शृगार के साकर्य का औचित्य .

पहुँचति डटि रन-सुभट लौ रोकि सकै सब नाहि।
लाखन हू की भीर मे, आँखि उहीं चलि जाहि॥[२]

यहाँ शृगार को उद्दीप्त करने के लिए वीरत्व आ पहुँचा है। नायिका की दृष्टि को सुभट कहकर नेत्रो की अप्रतिरूद्ध गति, तीखा प्रवेग, पैनापन व तीव्र प्रभाव लक्षित कराया गया है। शृगार प्रमुख व वीर गौण है।

क्रियौचित्य

क्रिया का उचित प्रयोग क्रियौचित्य कहलाता है। काव्य-वस्तु या भाव की तीव्रतम अभिव्यक्ति में कभी-कभी क्रिया के विशिष्ट प्रयोग से अपूर्व सहायता मिलती है। सस्कृत मे क्रियाएँ आत्मनेपद व परस्मैपद—दो रूपों मे प्रयुक्त की जाती है। वाच्य की भिन्नता भी क्रिया के प्रयोग का सौन्दर्य बढाती है। कर्तृवाच्य का प्रयोग करने की अपेक्षा कर्मवाच्य मे क्रिया-प्रयोग करने पर व्यजना मे सघनता आ जाती है। आज्ञा, अनादर, विधि निषेध इत्यादि की व्यजना मे क्रिया का भिन्न-भिन्न कालो मे प्रयोग किया जाता है, और उनसे काव्यीय अर्थ चमत्कृत हो उठता है। सस्कृत मे रघुवश, शिशुपाल वधादि में क्रियौचित्य का सुन्दर प्रयोग प्राप्त होता है।

रीतिकाल के कवियो मे स्वच्छन्द काव्यधारा क कवियों मे मुख्यत घनानन्द मे इसके अच्छे उदाहरण मिलते है। अन्य कवियो मे बिहारी, देव, मतिराम उल्लेख- नीय है। अत. रीतिकालीन कविता के कुछ उद्धरणों के आधार पर क्रियौचित्य की चर्चा उचित ही मानी जाएगी।

---

१ लाला भगवानदीन रामचंद्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० १५
२ विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी, पृ० १९८

यौं घनआनन्द रैनि दिना न बितीतत,
जानियै कैसे बिताऊँ ?[१]
रीझ बिलोएई डारति है हिय,
मोहति टोहति प्यारी अकोरैं ॥[२]

घनानन्द के प्रथम उदाहरण में कर्तृवाच्य का प्रयोग प्रगट करता है कि दिन सहज गति से बीत नहीं रहे हैं परन्तु कष्ट से बिताए जा रहे हैं। दिन बिताए नहीं बीतते। बड़ी विवशता है। यह विवशता 'न बितीतत' क्रिया-प्रयोग से व्यंजित हो पाती है।

दूसरे उदाहरण मे प्रयुक्त क्रिया न केवल क्रिया बिम्ब ही उपस्थित करती है, अपितु मन की सम्पूर्ण विकलता को रूपायित कर देती है। हृदय के मथित हो जाने का ऐन्द्रिक बोध कराने मे यह क्रिया-योजना सफल है। इसी प्रकार क्रियौचित्य का उदाहरण बिहारी के काव्य मे भी दर्शनीय है :

रँगी सुरत-रँग, पिय-हियैं, लगी जगी सब राति।
पैंड पैंड पर ठठुकि कै ऐंड भरी ऐंडाति ॥[३]

प्रेम व रूप-गर्विता नायिका की सुरतांत-प्रसन्नता, सौभाग्यातिशय एवं उसकी ऐंठ आदि की व्यंजना 'ऐंडाति' क्रिया द्वारा इतनी सहज रूप में हो जाती है कि पूरा चित्र ही उभर आता है।

मतिराम के इस छन्द मे भी क्रिया-प्रयोग का चमत्कार द्रष्टव्य है—

दूसरे की बात सुनि परत न ऐसी जहाँ,
कोकिल कपोतनि की धुनि सरसाति है।
छाइ रहे द्रुम बहुबेलिन सो 'मतिराम',
अलि कुल कलित अँध्यारी अधिकाति है।
नखत से फूले है सुफूलनि के पुंज बन—
कुंजन में होत मनो दिन ही मे राति है।
ता बन की बाट कोऊ संग न सहेली कहि,
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है ॥[४]

इस छन्द के काव्य-सौन्दर्य पर पं० कृष्ण बिहारी मिश्र मुग्ध है।[५] 'सरसाति' क्रिया का प्रयोग अत्यन्त आकर्षक है। वचन चतुर नायक की इस उक्ति में संकेत स्थल का पूरा-पूरा विवरण है। नायिका को उस स्थान की एकांतता, निर्जनता, रम्यता

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घन आनन्द कवित्त, पृ० ८७
२. वही, पृ० १४५
३. वही, बिहारी, पृ० २०८
४. हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरन्द, पृ० १३३
५. पं० कृष्णबिहारी मिश्र : मतिराम ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० १४०

मिलन-स्थान के लिए सर्वाधिक उपयुक्तता का बोध कराने के लिए कवि ने विवक्षित वाच्य-ध्वनि का प्रयोग किया है।

देव ने निम्न पंक्तियों में अनुरूप एवं सटीक क्रियाओं का प्रयोग किया है—

बैरागिन की धौं अनुरागिन सोहागिन तू,
'देव' बड़भागिन लजाति औ लरति क्यो ?
सोवति जगति अरसाति हरखाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति डरति क्यो ?
चौंकति चकति उचकति औ बकति
बिथकति औ थकति ध्यान धीरज धरति क्यो ?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति साह,
चरज सराहि आह चरम मरति क्यो ?[1]

विरह जनित विभ्रम और तदगीभूत अन्य चेष्टाओं व क्रियाओं का बोध विभिन्न क्रियाओ के प्रयोग द्वारा कवि ने कराया है। विरहावस्था के उन्माद का चित्र उपस्थित करने मे क्रियाओं की यह बौछार अपूर्व सहयोग प्रदान करती है।

कारकौचित्य

कारक का उचित प्रयोग कारकौचित्य कहलाता है। कारक-प्रयोग से उक्ति का सौन्दर्य बढाना, उसमे विशेष चमक पैदा कर देना, अर्थ की व्यंजना मे तीव्रता ला देना अथवा भाव को अधिक तीक्ष्ण व प्रभावशाली रूप मे प्रकट कर देना कारकौचित्य माना जाता है। संस्कृत में इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं जहाँ भाव के तीव्र बोध मे एकमात्र कारक ही कारणभूत पाया जाता है। नीचे दिए गए श्लोक मे चतुर्थी एक वचन का प्रयोग द्रष्टव्य है—

दिङ्मातंगघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते,
सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाचिताः पश्यत।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरम् ? रामाय तस्मै नम
यस्मादाविरभूत्कथाऽद्भुतमिदं यत्रैव चास्तगतम्॥[2]

यहाँ कवि ने 'विप्राय' का प्रयोग किया है। 'विप्राय प्रतिपाद्यते।' (एक ब्राह्मण को दे दी)—कहकर उक्ति में अर्थ चमत्कार का सन्निवेश कर दिया गया है। चारो ओर दिगन्तव्यापी पृथ्वी को जीत कर अत्यन्त निःस्पृह भाव से एक ब्राह्मण को दान कर देने मे परशुराम के निरतिशय औदार्य एवं त्याग का परिचय प्राप्त होता है।

रीतिकाव्य मे केशव की रामचन्द्रिका के कुछ छन्दो पर यह प्रभाव दृष्टिगत होता है। रावण-राम के बीच सन्धि की चर्चा हुई। रावण ने यह शर्त रखी कि यदि

---

१. हरदयालुसिंह : देव दर्शन, पृ० १२४-२५
२ आचार्य क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा, पृ० १३८

रामचन्द्रजी परशुराम द्वारा प्रदत्त परशु रावण को दे देवे तो युद्ध-शांति हो जाएगी। उत्तर में रामचन्द्र जी ने दूत से कहला भेजा कि —

भूमि दई भुव देवन कौं भृगुनन्दन भूपन सों बर लैकै।
बामन स्वर्ग दियो मघवै सो बली बलि बाँधि पताल पठैकै।
सधि की बातन को प्रति उत्तर आपुन ही कहिए हित कै कैं।
दीन्ही है लंक विभीषण कों अब देहि कहा तुम को वह दै कैं।।[1]

परशुराम ने राजाओं से बलपूर्वक भूमि छीनकर ब्राह्मणों को दे दी। वामन ने स्वर्गलोक इन्द्र को, पाताल लोक बलिराज को दे दिया। रह गया लका का राज्य, वह तो मैं विभीषण को देने के लिए प्रतिश्रुत हूँ। अब तुम ही कहो कि तुम्हे क्या दिया जाय। यह क्षुद्र परशु बडी तुच्छ वस्तु है। उसे देने मे बडा सकोच होता है। अत. अब तो युद्ध ही होने दो। यहाँ 'तुमको' का प्रयोग राम की निर्भयता, दृढता दिखाता है। रावण के प्रति तिरस्कार व अनादर की व्यजना भी इससे हो जाती है।

घनानन्द ने कर्त्ता कारक का औचित्य दिखाया है

'उजरनि' बसी है हमारी अँखियानी देखौ,
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हौ।।[2]

'उजरनि' को कर्त्ता कारक मे रखकर घनानन्द ने तीव्र व्यंजना की है। 'नेत्र उजड गये' कहने से उतना प्रभाव नही पैदा होता, जितना 'उजरनि बसी है · ' कहने से।" इसी प्रकार 'प्राण व्याकुल है' न कहकर 'अकुलानि के प्रानि परयौ दिन राति'— कहने से आकुलता की तीव्रता अधिक व्यंजित होती है। इन व्यंजनाओं का आधार कारकौचित्य ही माना जायगा।

लिंगौचित्य

कोश मे एक ही शब्द के बहुत से विभिन्नलिंगी पर्याय उपलब्ध होते है। इनका यथावसर विवेकसम्मत एवं रसपोषी प्रयोग ही सौदर्यकारी सिद्ध होता है। काव्यार्थ की सहज उद्दीप्ति के लिए रसानुरूप पर्यायों का (एवं उनके लिंग निर्णय का) प्रयोग ही इष्ट है, यथा—वीर रस के प्रसंग मे 'भुजदण्ड' का प्रयोग ही उचित है, 'भुजलता' का नही। लिंगौचित्य से एक अन्य तात्पर्य भी है—विशेष्य और विशेषण के बीच भी समान-लिंग-व्यवहार करना। संस्कृत मे तो यह एक गृहीत सिद्धान्त-सा है। वहाँ विशेषण-विशेष्य में भिन्न लिंग का व्यवहार प्राय नहीं होता। विशेष्य के लिंग व वचन के ही अनुरूप विशेषण होता है।

हिन्दी में भी अधिकाश कवि इस ओर ध्यान देने लगे हैं। आधुनिक कवियों में सुमित्रानन्दन पंत के काव्य में भाव के अनुरूप कोमल व स्त्रीलिंगी शब्दो का व्यवहार पाया जाता है।

---

१. लाला भगवानदीन : रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० ३३५

२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र · घन आनन्द कवित्त, पृ० ३९

रीति-काल में भी कवियों ने इस ओर ध्यान दिया प्रतीत होता है। केशव का निम्नोद्धृत छंद द्रष्टव्य है—

अंग अली धरियै अँगियाऊ न आजु तें नीदौ न आवन दीजै।
जानति हौं पिय सखीन के लाजउ तौ अब साथ न लीजै।
थोरेहि द्यौस तें खेलन नेऊ लगौ जिय सों जिनकौ जिय जीजै।
नाह के नेह के मामिले आपनी छाँह हू की परतीति न कीजै ॥[1]

खण्डिता नायिका की इस उक्ति में सखी की वंचना पर मार्मिक व्यंग्य है। अन्योक्ति के चमत्कार के साथ-साथ यहाँ लिंगवक्रता का मनोहारी प्रयोग भी बड़ा लुभावना है। उक्ति का परम सौंदर्य तो 'लिंग-औचित्य' के इस अद्भुत एवं वक्रोक्ति-मूलक प्रयोग में अन्तर्हित है। वंचना की प्रतिक्रिया इतनी प्रबल है कि अब नायिका प्रिय के प्रसंग में किसी का प्रत्यय करना नहीं चाहती। वह शरीर पर 'अँगिया' धारण नहीं करेगी; 'नींद' को पास फटकने तक न देगी; 'लज्जा' को तनिक भी ग्रहण नहीं करेगी; अपनी 'छाँह' तक का भी विश्वास नहीं करेगी। 'छाँह तक' का प्रयोग कर वह अन्योक्ति द्वारा यह प्रगट करना चाहती है कि अब तो अपनी अभिन्नतम सखी का भी विश्वास नहीं करूँगी। 'अँगिया', 'नींद', 'लज्जा' और 'छाँह' आदि पदों की स्त्रीलिंगी-योजना वस्तुतः बड़ी मार्मिक व प्रभावशाली है। खण्डिता की मर्मांतक पीड़ा का समुचित स्फोट यहाँ हो पाया है।

क्षेमेन्द्र ने राजा वत्सेश्वर की विरहावस्था का प्रकाशन करने के लिए एक ऐसा ही सुन्दर श्लोक प्रस्तुत किया है—

निद्रां न स्पृशति त्यजत्यपि धृतिं धत्ते स्थितिं न क्वचिद्।
दीर्घां वेत्ति कथां व्यथा न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम्।
तेनाराधयता गुणस्तव जपं ध्यानेन रत्नावलीम्।
निःसंगेन परांगना परिगता नामापि नो सह्यते ॥[2]

रेखांकित सभी पद स्त्रीलिंगी हैं।

रेखांकित शब्द समानलिंगी होने के कारण भावाभिव्यंजन में समुचित योग देते हैं।

वचनौचित्य

संस्कृत में स्तन, नेत्र आदि शब्द सदैव द्विवचन में प्रयुक्त किये जाते हैं। यथा स्तनौ, नेत्रे आदि। 'प्राण' शब्द भी संस्कृत में एकवचन में प्रयुक्त न होकर बहुवचन में प्रयुक्त किया जाता है, यथा—प्राणाः। सम्मान प्रदर्शन, गौरव प्रदर्शन, राजा के वैभव प्रदर्शन, पूज्य गुरुजनों के आदर-प्रदर्शन के लिए भी प्रायः बहुवचन का प्रयोग

---

१ पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : केशव ग्रन्थावली ख० १, पृ० १६७

२ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य विमर्श, पृ० २०६

होता है। हिन्दी में भी इन सब बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है, किन्तु हिन्दी की वचन-व्यवस्था में द्विवचन को स्थान नहीं है, अतः द्वित्व के वाचक कुछ शब्दों का प्रयोग आवश्यक है। बिहारी के नीचे दिये गए उदाहरण में वचन-औचित्य द्रष्टव्य है—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन।
मानहु सुर-सरिता-विमल-जल उछरत जुगमीन ॥[1]

यहाँ 'जुगमीन' पद प्रयोग ध्यान देने योग्य है। महीन अथवा पारदर्शी वस्त्र के घूँघट के भीतर में चमकते हुए नायिका के नेत्र ऐसे मालूम होते है मानो किसी नदी के स्वच्छ जल-पारदर्शी जल में दो मछलियाँ उछल रही हों। पारदर्शी वस्त्र की तुलना पारदर्शी जल से करके स्वच्छता व निर्मलता व शैत्य-प्रभाव लक्षित कराया गया है। नेत्रों को दो मछलियाँ कहकर उनके चाचल्य को भी व्यंजित किया गया है।

केशव के निम्न उदाहरण में भी वचनौचित्य अपनी विशिष्टता रखता है :

सो अपराध परो हमसौं अब क्यों सुधरै तुम ही धौं कहौ ॥[2]

राम की परशुराम के प्रति यह उक्ति है। सामान्यतः रामचंद्रजी परशुराम को आदरणीय जानकर उनके लिए 'आप' का ही प्रयोग करते हैं। परन्तु जब वे राम को बार-बार युद्ध के लिए ललकारते है, भय दिखाते है, गुरु विश्वामित्र की निंदा तक करते हैं, चारों भाइयों का नाश कर दशरथ को अनाथ कर डालने की धमकी देते है, तब राम भी क्रुद्ध हो जाते हैं। ऐसे अवसर पर अनादर प्रदर्शन के लिए रामचन्द्र परशुराम के लिए भी 'तुम ही धौं कहौ' का प्रयोग करते है।

राम के क्रोध की व्यंजना व परशुराम के प्रति अनादर प्रगट करने के लिए यह एक वचन-प्रयोग बहुत ही सटीक है।

विशेषणौचित्य

विशेषण और विशेष्य के बीच औचित्य पूर्ण संगति-निर्वाह को विशेषणौचित्य कहते है। केवल लिंग वचनादि की ही अनुरूपता इस में वांछित नहीं कुछ और भी आवश्यक है। विशेष्य की पूर्ण आकृति, अवस्था का बोध करा देने में समर्थ विशेषणों का प्रयोग ही औचित्यपूर्ण माना जाएगा। पद्माकर एवं बिहारी ने कुछ ऐसे दोहे लिखे हैं, जिसमें विशेषणौचित्य का सुन्दर निर्वाह पाया जाता है।

वाही की चित चटपटी धरत अटपटे पाइ।
लपट बुझावत विरह की कपट भरेहू आइ ॥[3]

नायक ने रात्रि में परकीया के यहाँ रमण किया है। प्रातः वह अपने घर लौटा है। उसके पैर ठीक से नहीं पड रहे है। पैरों की गति का ठीक-ठीक बोध कराते

---

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १८०
२. लाला भगवानदीन : रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० ११२
३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० २१३

के लिए कवि ने पैरों के लिए 'अटपटे' विशेषण का प्रयोग किया है। बोल के लिए 'अटपटे' विशेषण तो प्राय प्रयुक्त किया जाता है। वाणी की अव्यवस्था, असंगति, विशृंखलता का बोध उससे होता है। परन्तु कवि ने उस विशेषण को पैरों के लिए प्रयुक्त कर नायिका के खंडिता होने की, नायक के परकीया रमण की, नायक के गति भंग की शिथिलता की व्यंजना कर दी है। 'अटपटे' में ध्वनन शीलता, बिम्बात्मकता और चित्रोपमता है।

सु बिहाति न जानि परी भ्रम सी
कब ह्वै बिसवासिनि बीति गई ।।[1]

घनानन्द ने यहाँ 'विश्वासघातिनी' के अर्थ मे ही 'बिसवासिनि' विशेषण का प्रयोग रात्रि के लिए किया गया है। यह अर्थ विपरीत लक्षणा से ग्राह्य होता है। सर्वत्र उन्होंने इस विशेषण का उलटे अर्थ मे ही प्रयोग किया है। आंतरिक व्यथा की सटीक अभिव्यक्ति यह विशेषण करता है।

दसरथ सुत द्वेषी रुद्र ब्रह्मा न भासै।
निसिचर बपुरा तू क्यों न स्यों मूल नासै ।।[2]

रावण के लिए सीता ने 'बपुरा' विशेषण प्रयुक्त किया है। रावण की हीनता, दीनता, तुच्छता एवं राम का पराक्रम व्यंजित करने में यह विशेषण-प्रयोग विशेष व्यंजक सिद्ध होता है।

उपसर्गौचित्य

अर्थ की अधिकता दिखाने के लिए उपसर्गों का प्रयोग किया जाता है, यथा— क्रोध की अधिक मात्रा की व्यंजना करने के लिए हम 'कुप्' धातु को 'प्र' उपसर्ग लगाकर प्रकुप्यति, प्रकोप आदि शब्द बना लेते हैं। इसी प्रकार अन्य उपसर्गों की सहायता से हम बहुत से शब्द बना लेते है। कभी-कभी दो-दो उपसर्ग भी लगा देते है, यथा—'सम्प्रवदन्ति' में (सम्+प्र+वदन्ति)। 'वदन्ति' के साथ 'सम' तथा 'प्र' का प्रयोग किया गया है। परन्तु काव्य-भाषा में उपसर्गों का प्रयोग करते समय उनके औचित्य का पूरा-पूरा विचार कर लेना चाहिए। व्याकरण में प्राप्त सभी उपसर्गों के मुक्त प्रयोग से मनमाने शब्द नहीं गढ़े जा सकते; जैसे विलाप और प्रलाप दोनों में क्रमश वि और प्र उपसर्ग है और दोनों शब्द उपसर्ग के कारण अर्थ की कुछ अधिकता दिखाते है, किन्तु यदि हम दोनों को एक स्थान पर एक साथ प्रयुक्त कर 'विप्रलाप' जैसा शब्द-प्रयोग करें तो वह निश्चय ही अनुचित माना जाएगा। उपसर्ग का प्रयोग केवल व्याकरणिक शुद्धि या संगति तक ही सीमित न होकर, जब वह भाव की व्यंजना का एक मुख्य आधार बन जाता है, तब वहाँ उपसर्गौचित्य की स्थिति होती है।

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घन आनन्द कवित्त, पृ० ४६
२. लाला भगवानदीन : रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० २३३

साजे मोहन-मोह कौ मोही करत कुचैन।
कहा करौं उलटे परे टोने लोने नैन ॥[1]
तजी सक सकुचति न चित बोलति बाक कुबाक।
दिन-छनदा छाकी रहति छुटत न छिन छबि-छाक ॥[2]
यह बिनसत नग राखि कै जगत बडो जस लेहु।
जरी बिषम जुर ज्याइयै आय सुदरसन देहु ॥[3]

बिहारी के प्रथम दो दोहो मे क्रमश 'कुचैन' और 'कुबाक' मे 'कु' उपसर्ग तथा तीसरे दोहे मे 'बिनसत' मे 'बि' उपसर्ग का प्रयोग अर्थाभिव्यक्ति मे अपूर्व योग-दान देता है।

नायिका ने अपने नेत्रों को आँजा ताकि नायक को सम्मोहित कर सके। परंतु श्याम को देखते ही सम्मोहन मत्र उलट गया और नायिका स्वय ही बेखुदी मे खो गई। उसका ही हाल बेहाल हो गया, वह अपना चैन खो बैठी। इस अवस्था की व्यजना 'कुचैन' से भली-भाँति हो गई है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण मे नायिका की उन्मत्त अवस्था व प्रलाप की व्यजना भी 'कुबाक' से हो जाती है। प्रिय की छबि-मद से छकी नायिका इतनी मस्ती मे झूमती है कि उसकी वाणी का क्रम इस प्रकार टूटता है, जैसे कोई मदिरा-मग्न व्यक्ति ढग से बोल नहीं पाता हो।

तृतीय उदाहरण मे 'बिनसत' मे 'वि' उपसर्ग से विरहिणी नायिका के सर्वस्वान्त का बोध हुआ है। उसे सर्वनाश से बचाना हो तो आइए और सुदर्शन दीजिये, सुदर्शन मे भी 'सु' उपसर्ग का प्रयोग अर्थ की गरिमा बढाता है; 'श्लेष' उत्पन्न करता है।

घनानन्द ने तो उपसर्ग के प्रयोग द्वारा अभिव्यक्ति को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है

देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की
भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं।[4]

आँखे 'पेटनि' नहीं 'निपेटनि' हैं। 'नि' उपसर्ग से यहाँ काव्य की मार्मिकता बढ गई है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'निपेटनी' का रहस्य बडे ही सुन्दर शब्दों में उद्‌घाटित किया है :

"प्रिय की बुभुक्षा का तो यह हाल, प्रेमी की बुभुक्षा का इससे भी विकट हाल। पूरा भस्मक रोग ही हो गया है—'देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की, भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं।' भस्मक रोग वह है, जिसमें रोगी सामान्य भोजन का कई गुना भोजन करने लगता है, पर उसकी भूख शांत नही होती। वह नित्य दुबला होता जाता है। उसके शरीर में रक्त नहीं बनता। ऐसे रोगी से लंघन नही कराया

१. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० २१६
२. वही, पृ० १८८
३ वही, पृ० २०८
४ वही, घन आनन्द कवित्त, पृ० १८

जाता। भोजन देते हैं, औषध करते है। क्रमशः उसका रोग शात होता है। लघन करने से तो रोग असाध्य हो जाता है। यदि ऐसे को यह रोग हो, जो बड़ा चटोरा हो, पेटू हो तो रोग दु साध्य रहता है। पेटू भी कई प्रकार के होते है – साधारण और असाधारण। असाधारण पेटू के लिए तो भारी कठिनाई होती है। यहाँ आँखें केवल पेटनी (पेटू) नही है, निपेटनी है, 'नितराम् पेटू' है। फिर भी कभी-कभी नही 'नित्य लंघन और रोग 'सस्सक'। असाध्य स्थिति स्पष्ट है।'[1]

निपातौचित्य

निपात अव्यय को कहते है। 'च', 'वै', 'अपि', 'तु', 'तथापि', 'हि' आदि संस्कृत निपातो का कवि-गण प्राय छद-रक्षा अथवा पादपूरणार्थ प्रयोग करते रहते है। काव्य में निपातो का यह सही व उचित प्रयोग नही है। निपातों का उचित प्रयोग वहाँ माना जाता है, जहाँ वे भरती के लिए प्रयुक्त न होकर काव्यीय अर्थ की वृद्धि, चमत्कृति या सौदर्य-सृष्टि के निमित्त प्रयुक्त किये जाएँ। कभी-कभी किसी पद—विशेषण, क्रिया या सज्ञा—के पीछे ऐसे निपातो का प्रयोग कर कवि किसी भाव की तीव्रतम अभिव्यक्ति कर देते है।

रीतिकाल में बिहारी एवं घनानन्द ने निपातों का सुन्दर प्रयोग किया है

औरै गति औरै बचन, भयौ बदन-रंगु और।
द्यौसक ते प्रिय चित चढ़ी कहै चढ़ैंहै त्यौर॥[2]
औरै कछु चितवनि चलनि औरै मृदु मुसिक्यानि।
औरै कछू सुख देत है, सकै न बैन बखानि॥[3]
रूप-सुधारस-प्यास-भरी नितही अँसुवा हरिबोई करैगी॥[4]

प्रथम दोहे में बिहारी ने नायिका की गति, वाणी की मधुरता और बदन की चमक द्योतित करने के लिए 'औरै' निपात का प्रयोग किया है। 'औरै' मे सलग्न 'ऐ' का यहाँ प्रयोग विशेष व्यजना करता है। उत्तरोत्तर अधिकता का बोध इस निपात-प्रयोग से होता है। दूसरी पक्ति मे 'द्यौसक' में 'क' का प्रयोग भी अत्यत व्यंजक है। एक-दो दिन से ही नायिका प्रिय की 'भावती' हुई है, परन्तु उसकी गति, उसकी मधुर-वाणी और उसका लावण्य ऐसा बढा है कि वर्णन करते नहीं बनता।

मतिराम ने भी नायिका की चितवन, मुस्कान व सुख की विलक्षणता द्योतित करने के लिए 'औरै' शब्द का प्रयोग किया है।

तीसरे उदाहरण मे घनानन्द ने क्रिया के सातत्य व अविरल प्रवाह की व्यंजना

---

१. डा० मनोहर लाल गौड : घनानन्द और स्वच्छद काव्यधारा, भूमिका विश्वनाथप्रसाद मिश्र पृ० १३
२ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १७२
३ हरदयालु सिंह मतिराम-मकरन्द, पृ० २४५
४. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घन आनन्द कवित्त, पृ० १२१

करने 'ई' का प्रयोग किया है। प्रिय की रूप-सुधा की प्यासी आँखें अविरल अश्रु-प्रवाह वहाती ही रहेंगी। इस अर्थ की सटीक व्यंजना करने के लिए घनानन्द ने 'ढरिबोई करेंगी।' क्रिया का प्रयोग किया है। इसी छद मे मरिबोई, भरिबोई, बरिबोई का प्रयोग भी हुआ है, जो बडा मधुर प्रभाव डालने वाला है।

कालौचित्य

भूतकाल, भविष्यकाल, वर्तमानकाल के भेदोपभेदो का विचार करते हुए विशेष व्यजना के हेतु किसी विशेषकाल मे क्रिया का प्रयोग कालौचित्य है। सस्कृत मे परोक्ष भूत, आसन्न भूत, अद्यतन भूत के प्रयोगो मे विशेष अर्थ निहित रहता है। विस्मरण, अवज्ञा, तिरस्क्रिया वगैरह की व्यजना करने मे इन विभिन्न कालों का प्रयोग बडा उपकारक सिद्ध होता है। काल गति की विचित्रता दिखाने वाला काल-प्रयोग भी कालौचित्य कहलाता है। संस्कृत में क्षेमेन्द्र कृत 'मुनिमत मीमासा' मे एक श्लोक है, जो इसका सुन्दर उदाहरण है —

योऽभूग्दोपशिशु पयोदधिशिरश्चौर करीषकष
तस्यैवाऽद्य जगत्पते खगपते शौरे मुरारे हरे।
श्रीवत्साक जडैरिति स्तुतिपदै कर्णौ नृणा पूरितौ।
ही कालस्य विपर्यय प्रणयिनी पाकक्रियाऽश्चर्यभूः ॥[1]

दूध-दही चुराने वाले, कण्डे बीनने वाले, इस गोप शिशु को जब मूर्ख जनता आज जगतपति, शौरि, मुरारि, हरि एव श्रीवत्साक कहती है और स्तुतियो से कान भर देती है, तब काल का विपर्यय और तज्जन्य आश्चर्य ही दिखाई देता है।

ऊपर के श्लोक मे 'अभूत्' भूतकालिक क्रिया का प्रयोग शिशुपाल के हृदय की असूया प्रकट करने मे अत्यत सफल हुआ है। साथ ही अंतिम पक्ति में परिवर्तनशील काल की महिमा भी सुन्दर रीति से व्यजित हुई है।

रीतिकाल मे केशव की रामचद्रिका मे ऐसे उदाहरण मिलते है जहाँ कालौचित्य (दोनो अर्थो मे) विद्यमान है

हरह होतो दण्ड द्वै, धनुष चढावत कष्ट।
देखो महिमा काल की, कियो सो नरसिसु नष्ट ॥[2]
हैहय कौन ? वहै बिसर्‌यो जिन खेलन ही तोहि बाँधि लियो ॥[3]
बाण सु कौन बली, बलि को सुत वै बलि बावन बाँधि लियो।
वेई सुनौ जिनकी निर चेरिन नाच नचाइ कै छाँडि दियो ॥[4]

---

१ आचार्य क्षेमेन्द्र. औचित्य विचार चर्चा, पृ० १४६ (काव्यमाला गुच्छ-१)
२ लाला भगवानदीन . रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० १०८
३ वही, पृ० २८७
४. वही, पृ० २८९

प्रथम उदाहरण मे केशव ने 'नरशिशु' पद की व्यंजना दिखाई है। काल की गति बड़ी विचित्र है। इस विचित्रता का बोध कराने के लिए कवि ने 'नरशिशु' पद प्रयोग किया है। जिस धनुष्य को चढ़ाने के लिए स्वयं भगवान शकर को दो दण्ड के समय तक कष्ट होता था, उसे एक नरशिशु ने नष्ट कर दिया। देखो तो काल की महिमा कैसी है।

काल की गति की विलक्षणता की व्यजना के अतिरिक्त राम का पराक्रम-प्रभाव भी व्यंजित किया गया है।

दूसरे उदाहरण मे 'बिसर्यो' भूतकालिक क्रिया-प्रयोग भी सटीक है। अगद-रावण संवाद के अवसर पर अगद द्वारा बाण, हैहयराज, बाली, परशुराम आदि का स्मरण दिलाए जाने पर रावण प्राय अपना अवज्ञा-भाव प्रकट करता था। हैहयराज का नाम आने पर रावण ने पूछा कि यह हैहयराज कौन है? तब प्रत्यभिज्ञान कराने के हेतु अंगद ने कहा—'वहै बिसर्यो जिन खेलत ही तोहि बाँध लियो' अर्थात 'हैहय-राज को भूल गया। जिसने तुम्हे खेल ही खेल मे बाँध लिया था।' रावण की शक्ति-हीनता दीनता की व्यजना करने के लिए यह 'बिसर्यो' पद प्रयोग मार्मिक प्रयोग है। कालौचित्य का यहाँ सुन्दर निर्वाह हो पाया है।

तीसरे उदाहरण मे भी 'छाडि दियो' क्रिया का भूतकालिक प्रयोग अत्यन्त मार्मिक है। जब बलिराजा का नाम लिए जाने पर रावण ने उसी प्रकार उपेक्षा और अवज्ञा जताई, तब अंगद ने कहा 'वे ही बलिराज, जिनकी दासियो ने तुझे नाच नचा कर छोड दिया था'।

तीनो प्रयोग बडे मार्मिक, सटीक व भावानुरूप है, जिनमे क्रमश काल की विचित्रता, रावण की शक्तिहीनता और दुर्बलता व्यजित हुई है।

देशौचित्य

जहाँ कवि प्रकृति वर्णन, नगर वर्णन, उपवन वर्णन, वाटिका वर्णन, नदी सरो-वर-तालाब आदि जलशयों का वर्णन, प्रदेशगत जलवायु, भौगोलिक स्थिति व वातावरण के अनुरूप कर लेता है, वहाँ देशौचित्य की रक्षा हुई मानी जाती है। इसके विपरीत जहाँ ये वर्णन प्रकृत देश जलवायु-वातावरण के अनुरूप नही होते, वहाँ देशौचित्य का भग माना जाएगा।

हिन्दी मे रीतिकालीन कवियो मे स्थानादि का वर्णन केशव ने ही अधिक किया है। अत उसके निर्वाह एवं अनिर्वाह दोनो के उदाहरण उनकी रचानओ मे प्राप्त हो जाते है। प्राय आश्रम का वर्णन करते समय उसकी शाति, तपोपूत वातावरणादि का वर्णन उसमे अंतर्निहित है। आश्रम वर्णन मे हमे सिंह और बकरी एक साथ पानी पीते दिखाई देगे। जलाशयों का जहाँ वर्णन होगा, वहाँ हसो का वर्णन अवश्य होगा। ये सब वर्णन 'कवि परपरा' के रूप मे ग्राह्य है। अत कोई अनौचित्य या आक्षेप नहीं लगाता है। परन्तु यदि किसी स्थान पर ऐसे वृक्षादि का वर्णन किया गया हो जो वहाँ की

भूमि के सर्वथा विपरीत हो तो निश्चय ही देशौचित्य का भग माना जायगा । मरुभूमि मे सरित् प्रवाह या हरे-भरे कुंजो का वर्णन औचित्य के विरुद्ध है। केशव मे औचित्य व अनौचित्य दोनो के उदाहरण मिलते है—

भरद्वाज की वाटिका राम देखी। महादेव की सी बनी चित्त लेखी।
सबै वृक्ष मदारहूँ ते भले हैं। छहूंकाल के फूले फूले फले हैं॥
कहूँ हंसिनी हस स्यो चित्त चोरैं। चुनै ओस के बुन्द मुक्तान भौरैं।
शुकाली कहूँ शारिकाली विराजैं। पढ़ै वेद मंत्रावली भेद साजैं॥
कहूँ वृक्ष मूल स्थली तोय पीवैं। महामत्त मातग सीमा न छीवैं॥
कहूँ विप्र पूजा कहूँ देव-अर्चा। कहूँ योग-शिक्षा कहूँ वेद चर्चा॥[1]

मंदार वृक्षो से भी अधिक सुन्दर वृक्षो की शोभा से युक्त यह आश्रम है। जहाँ सारे वर्ष तक फूल खिलते रहते है। हस-हसियों के युग्म मन को मुग्ध कर देते है। ओस रूपी मुक्ताओ को ये चुन रहे है। शुकसारिकाएँ अनेक-प्रकार के वेद-मत्र पढते है। कही मदमत्त मातग झूम रहे है। कही वृक्ष की जडे सिंचित हो रही है। कही विप्र लोग देव-पूजा-अर्चा कर रहे है। कही वेदाभ्यास तो कही योगाभ्यास कराया जा रहा है।

आश्रम का समस्त वर्णन प्रभावशाली है। सर्वत्र देशौचित्य ही प्राप्त है।

कुलौचित्य

कुल गौरव के अनुरूप कार्यों का वर्णन, आभिजात्य का निर्वाह तथा वशानुगत चरित्र का निरूपण कुलौचित्य के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है। कभी-कभी अग्नि, वायु, मेघादि को उच्च कुलोत्पन्न कह कर उनसे अभ्यर्थना की जाती है। कालिदास के 'मेघदूत' मे यक्ष 'मेघ' को उसके कुल गौरव व कौलीन्य तेज का स्मरण दिला कर उससे प्रार्थना करता है कि वह उसका संदेश यक्ष-प्रिया के पास पहुँचा दे। वह कहता है—

'जात वशे भुवन विदिते पुष्करावर्त्तकानाम् ।'

रीतिकाल के कवियो मे भूषण, मतिरामादि ने आश्रयदाता के कौलीन्य तेज व उच्चकुलावतसत्व का गुणगान गाया है। मतिराम ने राव भावसिंह तथा भूषण ने शिवाजी एव छत्रसाल के कुल गौरव का गान किया है। घनानंद ने मेघदूत की पद्धति पर पवन के उच्च कुलत्व का निरूपण किया है।

बड़े-वस अवतंस राव भावसिंह तेरे,
बडे तेज नये नये देसपती दवि हैं।[2]

× × ×

---

१ लाला भगवानदीन : रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० २६३
२ हरदयालु सिंह : मतिराम-मकरंद, पृ० १७४

प्रगट भए द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसव राइ ॥[1]

एरे बीर पौन, तेरो सबै ओर गौन, बीरी
तो सो और कौन, मनैं ढरकौहीब ानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सों समान घन
आनन्द-निधान, सुख दान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अन्त मोही प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहचानि दै।
बिरह बिथाहि मूरि आँखिन मैं राखौ पूरि
धूरि तिन पायन की हा हा! नेकु आनि दै ॥[2]

परकाजहि देह कों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ सब ही विधि सज्जनता सरसौ।
घन-आनन्द जीवन दायक हौ कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहिं लै बरसौ ॥[3]

जा हित मात को नाम जसोदा सुबंस को चद कला-कुलधारी।
सोभा-समूह भई घन-आनन्द मूरति रग-अनंग-जिवारी।
जान महा, सहजै रिझवार, उदार बिलास मैं रास बिहारी।
मेरो मनोरथ हू बहियै, अरु हैं मो मनोरथ पूरनकारी ॥[4]

प्रथम उदाहरण मे मतिराम ने अपने आश्रयदाता राव भावसिंह के कौलीन्य कुल-गौरव और प्रताप का वर्णन किया है। भावसिंह की दानशीलता, उसका परा- उच्च-कुलता का प्रकाशन कवि ने किया है। भावसिंह के तेज से अनेक राजा दबे हैं। उसकी कीर्ति अपार है, चारों दिशाओं मे फैली हुई है। उसकी भुजाएँ कल्प- के समान हैं जो अपने आश्रितो को मुँहमाँगा दान दिया करती है।

द्वितीय उदाहरण मे बिहारी ने चन्द्रवंशोद्‌भव कृष्ण की कुलीनता निरूपित की कृष्ण चंद्रवंशी है। चद्रवंशी कहकर उन्हे ललित मधुर मीठे स्वभाव वाले कहा है।

तीसरे छन्द मे घनानन्द ने मेघदूत' की शैली पर पवन को दूत बनाकर सुजान ास भेजने की तथा सुजान के पैरों की धूलि ले आने की प्रार्थना की है। पवन को बनाने में सगति भी है क्योंकि पवन का विस्तार व विचरण अप्रतिबद्ध होता है। 'भाई' कहकर पुकारने में करुणा उपजाना ही मुख्य है।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी, पृ० १६६
वही, घन आनन्द कबित्त, पृ० ४४
ी, पृ० ७३
ही, पृ० ८६

चौथे छन्द में घनानन्द ने 'परजन्य' शब्द का प्रयोग कर बादल की उदारता का संकेत किया है। परजन्य का अर्थ है दूसरो का हित करने के लिए पैदा हुआ। बादल सदैव दूसरो के लिए ही बरसता है। घनानन्द उनसे अपने अश्रुओ को सुजान के आंगन में बरसवाना चाहते हैं। परोपकारी ही तो यह समझ सकेगा और बरसेगा।

अन्तिम छन्द मे कृष्ण को यशोदा का पुत्र कहकर यशोदा का गुणांकन किया गया है। कवि को विश्वास है कि जिसके कारण माता का नाम ही यशोदा (= यश देने वाली) हुआ, वह उसके मनोरथ भी पूरे करेगा।

उपर्युक्त सभी उद्धरणों मे किसी न किसी प्रकार के कुलौचित्य का निर्वाह पाया जाता है।

व्रतौचित्य

विशेष परिस्थिति मे पडकर किसी पात्र द्वारा धारण किए गए व्रत संकल्प, प्रतिज्ञा आदि का तदनुरूप पदावली मे निरूपण व उसका निर्वहण करना व्रतौचित्य है। क्षेमेन्द्र द्वारा दिया गया व्रतौचित्य का उदाहरण इसी सन्दर्भ मे पृष्ठभूमिका के रूप में द्रष्टव्य है, जिससे कि व्रतौचित्य की अवधारणा अधिक स्पष्ट हो।

अत्र वल्कलजुष पलाशिन: पुष्परेणु भस्म-भूषिता।
लोल भृ गवलयाऽक्षमालिकास् तापसा इव विभान्ति पादपा ॥[१]

अर्थात् वल्कल धारण किए हुए पुष्पो की रेणु रूपी भस्म से भूषित चंचल भौरो के वलय की अक्षमाला से युक्त ये पलाश वृक्ष तपस्वी जैसे लगते है। यहाँ वृक्षो को तपस्वी कहने पर उनके वर्णन मे तपस्वीजनोचित संगति के लिए वल्कल, भस्म, मालादि का समाहार करना पडा है। देव का प्रसिद्ध रूपक—जिसमे वियोगिनी की अँखियों को जोगिनी कहा गया है—इसका उदाहरण है।

रीतिकाव्य मे प्रतिज्ञाबद्ध स्वभावोक्ति के रूप मे भी व्रतौचित्य मिलता है और तदनुरूप वर्णन:पदावली में भी व्रतौचित्य मिल पाता है। केशव के इस छन्द मे अपने कठोर व्रत के पालन में समुद्यत परशुराम की उक्ति देखिए—

तब एक विंसति बेर मैं बिन छत्र की पृथिवी रची।
बहु कुण्ड सोनित सों भरे पितु तर्पणादि क्रिया सची।
उबरे जु छत्रिय छुद्र भूतल सोधि-सोधि सँहारिहौ।
अब बाल वृद्ध न ज्वान छाँडहुँ धर्म ,निर्दय पारिहौ ॥[२]

'सोधि-सोधि सँहारिहौं' और 'धर्म निर्दय पारिहौं' उक्तियो मे परशुराम के सकल्प की दृढता समुचित गम्भीरता के साथ प्रकट हो जाती है।

---

१. आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य विचार चर्चा, पृ०
२ लाला भगवानदीन : रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० १२१

तत्त्वौचित्य

उचित रीति से किया गया तत्त्व-कथन ही तत्त्वौचित्य कहलाता है। सब जानते है कि जीवन क्षणभगुर है, मिट्टी के घड़े के समान है। जीवन की क्षणिकता को कवि जब प्रकट करना चाहता है तो वह उसे सीधे प्रकट न कर उदाहरणो के द्वारा या अलकार-विधान द्वारा प्रकट करता है। 'पानी केरा बुद-बुदा' कहकर ही जीवन की क्षण-स्थायिता प्रकाशित की जाती है। कोरा उपदेश या कोरा तथ्य-कथन काव्य के क्षेत्र मे विशेष समादरणीय नही बन पाता है। तत्त्वौचित्य की दृष्टि से वृन्द के कुछ दोहे[1] प्रस्तुत है—

(१) रस अनरस समझै न कछु पढै प्रेम की गाथ।
बीछू मत्र न जानई साँप-पिटारे हाथ॥

(२) कैसें निबहै निबल जन करि सबलन सो गैर।
जैसें बसि सागर बिषै करत मगर सों बैर॥

(३) दीबौ अवसर कौ भलौ जासौं सुधरै काम।
खेती सूखे बरसिबो घन को कौने काम॥

(४) अपनी पहुँच बिचारि कै करतब करियै दौर।
तेते पाँव पसारिए जेती लाँबी सौर॥

(५) पिसुन छल्यौ नर सुजन सो करत बिसासुन चूकि।
जैसे दाध्यौ दूध कौ पीवत छाछहि फूँकि॥

(६) अति अनीति लहियै न धन जो प्यारौ मन होय।
पाए सोने की छुरी पेट न मारै कोय॥

प्रथम उदाहरण मे अज्ञान के प्रदर्शन की भर्त्सना है। 'बीछू' का मंत्र तो जानता नहीं और साँप के पिटारे में हाथ डालता है। लोकोक्ति का काव्योचित प्रयोग किया गया है। दूसरे दोहे मे बलवान् व्यक्ति के साथ रह कर उससे शत्रुता न करने की सलाह दी गई है। पानी में रहकर मगर से वैर करना अच्छा नही। तीसरे उदाहरण मे समय बीत जाने पर होने वाली वर्षा के माध्यम से अवसर बीतने पर किये गए काम की निरर्थकता प्रकट की गई है। चतुर्थ दोहे मे अपनी सामर्थ्य-भर काम करने की सलाह दी गई है। पाँव उतने ही फैलाने चाहिये जितनी चादर लम्बी हो। पचम उदाहरण मे 'दूध का जला छाछ भी फूँकता है।' इस लोकोक्ति का आश्रय लेकर यह लक्ष्यार्थ प्रकट किया गया है कि एक बार धोखा खा लेने पर व्यक्ति सावधान रहता है। अन्तिम दोहे मे यह व्यजित किया गया है कि धन पाकर अन्याय नहीं करना चाहिए।

---

१ डॉ० अरविंद पाण्डेय : रीति काव्य मे लक्षणा का प्रयोग से उद्धृत, पृ० २७०-७२

बरन दीन दयाल लोग सब अपने गरजी ।
जामा जीरन भयो कहा अब सीवै दरजी ॥[1]

कह गिरधर कविराय अरे यह सब घट तौलत ।
पाहुन निशिदिन चारि रहत सब ही के दौलत ॥[2]

राजा अरु जुवराज जग, प्रोहित मन्त्री मित्र ।
कामी कुटिल न सेइयै, कृपण कृतघ्न अमित्र ॥[3]

कोटि जतन कोऊ करौ परै न प्रकृतिहि बीच ।
नल बल जलु ऊँचे चढै अन्त नीच को नीच ॥[4]

कोटि-कोटि 'मतिराम' कह, जतन करो सब कोइ ।
फाटे मन अरु दूध मै, नेह न कबहूँ होइ ॥[5]

कहा लियौ गुरु मान कौ, अति ताती ह्वै नेम ।
पारद सो उड़ि जायगौ अलि चचल यह प्रेम ॥[6]

प्रथम उद्धरण मे जीवन की जीर्ण-शीर्ण स्थिति का चित्र है । शरीर-रूपी कपडा अब इतना जीर्ण-शीर्ण हो गया है कि कोई भी दरजी उसे सी नही सकता । दीनदयालु गिरि ने ससार की स्वार्थपरकता और शरीर की नाशवतता का बोध कराया है ।

गिरिधर कवि ने धन-सम्पत्ति की क्षणिकता पर प्रकाश डाला है । सम्पत्ति को चार दिनो का मेहमान कहकर उसकी क्षणिकता की सटीक व्याख्या की है ।

केशव ने यह बतलाया है कि कामी राजा, कुटिल युवराज, कृपण पुरोहित, कृतघ्न मंत्री एवं विरोधी मित्र का कभी सेवन (साथ) नही करना चाहिए । कुभकर्ण की यह रावण के प्रति उक्ति है ।

बिहारी ने मनुष्य-प्रकृति की अपरिवर्तनशीलता की बात कही है । मनुष्य की प्रकृति जो एक बार एक रूप ले लेती है सो कभी परिवर्तित नही होती । बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से क्षणिक परिवर्तन हो भी जाय तो भी पुनः प्रभाव हटते ही वह अपना मूल रूप धारण कर लेती है । नल-नीर चाहे कितना ही ऊँचा उठे अन्त मे नीचे ही आ जाता है । मतिराम ने फटे दूध से घी नही बनता कहकर स्नेह की सहज स्थिति का बोध कराया है । अन्तिम उदाहरण मे मतिराम ने यौवन को पारद की तरह चंचल

१ डॉ० अरविंद पाण्डे रीतिकालीन काव्य में लक्षणा का प्रयोग, पृ० २७५
२ वही, पृ० २७८
३ लाला भगवानदीन . रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० ३१६
४ विश्वनाथप्रसाद मिश्र · बिहारी पृ० १७७
५ हरदयालु सिंह : मतिराम-मकरद, पृ० २३५
६ वही, पृ० २६१

कहकर क्षणिक (क्षणस्थायी) कहा है, अत उसका गर्व नही करना चाहिए। ऊपर के सभी उदाहरणो मे कवियो ने तत्त्व की बात को काव्यीय-माधुर्य की लपेट मे इस प्रकार प्रकट किया है कि वह कोरा उपदेश नही जान पडता और साथ ही उनमें जीवन की सारभूत अनुभूति का निचोड प्रस्तुत हो गया है। ये सभी उदाहरण तत्त्वौचित्य के उदाहरण है।

तत्त्वौचित्य

वर्ण्य व्यक्ति के आत्मिक प्रकाश, अन्त.सत्त्व, बल, पराक्रम, धैर्य, ऐश्वर्य आदि चारित्रिक गुणों का समुचित पदावली मे चारुत्व-सम्पन्न रीति से निर्वचन करना सत्वौचित्य है।

कवि-गण प्राय. ऐसे अवसर पर अतिरंजना से कार्य लेते है, फलत: वर्णन प्रभावशाली न होकर हास्यास्पद हो जाता है। रीतिकाल के प्राय: सभी कवि किसी न किसी राजा के आश्रित रहे। अपने आश्रयदाता की प्रशसा में उन्होने अतिरजना से काम लिया है। इन्द्र और कुबेर से भी इन्हे बढकर बताया गया है। ऐसे स्थानो पर सत्व-प्रकाशन कम स्तुति-गान ही अधिक है। फिर भी कुछ पात्रों का वर्णन ऐसा हुआ है जहा आत्म-प्रकाश को समुचित अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

भूषण का निम्नलिखित सवैया देखिए—

केतिक देस दल्यो दल के बल दच्छिन चगुल चापि कै चाख्यो।
रूप गुमान हर्‌यो गुजरात को सूरति को रस चूसि कै नाख्यो।
पजन पेलि मलिच्छ मले सब सोई बच्यो जेहि दीन ह्वै भाख्यो।
सोरँग है सिवराज बली जेहिं नौरँग मैं रँग एक न राख्यो॥[1]

शिवाजी के सार्वत्रिक प्रसार के परिवेश में कवि शिवाजी का वर्णन करता हुआ कहता है . शिवाजी ने कितने ही किले जीते, दक्षिण दिशा को अपने अधिकार मे कर लिया; गुजरात का गुमान दूर कर दिया, सूरत को लूट लिया; म्लेच्छो को कुचल दिया, वही बचा जिसने दीन हो कुछ प्राण भिक्षा माँगी; औरंगजेब के मुख का रस फीका कर दिया है यहाँ शिवाजी के सत्त्व (पराक्रम) का सुन्दर प्रकाशन हुआ है। इसी दृष्टि से मतिराम का एक कवित्त देखिये—

महाबीर सत्रुसाल-नन्द राव भावसिंह
तेरी धाक अरि-पुर जात भय भोय से।
कहै 'मतिराम' तेरे तेजपुज लिये गुन.
मारुत औ मारतण्ड मण्डल बिलोय मे॥
उडत नवल टूटि फूटि मिटि फटि जात,
बिकल सुखात बैरी दुखनि समोय से।

---

१ पं० श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र : भूषण ग्रथावली, पृ० १४३-४४

तूल से तिनूका से तरोवर से तोयद से,
तारा से तिमिर से तमीपति से तोय से ।।[१]

राव भावसिंह छत्रसाल हाडा के पुत्र थे। इनके पिता दारा की ओर से औरंगजेब के साथ लडाई लडे थे और चम्पतराय के द्वारा मारे गए थे। भावसिंह की इसी कारण औरंगजेब से शत्रुता थी। भावसिंह परम पराक्रमी थे। मतिराम के वे आश्रयदाता थे। महाराज भावसिंह की प्रशसा मे मतिराम ने अनेक छद लिखे है।

प्रस्तुत छंद में उनका पराक्रम व प्रभाव वर्णित है। उनकी धाक शत्रुओं के नगर मे भय पैदा कर देती है। उनकी धाक के मारे शत्रु तूल की भाँति उड जाता है, तिनके की भाँति नमित हो जाता है, वृक्ष की भाँति टूट जाता है, बादल की भाँति बिखर जाता है, तारे की भाँति मिट जाता है, अधकार के समान फट जाता है, तमीपति की भाँति व्याकुल रहता है, जल की भाँति सूख जाता है। कवि ने भावसिंह के सत्त्व का सुन्दर परिचय दिया है।

अभिप्रायौचित्य

अक्लिष्ट एवं चित्तावर्जक पदावली में अपने गूढार्थ, प्रतीयमानार्थ एवं विशेष अभिप्राय की अभिव्यक्ति करना ही अभिप्रायौचित्य है। क्षेमेन्द्र निरूपित यह अभिप्रायौचित्य आनन्दवर्धन के वस्तुध्वनि के भेदाभेदो मे अंतर्भुक्त हो जाता है। उन्होने इसकी सोदाहरण विस्तृत व्याख्या की है। यद्यपि आनन्दवर्धन ने अभिप्रायौचित्य सज्ञा का प्रयोग नही किया है तथापि उनके उदाहरणो एवं उदाहरणो के विवेचन का मर्म वही है, जो क्षेमेन्द्र को अभीष्ट है। उदाहरण भी बहुत कुछ ऐसे ही है, जो क्षेमेन्द्र ने दिये है। आनन्दवर्धन का उदाहरण इस प्रकार है—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्ति अन्धअ सेज्जाएमह णिमुज्जहिसि ।।[२]

'हे पथिक! भली-भाँति दिन में ही देख लो; यहाँ मैं सोती हूँ और यहाँ मेरी सास नींद मे डूब जाती है। तुम रतौंधे हो, कही हम लोगों की चारपाई पर न आ गिरना।'

क्षेमेन्द्र की स्वैरिणी भी संध्या समय द्वार पर आये हुए किसी युवा क्षत्रिय-कुमार को देखकर द्रवित-चित्त हुई है। मुग्धा इस स्वैरिणी ने अपना अभिप्राय अपनी माता से निवेदित किया। माता ने भी उसका अभिप्राय समझ कर कहा—

पुत्र्येव यदि कोष्ठमेतु सुकृतै. प्राप्तो विशेषातिथि ।[३]

'हे पुत्रि, यदि ऐसी बात है तो उसे घर मे आने दो, मेहमान बडे पुण्य मे प्राप्त होता है।'

---

१ हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरद, पृ० १८७
२. डॉ० रामसागर त्रिपाठी : ध्वन्यालोक (पूर्वार्द्ध), पृ० १३०
३ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी औचित्य विमर्श, पृ० २१५

रीति-काव्य में ऐसी व्यंजनाएँ बहुलता से प्राप्त होती हैं। बिहारी, मतिराम आदि पर तो अपभ्रंश के उपर्युद्धृत उदाहरणों का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं इन प्रभावों से मुक्त व स्वतन्त्र कल्पना का भी परिचय मिलता है। दोनों ही प्रकार के उदाहरण मिल जाएँगे। मतिराम का एक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है :

जु पै द्वार मे बसत तौ, पथिक जाइ जिन सोइ।
मेरो घर सूनौ इहाँ, चोरनि को डर होइ॥[1]

मतिराम के इस दोहे पर अपभ्रंश की उपर्युद्धृत उक्ति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यहाँ भी स्वैरिणी ने अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया है कि मैं अकेली हूँ। मेरा घर सूना है. यथेच्छ रमण के लिए किसी प्रकार की कोई अड़चन नहीं है। 'रात्रि मे सो मत जाना' कहकर ही उसने निस्संकोच चले आने का निमंत्रण दे दिया है। 'मेरो घर सूनौ' कहकर निरापद स्थिति की व्यंजना कर दी है। 'चोरनि को डर होइ' कहकर सामाजिकों के समक्ष अपने भय का प्रकट प्रकाशन तथा गूढार्थ-अभिप्राय का किंचित् अपह्नव भी कर दिया है। उत्तम ध्वनि का यह उदाहरण है।

कुंज-भवन तजि भवन को चलियै नन्द किसोर।
फूलति कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर॥[2]

यहाँ पर विहारी ने खडिता के इस कथन द्वारा नायक के रात्रि मे परकीया-रमण की व्यंजना कर दी है। नायिका कुलस्त्री है, अत उसे अपने पति की प्रतिष्ठा भी प्यारी है। एक तरफ कुल-प्रतिष्ठा है तो दूसरी तरफ यह भी है कि वह अपना यह अभिप्राय प्रकट करना भी चाहती है कि आप कल परकीया से रात्रि-रमण कर चुके है, वह मुझे ज्ञात है। अपने पति को प्रकट रूप से न डॉटकर भी उसने उसे लज्जित तो कर ही दिया है। 'फूलती कली गुलाब की' के द्वारा प्रभात होने की व्यंजना की गई है। अभिप्राय यह है कि 'अब तो चलिए घर मे श्रीमन् सुबह हो रही है। रात्रि-भर तो आप रमण करते रहे, अब कुछ कुल-प्रतिष्ठा भी है कि नहीं।'

पलनु पीक अंजनु अधर धरे महावरु भाल।
आजु मिलै, सु भली करी, भलै बने हौ लाल॥[3]

नायक ने रात्रि में अन्यत्र रमण किया है। प्रात जब लौटा तो अपने शरीर पर रतिचिह्न लेकर लौटा। नायक के अधरों पर नायिका का अंजन लगा हुआ है, नायिका का महावर उसके भाल पर लगा हुआ है और पलकों पर पीक लगी हुई है। स्वकीया—जो कि नायक के अन्यत्र रमण के कारण खंडिता हुई है—ने अपने पति को इन चिह्नों से युक्त देखकर कुछ नहीं कहा। केवल इतना ही कहा कि आज मिले, अच्छा किया, बड़े अच्छे लग रहे हो। यहाँ 'आजु मिलै' में दीर्घ विरह की व्यंजना है।

---

१. हरदयालुसिंह मतिराम-मकरंद, पृ० २१६
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी, पृ० १७६
३. वही, पृ० १९८

'भली करी' मे नि.श्वास या दु ख की व्यंजना है। 'भले बने हौ लाल' मे व्यग्य-काकु वक्रोक्ति है।

स्वभावौचित्य

स्वभाव का यथार्थ रीति मे यथोचित पदावली मे वर्णन करना स्वभावौचित्य है। मुनियो के विराग, नृपो के अनुराग, रमणियो के वैदग्ध्य, दुष्टों के औद्धत्य, कृपणो के कार्पण्यादि का निरूपण उन्ही के स्वभावानुरूप पदावली मे किया जाना चाहिए। कार्पण्य, औदार्य और औद्धत्य की समुचित व्यजना करने वाले रीति-काव्य के कुछ उदाहरण देखिए—

जेती सम्पति कृपन के तेती सूमति जोर।
बढत जात ज्यौ ज्यौ उरज त्यौ त्यौ होत कठोर ॥[1]

कृपण और उरोज दोनों स्वभाव से कठोर है। कृपण के पास ज्यो-ज्यो धन-वृद्धि होती रहती है, त्यो-त्यों कठोरता भी बढती जाती है अर्थात् कृपणता और भी अधिक बढती जाती है। यौवनोदय मे ज्यों-ज्यो उरोज बढते जाते हैं, त्यो-त्यो कठोर होते जाते है। उरोजो के काठिन्य की व्यंजना के लिए कृपण के स्वभाव का तथा कृपण की कृपणता की व्यजना के लिए उरोजो की कठिनता का उदाहण बहुत ही सटीक है।

सोहति उत्त ग उत्तमग ससि संग गंग,
गौरि अरधंग जो अनंग प्रतिकूल है।
देवन कौं मूल सेनापति अनुकूल कटि
चाम सारदूल कौ, सदा कर त्रिसूल है।
कहा भटकत, अटकत क्यौ न तासौं मन,
जातै आठ सिद्धि नव निद्धिरिद्धि तू लहै।
लेत ही चढाइबे कौ जाके एक बेलपात,
चढत अगाऊ हाथ चारिफलफूल है ॥[2]

एक बेलपत्र के बदले मे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चारों फल तथा आठो सिद्धि तथा नवों निद्धि-रिद्धि दे देने वाले भोलेनाथ के भोलेपन की इन पंक्तियो मे समुचित व्यजना हो गई है। भगवान् शकर आशुतोष हैं, उन्हे प्रसन्न होते देर नही लगती और प्रसन्न होने पर वे शत्रु-मित्र का भेद रखे बिना सब कुछ दे डालते है। उनके औदार्य की यह अच्छी व्यंजना है।

रे कपि कौन तूं ? अक्ष को घातक दूत बली रघुनन्दन जू को।
को रघुनन्दन रे ? त्रिशिरा-खर-दूषण-दूषण भूपण भू को।

---

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १८५
२. उमाशंकर शुक्ल : कवित्त रत्नाकर, पृ० १०८

सागर कैसे तर्‌यो ? जस गोपद, काज कहा ? सिय चोर हि देखो,
कैसे बँधायो ? जू सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो ॥[1]

रावण-अगद सवाद के इस प्रसग मे रावण का औद्धत्य समुचित रीति से प्रकट होता है। राजसभा मे बैठकर भी वह दूत के साथ ऐसा व्यवहार करता है जो एक अहकारी एव घमण्डी पुरुष के ही अनुरूप है, धीर, शात शासक के नही। अपनी पद-मर्यादा के विपरीत उसका यह आचरण व सभाषण स्वभाव की धृष्टता, अहम्मन्यता, उद्धतता की व्यंजना करता है।

गुरुजन दूजे ब्याह कौं, प्रतिदिन कहत रिसाइ।
पति की पति राखे बहू, आपुन बाँझ कहाइ ॥[2]

यहाँ भारतीय नारी के सकोचशील, लज्जाशील व सहिष्णु स्वभाव का मतिराम ने बहुत ही अल्प-शब्दो में चित्र खीचा है। घर में सभी गुरुजन उसके पति के दूसरे विवाह की प्रतिदिन चर्चा करते रहते है। वह उसे चुपचाप सुनती रहती है। स्वय पर 'बन्ध्या' (बाझ) होने का आक्षेप भी सहन करती है किन्तु अपने पति की पुसत्वहीनता प्रकट नही करती।

ज्यौं लगि जीवन है जग मे नहिं तौ लगि जीव सुभाव टरैगो।
देव यही जिय जानिय जू, जन जो करि आयो है सोई करैगो।
कोटि करौ कोई प्रान हरै किन, हारिल की लकरी न हरैगो।
भूलेहु भौर चलावे न चित्त, जो चपक चौगुनो फूलि फरैगो ॥[3]

जीव की प्रकृति की अटलता, अपरिवर्तनशीलता का देव ने दो उदाहरणो द्वारा निर्वचन किया है। मनुष्य का स्वभाव उसके व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग हो जाता है और जन्म लेकर मृत्यु तक उसके साथ बना रहता है। उसके स्वरूप मे किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नही हो सकता। बाह्य-परिस्थितियों के प्रभाव से यदि उसमे अल्प-कालिक परिवर्तन हो भी जाय तो वह प्रभाव हटने पर (कुत्ते की दुम की भाँति) अपने मूल रूप को ग्रहण कर लेती है। हारिल पक्षी जिस लकडी को पकड लेता है, उसे मरण तक नही छोडता। भौरा चपक की ओर अभिरुचि नही करता, चाहे चपक चार-गुना ही क्यो न फूले-फले।

उक्त उदाहरणो को देखने से ज्ञात होता है कि कृपण की कृपणता, शकर के भोलेपन, रावण का अहंकार, भारतीय नारी का संकोच व उसकी लज्जाशील-सहनशील प्रकृति की जिस ढंग से व्यजना की गई है, स्वभावौचित्य के रूप को स्पष्ट करती है।

सार-संग्रहौचित्य

सारभूत एवं सग्रहणीय बातो का—काव्यार्थ की पुष्टिकारक रीति से—कथन

१ लाला भगवानदीन रामचद्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० २४५
२ हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरंद, पृ० २०२
३ दूबह और बावलिया देवकाव्य रत्नावली पृ० १३५

करना ही सार-संग्रहौचित्य है। ऐसे कथन अतिदीर्घ व अस्पष्ट न होने चाहिए तथा उनमें किसी निश्चित निष्कर्ष या उपदेश का मर्म निहित होना चाहिए। छोटे व्यक्तियों से भी यदि सग्रहणीय एवं सारभूत बातें ज्ञात होती हो तो उनकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। रहीम की सारी उक्तियाँ इस शीर्षक के अंतर्गत समाविष्ट हो सकती है।

मद्यपान रत तियजित होई
सन्निपात युत बातुल जोई।
देखि देखि जिनको सब भागै
तासु बैन हनि पाप न लागै ॥[१]

राम के वन में जाने का निर्णय सुनकर भरत जी अत्यंत विचलित हुए है। वे पिता के इस आदेश का विरोध करते हुए कहते है कि—'मद्यप, स्त्रीवश, सन्निपात के रोगी की बातो का उल्लंघन करने में कोई पाप नहीं।'

भरत के इस नीति-वचन पर शका हो सकती है कि अपने ही जनक की निंदा या भर्त्सना करने वाले व्यक्ति का यह उपदेश उचित माना जाना चाहिए या अनुचित? रामचरित मानस मे भी भरत ने अपनी माता कैकेयी की कठोर शब्दो मे प्रतारणा की है। इस शका का निराकरण करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते है, 'धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता के अनुसार समझी जाती है। जहाँ धर्म की पूर्ण शुद्ध और व्यापक भावना का तिरस्कार दिखाई पडेगा वहाँ उत्कृष्ट पात्र के हृदय मे भी रोष का आविर्भाव स्वाभाविक है। राम पूर्ण धर्म-स्वरूप है, क्योकि अखिल विश्व की स्थिति उन्ही से है। धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है।' 'भरत कोई ससार त्यागी विरक्त नही थे कि धर्म का ऐसा तिरस्कार, और उस तिरस्कार का ऐसा कटु परिणाम देखकर भी क्रोध न करते या साधुता के प्रदर्शन के लिए उसे पी जाते। ' 'अत काव्य-दृष्टि से भी यदि देखिए तो इस अमर्ष के द्वारा उनके प्रेम की जो व्यंजना हुई है, वह अपना एक विशेष लक्ष्य रखती है।'[२]

अतः अपने पिता के विषय मे भरत के ये वचन व्यापकतर-बृहत्तर धर्म-भावना के संदर्भ मे उचित ही ठहरते हैं। मदोदरी, विभीषण, कुभकर्ण की रावण के प्रति उपदेश-उक्तियाँ भी सार्थक व उचित ठहरती है।

कहै यहै सृति सुम्रत्यौ यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं पातक राजा रोग ॥[३]

राजा, पातक और रोग अशक्त एव दुर्बलो को निरतर दबाते रहते है, यह सभी सयाने लोग जानते हैं और कहते है। अत. रोग, पाप और राजा का प्रभाव अपने पर

१. लाला भगवानदीन . रामचंद्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० १६५
२. चिन्तामणि, पृ० २०१
३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र . बिहारी, पृ० १७५

बन्ते रहने देना न चाहिए। इससे स्पष्ट है कि रीतिकाव्य में उपदेश काव्यात्मक रूप ही ग्रहण कर आया है, कोरे उपदेश के रूप में नहीं।

प्रतिभौचित्य

'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा मता' भट्ट तौत की इस परिभाषा के अनुसार प्रतिभा वह बुद्धि है जो नित्य-नूतन चमत्कार दिखाती रहती है। प्रतिभा के इस चमत्कार का काव्यीय सौंदर्य की अभिवृद्ध्यर्थनिबंधन प्रतिभौचित्य है। आपत्ति के अवसर पर जो सूझ-बूझ काम दे, उसे भी प्रतिभा कहा गया है। प्रतिभा के विहार का क्षेत्र सीमित व निश्चित नहीं। न जाने कब कहाँ वह अपना चमत्कार दिखा दे।

संस्कृत में ऐसी उक्तियाँ उपलब्ध हैं, जहाँ नायिका अथवा सखियाँ या दास-दासियाँ अपह्नव-संगोपन के प्रसंग में ऐसी प्रतिभापूर्ण चमत्कारोक्तियों का आश्रय लेती हैं। विशेषत जार-समागमोद्भूत दंतक्षत, नखक्षतादि का अपह्नव करने में ऐसी उक्तियों का प्रयोग होता है। यथा —

अदय, दशसि किं त्वं बिम्ब बुद्ध्याऽधर मे ?
भव चपल निराशः पक्व जम्बूफलानाम्।
इति दयितमवेत्य द्वारदेशाऽऽगतमन्या
निगदति शुकमुच्चैः कान्तदन्तक्षतौष्ठी ॥[1]

'अरे चपल, क्या तुम बिम्बफल समझकर मेरे अधरों को काट रहे हो, अब पके हुए जामुन फलों की आशा मत करो।' उपपति द्वारा किए गए दंतक्षतों को छिपाने के लिए नायिका ने इस उक्ति का आश्रय लिया।

रीति-काव्य में ऐसे असंख्य उदाहरण मिलेंगे, जहाँ ऐसा कवि-प्रतिभा का चमत्कार दृष्टिगत होता है।

रोमावली कृपान सौं, मार्यो सिव ही मनोज।
ताके भये स्वरूप द्वै, सोहत बाल उरोज ॥[2]
सैन समन में सो लगैं, उघरत गोरे गात।
उडै आगि ऊपर लगी, ज्यों बिभूति अवदात ॥[3]
सखी सिखावति मान-विधि सैननि बरजति बाल।
हरुवे कहु मो हिय बसत सदा बिहारीलाल ॥[4]
हँसि उतारि हिय तें दई तुम जु तिहि दिना लाल।
राखति प्रान कपूर ज्यौं, वहै चुहटनी-माल ॥

---

१ राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य विमर्श, पृ० २१७-१८
२ हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरंद, पृ० २२२
३ वही, पृ० २२४
३ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० २२७
४ वही, पृ० ११८

उक्त उदाहरणो में प्रथम दो मतिराम के और शेष दो बिहारी के काव्य मे उद्धृत दोहे है।

उरोजो को शिव कहने की कल्पना नवीन नही है। विद्यापति बहुत पहले ही 'जुग-कुच सभु' कहकर उन्हे शिव की उपमा दे चुके है। जायसी ने उरोजो को 'हिया थार कुच कंचन लाडू' कहकर उनकी कचन के मोदको से उपमा दी है। मतिराम की कल्पना का चमत्कार एक पग आगे बढ़ा हुआ है। कामदेव का शंकर मे सहज ही बैर है। जब से शकर के तृतीय नेत्रोत्स्थित वह्नि ने उसे अनग कर दिया है, तब से वह अपने वैर-शोधन के लिए प्रतीक्षारत है। उसने नायिका की रोमावली की कृपाण-बनाकर शिवजी के दो टुकडे कर दिये। और शिवजी एक से दो हो गये। ये दो उरोज दो शिव है, जो नायिका के वक्ष स्थल में स्थित है। कल्पना निश्चय ही नवीन है।

दूसरे दोहे मे मतिराम ने कल्पना के शुभ्रत्व एव पावित्र्य का परिचय दिया है। श्वेत वस्त्र मे ईषत् अनावृत्त यह गौरागना यो लगती है मानो उदात्त विभूति ऊपर उठ रही है। शुभ्रता का विभूति मे रग-सादृश्य तो है ही, साथ-ही-साथ वह पावित्र्य की भी व्यजना करती है।

बिहारी के इस दोहे मे प्रिय के प्रति अनन्य निष्ठा का सुन्दर निरूपण हुआ है। नायिका अपने प्रिय के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित व एकनिष्ठ है। यहाँ तक कि वह मान करना भी नही चाहती। सखी उसे मान करने की सीख देती है, तब वह कहती है—'हे सखि, धीरे कह, मेरे हृदय मे स्थित प्राणेश्वर तुम्हारी बातें सुन रहे है।'

इसी भाव की एक संस्कृत पंक्ति इस प्रकार है

'नीचैं शस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वर. श्रोष्यति।'

दूसरे दोहे मे बिहारी ने विरहणी की अवस्था का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। यह सभी जानते हैं कि कपूर को उड़ने से बचाने के लिए उसे गुजाओ के सग मे रखा जाता है। नायिका ने अपने प्राण-कपूर को नायक द्वारा जाते समय हँसकर दी गई गुजा की माला के बल पर टिकाये रखा है। वह उस माला को हृदय से हटाती ही नही है।

बैठो आनन कमल के, अरुन अधर दल आइ।
काटन चाहत भाँवते, दीजौ भौर उड़ाइ॥[1]

यह खण्डिता की उक्ति है। उसकी वचन-विदग्धता द्रष्टव्य है। नायक ने रात्रि में परकीया-रमण किया है। प्रात जब लौटा तो परकीया के काजल का दाग भी उसके साथ चला आया। नायक के इस अपराध को बड़े मार्मिक ढग से प्रकट करती हुई नायिका कहती है कि 'हे प्रिय, आपके आनन कमल के अरुण अधर पर एक भौंरा आ बैठा है। इसे जल्दी से उड़ा दीजिए नही तो काट लेगा।' पर भौंरा वहाँ कहा? इशारा तो काजल के दाग की ओर था। नायिका अपनी अबोधता का बहाना कर मानो

१. इन्द्रपालसिंह : मतिराम-मकरद, पृ० २३३

यह दिखाना चाहता है कि उसे काजल के दाग में भौरे का भ्रम हुआ है। प्रकट रूप में नायक को लज्जित न कर नायक को अपनी करतूत दिखा देना ही अभिप्रेत है।

सेनापति के इस उदाहरण में प्रतिभा का चमत्कार देखिए—

बरसै तुसार, बहै सीतल समीर नीर,
कपमान उर काहू धीर न धरत है।
राति न सिराति सरसाति बिथा बिरह की,
मदन अराति जोर जोबन करत है।
सेनापति स्याम हम धन है तिहारी, हमै
मिलौ, बिन मिले, सीत पार न परत है।
और की कहा है, सबिता हू सीत रितु जानि,
सीत कौ सतायौ धन रासि मे परत है ॥[1]

जाडे के दिनो मे सूर्य धन राशि मे सक्रान्त होता है। इसे धनार्क कहते है। मकर राशि मे सक्रान्त होने पर मकर-सक्रान्ति होती है। मगर सूर्य धनराशि मे क्यो संक्रान्त होता है ? इसका कारण सेनापति ही जानते है। 'धन' पत्नी को भी कहते है। धन राशि को भी धन कहते है। इसी आधार पर विरहिणी सभोग के लिए अकाट्य तर्क प्रस्तुत करती हुई कहती है जाडे के दिनो मे सीत से सताया हुआ सूर्य भी अपनी पत्नी (धन राशि) के पास जा पहुँचता है तो हे प्रिय, हम तुम्हारी धन (पत्नी) है, हमें क्यों वियोग का कष्ट देते हो ?

केशव ने लक्ष्मी के कुछ दुर्गुणों के कारण खोज रखे हैं—

सागर मे बहु काल जु रही। सीत बक्रता ससि तें लही।
सुर तरग चरननि ते नात। सीखी चचलता की बात ॥[2]

बहुत काल तक समुद्र में रही, अत लक्ष्मी में स्वभाव की उदासीनता (सर्द मिजाजी) आ गयी है। चन्द्रमा के साथ रहने से वक्रता आ गई है। उच्चैश्रवा के सग रहने के कारण चाचल्य आ गया है। आदि—

आज तें न जैहौं दधि बेचन दुहाई खाउँ
मैया की कन्हैया उत ठाढोई रहत है।
कहै पदमाकर त्यों साँकरी गली है अति,
इत उत भाजिबे को दाउँ न लहत है।
दौरि दधि दान काज ऐसो अमनैक तहाँ
आली बनमाली आइ बहियाँ गहत है।

1. उमाशकर शुक्ल : कवित्त रत्नाकर, पृ० ६७
2. लाला भगवानदीन केशव कौमुदी (भाग १), पृ० ८९

भादों सुदि चौथ को लख्यो मैं मृग अंक याते
झूठहू कलंक मोहिं लागिबो चहत है।[1]

पद्माकर की गोपिका ने अपनी प्रतिरक्षा के लिए पहले से ही भूमिका तैयार कर रखी है। कृष्ण के प्रसंग मे फैलने वाले लोकापवाद की पूर्व कल्पना कर वह पहले से ही उसका कारण खोज लेती है। भादो सुदी चौथ को चंद्र-दर्शन करने वाला व्यक्ति कलंकित होता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पर भी मणि चुराने का आरोप लगा था। गोपी ने कह दिया कि मैंने भूल से भादो सुदी चौथ के चंद्र का दर्शन कर लिया है, अत मै आज से दधि बेचने न जाऊँगी, क्योकि रास्ते मे कृष्ण खडा रहता है। कृष्ण हमे छेड़ता रहता है। आदि—

निरापद मिलन व संगोपन के लिए गोपी ने जिस प्रकार की कल्पना का आश्रय लिया है, वह नितान्त रम्य व चमत्कारी है तथा कवि-प्रतिभा का परिचय देती है।

अवस्थौचित्य

अवस्था कहते है स्थिति-विशेष को। अवस्था के औचित्य का निर्वाह अवस्थौचित्य है। साहित्य मे प्राय बाल्यावस्था व यौवनागम के संधि-स्थल को वय-संधि के नाम से वर्णित किया जाता है। वय संधि के चित्र 'अवस्थौचित्य' के अंतर्गत स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं।

किन्तु 'अवस्था' से केवल वय संधि का ही बोध नही होता है। संयोग-वियोग की अवस्था अथवा जराजीर्णता आदि का भी बोध होता या हो सकता है।

रीति-काव्य मे पद्माकर, मतिराम, घनानन्द आदि ने अवस्था के कुछ उत्तम चित्र अंकित किए है। क्रमश. उदाहरण देखिए—

चौक में चौकी जराउ जरी तिहिं पै खरी बार बगारति सौंधे।
छोरी धरी हगी कंचुकी न्हान कौं अंगन तें उठे जोति के कौंधे॥
छाई उरोजनि की छवि यों पदमाकर देखत ही चक चौंधे।
भाजि गई लरिकाई मनौं करि कंचन के दुहुँ दुदुभि औंधे॥[2]

यह नवागतयौवना का चित्र है। विद्यापति ने शैशव-यौवन के बीच हुए संग्राम की चर्चा की है। दोनो मे द्वन्द्व छिड गया है परन्तु परिणाम क्या हुआ, इसका उत्तर तो पद्माकर ने ही दिया है। हार कर भागता हुआ शत्रु अपने अस्त्र-शस्त्र तथा वाद्य-दुदुभि आदि छोड जाता है। लरिकाई ने जाते-जाते अपने दो कंचन-दुदुभि औंधे कर दिये है। तरुणाई की विजय और लरिकाई की पराजय हुई है। कनक दुदुभि-द्वय (कुचद्वय) ने औंधे पड़े-पडे ही शत्रुपक्ष की विजय-घोषणा कर दी है—

जा छिन ते मतिराम कहै,
मुसकात कहूँ निरख्यौ नँदलालहिं।

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : पद्माकर ग्रंथावली (जगद्विनोद), पृ० ६६
२. वही, पृ० ८५

ता छिन तें छिन ही छिन छीन,
बिथा बहु बाढी बियोग की बालहिं ।।
पोछति हैं कर सौ किसलै गहि,
बूझति स्याम सुरूप गोपालहिं ।
भोरी भई है मयंकमुखी,
भुज भेटल है भरि अंक तमालहि ।।[1]

मतिराम ने यहाँ पतिप्राणा, उन्मना, भ्रात, बावरी गोपिका का चित्र अंकित किया है। विरहाधिक्य के कारण विरही-जनों को चेतन-अचेतन का कोई भेद लक्षित नही होता है। विरही राम ने इसीलिए हर पेड-पौधे, नदी-नाले को सीता के समाचार पूछे, पुरुरवा जगल के हर वृक्ष से लिपटता रहा, यक्ष ने जड मेघ को दूत बनाया। चित्त-विक्षेप के कारण नायिका तमालवृक्ष को ही कृष्ण समझकर लिपट गई। छद मे प्रयुक्त 'भोरी' पद भी उसकी अवस्था की व्यंजना करने मे योगदान करता है। उन्माद और विकलता की अवस्था का यह सटीक चित्र है।

मतिराम ही का एक अन्य चित्र देखिए—

भरी भाँवरैं साँवरे, रास रसिक रस जान।
तिनही में मनु भँवन है, ह्वै बौडर को पान ।।[2]

श्याम मे लीन नायिका के चित्त की अवस्था, विकलता का बोध 'ह्वै बौडर को पान' पदावली से बहुत ही सहज किन्तु तीव्रता से हो जाता है। घनानन्द की एक ऐसी पक्ति 'मेरो मन मवै भट्र पात ह्वै बघूरे को' को हम पहले विवेचित कर ही चुके है।

सेनापति द्वारा वर्णित विरहिणी की अवस्था का एक चित्र देखिए—

बाल, हरि लाल के वियोग तें बिहाल, रैनि
बासर बरावै बैठि घर की निसानी सौ।
बोलै ? कौन बल ? कर-चरन चलावै कौन ?
रहत हैं प्रान प्रानपति की कहानी सौ ।।
लागि रही सेज सौं, अचेत ज्यौं न जानी जानि,
सेनापति बरनत बनत न बानी सौं।
रही इकचक, मानौ चतुर चितेरे तिय
रंचक लिखी है कोई कंचन के पानी सौ ।।[3]

हरि के वियोग मे बाला की यह दशा है कि वह स्वय न तो उठ सकती है, न बैठ सकती है। वह बोले भी तो किस बल से ? उसके प्राण केवल पति की कहानी

१ हरदयालुसिह: मतिराम-मकरद, पृ० १५३
२. वही, पृ० २६१
३ उमाशंकर शुक्ल: कवित्त रत्नाकर, पृ० ४५

सुनने के लिए ही अटके हुए है। शैया पर वह अचेत-सी पडी है। वह पर्यंक पर जानी ही नही जाती। उसकी देह दुर्बल व पीली पड गई है। ऐसा लगता है मानो किसी चतुर चित्रकार ने (कंचन के रंग) कंचन के पानी से उसको रेखांकित कर रखा है। अंतिम दो पंक्तियो मे उसकी अवस्था का यथार्थ अंकन हो गया है।

देव की उन्मादिनी का एक चित्र देखिए—

जब ते कुंवर कान्ह रावरी कला निधान
. . . . .
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी सी ॥[1]

देव ने उन्मादिनी की स्थिति का बोध कराने के लिए अनेक विशेषणो तथा कुछ क्रियाओं का प्रयोग किया है। 'हँसत-सी, रीझत-सी, रुठानी-सी, रिसानी-सी, छोही-सी, छली-सी, जकी-सी, छकी-सी, थिरकानी-सी, बाँधी-सी, बँधी-सी, विमोहित-सी, बिकानी-सी आदि विशेषण तथा बकति, बिलोकति आदि क्रियाएँ बाला के उन्माद, प्रलाप, अस्थिरता, विकलता को द्योतित कर जाती है।

वय सधि तथा विरह की विभिन्न अवस्थाओ के ये चित्र अवस्थौचित्य के सुन्दर उदाहरण है।

विचारौचित्य

भाव एवं विचार-सम्बन्धी औचित्य का समावेश विचारौचित्य के अंतर्गत होता है। व्यापक रूप मे विचार करने पर काव्य के दो पक्षों—वस्तु-पक्ष और शैली-पक्ष—मे से वस्तु-पक्ष-विषयक सारा औचित्य इसके भीतर आ जाता है। काव्य-वस्तु या काव्य-अर्थ भी औचित्य से अनुशासित है। विचार या वस्तु अपने-आप मे न उत्तम है न अनुत्तम; न उचित है न अनुचित। वह तो प्रयोग सापेक्ष है। प्रयोक्ता, जिसके प्रति वह प्रयुक्त हुआ हो, परिस्थिति इत्यादि के सदर्भ मे ही उसका औचित्य-अनौचित्य निर्णीत किया जाना चाहिए। कोई भाव या विचार सुन्दर होते हुए भी इसलिए प्रभावशाली नही बन पाता कि वह प्रसग परिस्थिति व पात्र या रस के अनुरूप नही होता। क्षेमेन्द्र ने भाव का अलग से कोई उल्लेख-विवेचन नहीं किया है। अत: विचारौचित्य में भाव को लेकर ही चलना उचित होगा।

(अ) भाव का औचित्य

राम चलत नृप के युग लोचन।
बारि भरित भये बारिद रोचन॥
पायन परि ऋषि के सजि मौनहि।
केशव उठि गए भीतर भौनहिं॥[2]

---

१. दुगड और जावलिया : देवकाव्य रत्नावली, पृ० १३५
२. लाला भगवानदीन रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० ३३

केशव के कवि-हृदय की पहचान ऐसे स्थानों पर हो जाती है। यज्ञ की रक्षा के लिए विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को अपने साथ ले जाने का दशरथ के समक्ष प्रस्ताव करते हैं। कोमल बालकों की मृदुता एवं राक्षसो की कठोरता के विचार-मात्र से दशरथ का हिया काँप उठता है और अपने पुत्रों के स्थान पर वे स्वयं जाने के लिए उद्यत होते है, परन्तु विश्वामित्र के क्रोध की आशका से तथा वसिष्ठ द्वारा समझाये जाने पर कि विश्वामित्र के तप और राम के बल का भरोसा रखिए—राजा दशरथ अपनी मौन स्वीकृति दे देते हैं। जब राम-लक्ष्मण मुनि विश्वामित्र के साथ चलने लगते है तब, साश्रु गद्गद दशरथ कुछ भी नहीं बोल पाते। वे चुपचाप सभा-भवन से उठकर ऋषि के चरण छूकर महल मे चले जाते हैं।

दशरथ के हृदय-गत भावों की सटीक व्यजना केशव ने चार पक्तियों मे ही कर दी है। यहाँ मौन ही अधिक मुखर हो उठा है। केशव ने प्रसंग की मार्मिकता व गम्भीरता को भली-भाँति पहचाना है। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए—

तब पूछ्यौ रघुराइ। सुखी है पिता तन माइ।
तब पुत्र कौ मुख जोइ। क्रम तें उठी सब रोइ॥[1]

वन मे रामचद्रजी से मिलने के लिए भरत अपनी माताओं तथा साकेत की समस्त प्रजा सहित पहुँचे। रामचद्रजी ने अपने पिता के समाचार पूछे, परन्तु कौन उत्तर दे? क्या उत्तर दे? पुत्र-मुख देख-देखकर तीनों माताएँ रो उठीं। उनके रुदन ने ही सब-कुछ कह दिया। यहाँ पर भी केशव ने 'मौन' व 'रुदन' द्वारा बड़ी सशक्त भाव-व्यजना की है।

आजु आदित्य जल पवन पावक प्रबल।
चन्द आनन्द भय त्रास जग को हरौ॥
गान किन्नर करौ, नृत्य गन्धर्व कुल।
दक्षविधि लक्ष उर, यक्ष कदम धरौ॥
ब्रह्म रुद्रादि दै, देव तिहुँ लोक के।
राज को जाय अभिषेक इन्द्रहि करौ॥
आजु सिय राम दै, लंक कुल दूषणहि।
यज्ञ को जाय सर्वज्ञ विप्रहु वरौ॥[2]

उक्त पंक्तियो मे पुत्र-शोक से पीडित रावण की उक्ति है। दुःखी व्यक्ति वीतरागी, उदासीन, निःसंग तथा अधिकार व सत्ता के प्रति अवज्ञापूर्ण होता है। रावण का सर्वस्व नष्ट हो गया है। उसे अब देवताओ को अकुशित रखने या त्रैलोक्य मे अपना भय फैलाने की कोई वाछा नही है। उसने सब को मुक्त कर दिया। मनुष्य का मन अत्यन्त प्रसन्नता अथवा घोर विपत्ति या दुःख के अवसर पर असाधारणत्व

१ लाला भगवानदीन : रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० १६४
२ वही, पृ० ३३०

ग्रहण कर लेता है। तब वह संसार के बने-बनाये मार्गों से नहीं चलता। इसी असाधारणत्व की स्थिति मे रावण कहता है —'आज सूर्य, जल, पवन, प्रबल अग्नि, चन्द्रादि देवगण भयमुक्त होकर आनंदित हो, क्योकि जिससे तुम्हे डर था वह तो खुद मारा गया है! किन्नरगण आनन्द से गावें, गन्धर्वगण नृत्य करें ब्रह्मा रुद्रादि तीनों लोक के देवता जाकर इन्द्र का राज्याभिषेक करे। आज सीता और राम मिलकर कुलनाशक विभीषण को लंका का राज्य दे दें। ब्राह्मण गण निडर होकर यज्ञानुष्ठान करें। मेरे भय से अब तक जो कार्य नही हो रहे थे, वे सभी अब स्वच्छन्दतापूर्वक हो। मैं तो पुत्र-शोक मे अपने प्राण दे रहा हूँ।'

ऊपर दिये गए तीनो प्रसंग बडे मार्मिक है और केशव ने तीनो अवसरों पर अत्यन्त संयम व कौशल से काम लेकर भावो की समुचित व्यजना कर दी है।

(आ) **विचारौचित्य**

जौन जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति मुँह दीन।
जौ लहिए संग सजन तौ, धरक नरक हू कीन ॥[१]

पाइ तरुनि कुच उच्चपद चिरम ठग्यौ सब गाउँ।
छुटे ठौर रहिहै वहै जुही मोल छबि नाउँ ॥[२]

दिन दस आदर पाइकै, करि लै आप बखान।
जौ लगि काग! सराध पखु तौ लगि तो सनमान ॥[३]

लटुआ लौ प्रभु-कर गहै, निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी कर तैं छुटै, निगुनीयै ह्वै जाइ ॥[४]

प्रिय के अभाव मे स्वर्ग भी नरक है और प्रिय के साथ नरक भी स्वर्ग हो जाता है। प्रिय नहीं है तो मुक्ति भी धूल के समान है। यदि स्वजन सग है तो दुःख मे सुख है।

दूसरे दोहे मे बिहारी ने इस तथ्य की व्यजना की है कि किसी के बलबूते पर उच्च पद पर आसीन व्यक्ति तभी तक अपना प्रभाव रखता है, जब तक वह व्यक्ति प्रभावशाली है। जिस क्षण वह व्यक्ति प्रभावक्षीण हो जाता है अथवा स्थान व उच्च पद से हटा दिया जाता है, उसी क्षण उसके बलबूते पर ऊँचा उठा हुआ व्यक्ति भी क्षीण हो जाता है, यथा – कुचो का सहारा पाकर गुंजा की माला भी स्पृहणीय व गौरवयुक्त बन जाती है, परन्तु वक्ष.स्थल से हटाये जाने के बाद वह एक कौडी की भी कीमत नही रखती।

---

१. लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी : बिहारी सतसई, पृ० ३७
२ वही, पृ० ६७
३ वही, पृ० १०४
४ वही, पृ० ११६

श्राद्धपक्ष आने पर जिस प्रकार कौओं को आदरपूर्वक खीर खिलाई जाती है तथा श्राद्धपक्ष बीत जाने पर उन्हे कोई भी नही पूछता। इसी प्रकार समय बीतने पर कोई सम्मान नही देता। जब तक कोई व्यक्ति पदारूढ है, तब तक ही उसका गौरव व सम्मान होता है। तात्पर्य यह है कि पदारूढता की स्थिति मे मदोन्मत्त नही होना चाहिए।

अंतिम दोहे मे बिहारी ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि ईश्वर जिसका हाथ पकड ले, वह निर्गुण से गुणी बन जाता है और जब वह हाथ छोड देता है तो गुणी से निर्गुण होता है और भ्रमित ही रहता है, यथा—लट्टू डोरी से युक्त (गुण युक्त) होकर स्थिर रहता है, डोरी से हीन अर्थात् गुणहीन होने पर वह निर्गुण हो घूमने लगता है।

नामौचित्य

नामौचित्य से क्षेमेन्द्र का तात्पर्य पर्यायौचित्य से है। कर्मानुरूप नाम के द्वारा गुण या दोष की अभिव्यक्ति करना ही नामौचित्य है। एक ही व्यक्ति के अनेक नामो मे से प्रसगानुरूप नाम-चयन करना और उसका प्रयोग करना ही काव्य मे सौन्दर्य-वृद्धि कर देता है। परशुराम की प्रशसा के अवसर पर उनके लिए 'पितृभक्त' शब्द का प्रयोग इष्ट है। परन्तु उन्ही की निन्दा के अवसर पर उन्हे 'मातृहन्ता' ही कहना चाहिए। इस विषय मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत उद्धरणीय है—

"जैसे यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथो से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए 'हे गोपिकारमण ! हे वृन्दावन विहारी !' आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि ! हे कसनिकंदन !' आदि सबोधनो से पुकारना अधिक उपयुक्त है, क्योकि श्रीकृष्ण के द्वारा कंस आदि दुष्टो का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है न कि उनका वृन्दावन मे गोपियो के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को 'मुरलीधर' कहकर पुकारने की अपेक्षा 'गिरिधर' कहना अधिक अर्थसंगत है।"[1]

बामा भामा कामिनी कहि बोलौ प्रानेस।
प्यारी कहत लजात नहि पावस चलत बिदेस।[2]

नायक ने वर्षा मे विदेश जाते समय अपनी प्रिया को 'प्यारी' कहकर पुकारा, जिस पर नायिका ने आपत्ति उठाते हुए कहा कि 'हे प्राणेश, आप मुझे बामा, भामा, कामिनी आदि अन्य किसी संबोधन से पुकारिए परन्तु कृपा करके पावस मे परदेश जाते समय मुझे 'प्यारी' मत कहिए, क्योकि कोई व्यक्ति पावस मे अपनी 'प्यारी' को छोडकर परदेश नही जाता। 'प्यारी' कहकर पुकारना और परदेश जाना दो बाते परस्पर विसगत है।"

१ रामचन्द्र शुक्ल रस मीमांसा, पृ० ३६
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र . बिहारी, पृ० २०२

कोश में वामा, भामा, कामिनी, ललना, भार्या, जाया, रमणी, अर्धांगिनी, तन्वी आदि अनेक पर्याय उपलब्ध है परन्तु प्रत्येक की अर्थच्छटा (Shades of meaning) भिन्न-भिन्न है। 'ललना' शब्द सयोगावस्था मे ही प्रयुक्त होता है। 'कामिनी' शब्द यौवनागमजन्य मदन-विकार की अवस्था का बोध कराने के लिए है। तन्वी शब्द विरह-कृशा का या कही-कही सुकुमारता का बोध कराता है। 'भार्या' वह है जिसका भार वहन किया जाता है या जिसका भरण-पोषण किया जाता है। 'जाया' वह है, जो हमारे लिए पुत्र-पुत्रियाँ पैदा करती है। इस प्रकार उक्त पद मे 'प्यारी' सम्बोधन मे जिस विशा-लता का बोध होता है, वह उपर्युक्त किसी अन्य शब्द से नही होता। अत. नायिका की उक्ति मे अन्य नामोल्लेख कराने की याचना अधिक उचित है।

मोहनि मत्रनि मनमोहन कियौ तं बस,
वारन ज्यौं बाधि राखै तामरस ताग सो ॥[1]

हाथी को बाँध कर रखने के लिए तामरस का तागा चाहिए। मन भी मदमत्त हाथी की भाँति है। नायिका या गोपिका ने अपनी मोहिनी से (मोहकमूर्ति के वशीकरण से) कृष्ण को मोहित कर रखा है। यहाँ कृष्ण के लिए 'मनमोहन' और गोपिका के लिए 'मोहनि' पर्यायो का प्रयोग अनूठा है। व्यजना यह है, कृष्ण जो कि दूसरो के मन को मोहने वाला है, उसे तुमने अपने मोहक रूप के मन्त्र से वशीभूत कर रखा है, यही तुम्हारे रूप का प्रभाव है। उक्त पंक्तियो मे नामौचित्य दर्शनीय है।

आशीर्वादौचित्य

सपूर्ण अर्थ का समर्थक एवं विद्वानो का परितोष करने वाला आशीर्वाद ही आशीर्वाद का औचित्य कहलाता है। सस्कृत नाटको मे 'भरत वाक्य' के रूप में ऐसी आशीर्वादोक्तियाँ आती है। ये उक्तियाँ प्राय कवि के धार्मिक विश्वास, नाटक के मुख्य रस, श्रोता या द्रष्टा की मनोवृत्ति, परिहासोक्ति आदि पर आधारित होती है। यदि रचना-कार शैव है तो आशीर्वाद शिव-सम्बन्धी होगा, यदि वह विष्णुभक्त या कृष्णभक्त है तो आशीर्वाद विष्णुपरक या कृष्णपरकहोगा। यदि रचना शृगार रस की है तो आशीर्वाद शृंगार-रसोचित अर्थात् राधा-कृष्ण सम्बन्धी होगा। यदि रौद्र रस मुख्य है तो आशीर्वाद नृसिह भगवान् से सम्बद्ध होगा। हास्य रस मे शंकर के दिगम्बरत्व, पार्वती की लज्जा अथवा गणेश की अबुधता-विषयक आशीर्वादोक्तियाँ होगी। यही स्थिति 'नान्दी' की भी है। सस्कृत मे प्राय: सभी प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते है।

रीतिकाव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य रस शृंगार ही रहा, अत. राधा-कृष्ण को ही केन्द्रित कर आशीर्वचन कहे गये हैं। यों परिहास के लिए शकरजी को भी छुआ है किंतु कवियों द्वारा मुख्यत: शृगार के आराध्य देव—कृष्ण-राधा को ही अपनाया गया है।

बिहारी ने अपनी सतसई के मंगलाचरण मे ही 'राधा नागरी' की स्तुति की

---

१. हरदयालुसिंह . मतिराम-मकरद, पृ० १९७

है । मतिराम ने भी अपनी सतसई के प्रारम्भ मे राधा के मुखचन्द्र की स्तुति की है । बिहारी का वह दोहा प्रसिद्ध है, जिसमे कृष्ण-राधा के दीर्घायु की वाछा की गई है —

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यो न सनेह गँभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ।।[1]

मतिराम ने राधा के मुखचन्द्र की वन्दना की है, जिसे देखते ही मन के मोहाधकार का नाश होता है और हृदयसिधु उछलने लगता है । मतिराममतसई के मगलाचरण का यह दोहा शृगार रसानुकूल और भावानुरूप है :

मो मन तम-तोमहिं हरौ, राधा को मुख-चद
बढै जाहि लखि सिधु लौं, नन्द नदन-आनद ।।[2]

केशव ने भी एक स्थान पर आशीर्वाद का सुन्दर निबन्धन किया है—

सब काल ह्वै हौ अमर अरु तुम समर जय पद पाइहौ ।
सुत आजु तें रघुनाथ के तुम परम भक्त कहाइहौ ।।[3]

अशोकवाटिका में हनुमानजी सीता से मिले, रामचन्द्रजी की मुद्रिका दी और सभी कुशल-समाचार भी दिये । सीताजी का सदेश लेकर जब हनुमान लौटने लगे, तब सीताजी ने उन्हे आशीर्वाद दिया जो हनुमान के कर्म एव गुणानुरूप ही है । सब काल मे तुम समर-विजयी हो, संसार मे तुम अमर हो और राम के परम भक्त कहलाओ ।

अन्त मे एक परिहासपूर्ण आशीर्वाद भी देख लीजिए ।

गौने को द्यौस सिंगारन कौ
'मतिराम' सहेलिन को गन आयो ।
कंचन के बिछुवा पहिरावत
प्यारी सखी परिहास जनायो ।।
पीतम श्रौन समीप सदा बजौ,
यौं कहिके पहिले पहरायो ।
कामिनी कौल चलावन कौं,
कर ऊँचो कियो पै चल्यो न चलायो ।।[4]

परिहास के द्वारा यहाँ सखियो ने नायिका के निरतिशय सौभाग्य की व्यजना की है । निरन्तर अपने पति के सान्निध्य-लाभ करती रहना, ऐसा आशीर्वाद सखियो ने अप्रत्यक्षत. दे दिया है । 'पीतम श्रौन समीप सदा बजौ'' से विपरीत रति के अतिरिक्त पति द्वारा उसकी चरण-सेवा की व्यजना तो होती ही है, साथ ही नायिका के परम सौभाग्य की

१. लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी · बिहारी सतसई, पृ० २०
२ हरदयालुसिह : मतिराम-मकरद, पृ० २०१
३. लाला भगवानदीन . रामचद्रिका (पूर्वार्द्ध), पृ० २४३
४. हरदयालुसिह मतिराम-मकरद, पृ० ११८

भी । यहाँ यह कथन भी अभिप्रेत है कि तुम अपने पति की इतनी प्यारी बनना कि वह तुम्हारे बिछुए की मधुर ध्वनि निरन्तर सुनता रहे ।

सर्वनामौचित्य

क्षेमेन्द्र ने सर्वनाम-सम्बन्धी औचित्य की कोई स्वतन्त्र चर्चा नही की है, न अपने ग्रंथ 'औचित्य-विचार-चर्चा' मे ही उसकी कोई व्याख्या ही की है। संभवत संस्कृत में पद की परिभाषा 'सुवन्तं तिङन्त च पद संज्ञा स्यात् ।' के अनुसार सर्वनाम का 'सुबन्त' प्रत्यय लगने के कारण 'पद' मे अन्तर्भाव हो जाना उन्हें भी इष्ट हो। सस्कृत मे भी सर्वनाम के औचित्य-सम्बन्धी कुछ उत्तम उदाहरण मिल जाएँगे, यथा—

य प्रख्यातजव सदा स्थितिविधौ सप्ताब्धिसंध्यार्चने ।
दोर्दर्पेण निनाय दुदुभिवपुर्यः काल कंकालताम् ।।
य पातालमसृङ्मय प्रविदधे निष्पिष्य मायाविन
सुग्रीवाग्र्यविभूतिलुण्ठन पटुर्वाली स कि स्मर्यते ।।[१]

"जो अपने इस प्रकार के वेग के लिए प्रसिद्ध था कि सात समुद्र लाँघकर सूर्य को संध्या-विधि मे अंजलि प्रदान करके खड़ा होता था, जिसने अपनी भुजाओं के मद मे आकर दुदुभि के शरीर को कंकाल कर दिया, जिसने मायावी को पीसकर सारे पाताल को रक्त रंजित कर दिया, सुग्रीव की श्रेष्ठ विभूतियो को लुढकाने वाले उस बाली को क्या तुम भूल गए ।"

यहाँ संस्कृत श्लोक मे प्रथम तीन चरणो मे बार-बार 'य.' की आवृत्ति तथा अन्तिम चरण मे 'स.' का प्रयोग सर्वनाम के औचित्य का सुन्दर उदाहरण है । उसी प्रकार भट्टनारायण के 'वेणी संहार' मे अश्वत्थामा की इस उक्ति मे—'यो य· शस्त्र······अहम् ।' भी 'य:' की आवृत्ति रसपोषी एवं प्रभावशाली है ।

इसी प्रकार रीति काव्य मे घनानन्द ने सर्वनाम के प्रयोग द्वारा काव्य-सौंदर्य की वृद्धि की है—

वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि वहै,
लड़कीली बानि आनि उर मैं अरति है।
वहै गति लैन औ बजावनि ललित बैन,
वहै हँसि दैन, हियरा तें न टरति है ।
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे की छबि,
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनन्द निधान प्रान प्रीतम सुजान जू की
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करति है ।।[२]

१. डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य विमर्श, पृ० २०२
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, घनानंद कवित्त, पृ० ५

जोई रात प्यारे-सग बातन न जात जानी,
सोई अब कहाँ तें बढनि लिये आई है।
जोई दिन कन्त साथ जीवन कौ फल लाग्यौ
सोई बिन अन्त देत अन्तक दुहाई है ॥[1]

प्रथम उदाहरण से घनानन्द ने 'वहै' की बार-बार आवृत्ति कर मुस्कान, मृदु-बाते, गति, चतुरता, छैलता आदि नायिका की चेष्टाओ की विलक्षणता—विशिष्टता व्यजित की है। ये चेष्टाएँ साधारण चेष्टाएँ नही है। इनका प्रभाव भी साधारण नही है। ये हृदय मे अड गई है। 'हियरा से टरती' नही है। क्षणार्ध के लिए भी ये भुलाई नहीं जा सकती। उनका चिन्तन सब प्रकार से बेसुध कर देता है। नायिका के हावो का यह वैशिष्ट्य—'वहै' की आवृत्ति के कारण ही है।

दूसरे उदाहरण मे घनानन्द ने 'जोई' 'सोई', सम्बन्ध सर्वनामो का प्रयोग कर सयोगकालीन सुख तथा वियोगकालीन दुख की तारतमिक स्थिति को उपस्थित किया है। सुख के दिनो मे जो राते प्रिय के साथ बाते करने मे कैसे बीत गई जान भी नही पडता था, वे ही (सोई) रातें वियोग मे अब काटे नही कटती। जो दिन सयोग के अवसर मे सफल सार्थक मालूम पडते थे, वे ही अब वियोग मे दारुण दुख देने वाले सिद्ध होते है। सयोगावस्था का वियोगावस्था से विरोध (कट्रास्ट) उपस्थित करने मे 'जोई'-'सोई' का प्रयोग अत्यन्त प्रभावशाली व सार्थक है।

छन्दौचित्य

आचार्य क्षेमेन्द्र ने छन्दौचित्य पर ही एक स्वतन्त्र ग्रन्थ—'सुवृत्त तिलकम्'—लिखा है, जिसमे छन्दो के लक्षण व उदाहरण का क्रम और निरूपण प्राय. उसी शैली मे किया गया है जो उनकी 'औचित्य विचार चर्चा' में है।

ग्रंथ तीन विन्यासों में रचित है। प्रथम विन्यास मे गणो का लक्षण तथा संस्कृत के निम्नलिखित छन्दो के लक्षण-स्वरूपादि निरूपित है—तनुमध्या, कुमार ललित विद्युन्माला, प्रमाणी, अनुष्टुप्, भुजग, शिशुभृता, रुक्मवती, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, दोधक, शालिनी, रथोद्धता, स्वागता, तोटक, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, वसत तिलका, मालिनी, नर्कुट, पृथ्वी, हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडितम्।

द्वितीय विन्यास में इन छन्दो के गुण-दोषो का विवेचन किया गया है। विवेचन का सार-संग्रह इस प्रकार है—

(१) छन्दो मे लघु-गुरु की स्थिति शास्त्र-निर्दिष्ट न होने पर भी यदि छन्द पढते समय उसकी लय अनवरुद्ध हो तो उसे निर्दोष मानना चाहिए। छन्द में लय अथवा प्रवाह ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र घनानंद कवित्त, पृ० ५६

(२) प्रयोग-कौशल के कारण अननुकूल छन्द भी अनुकूल, सफल एवं उपकारक सिद्ध होता है।

(३) काव्य मे सर्वत्र रसानुरूप छन्द-योजना ही इष्ट है।

तृतीय विन्यास में छन्दो के साधक-बाधक कारणों का निर्देश करने के उपरान्त ऊपरिनिर्दिष्ट छन्दों मे से प्रत्येक के प्रयोग की उत्कर्ष-अपकर्षपूर्ण स्थिति पर एव उनकी भावानुरूप अवस्था पर प्रकाश डाला गया है। एक व्यावहारिक समीक्षक की भाँति सोदाहरण व्याख्या भी की गई है। सारभूत बातें इस प्रकार है

१. पुराण-सदृश उपदेश-प्रधान सरल काव्यो मे, प्रबन्ध काव्यों के कथारम्भ व कथा-सक्षेप के अवसरो पर, शात रस प्रधान कृतियो मे 'अनुष्टुप्' छन्द ही सर्वाधिक अनुकूल होता है।

२. शृगार रस में, नायिका-वर्णन व वसत-वर्णन मे 'उपजाति' छन्द ही शोभाधायक होता है।

३. चंद्रोदय-वर्णन मे तथा उद्दीपन विभाव के निरूपण मे 'रथोद्धता' छन्द ही श्रेष्ठ होता है।

४. नीति-प्रधान कृतियो मे 'वंशस्थ' छन्द उपकारक सिद्ध होता है।

५. वीर तथा रौद्र रस के सकर मे वसंततिलका' ही अधिक अनुकूल है।

६. तथ्यो के परस्पर भेद-निरूपण में 'शिखरिणी' ही अधिक उपयुक्त है।

७ उदारता के निरूपण मे 'हारिणी' का प्रयोग ही उचित है।

८. आक्षेप, क्रोध, तिरस्कार, धिक्कार की व्यजना के अवसर पर 'पृथ्वी' छन्द ही विशेष सुखकर होता है।

९. वर्षा, प्रवास, विपत्ति आदि के वर्णन पर 'मन्दाक्रान्ता' छन्द का प्रयोग ही इष्ट है।

१० राज-स्तुतियाँ, प्रशस्तियाँ व शौर्यादि-वर्णन मे 'शार्दूल विक्रीडितम्, छन्द ह अनुकूल है।

११. वेगपूर्ण चलते पवन, प्रभजन का वर्णन करने मे 'स्रग्धरा' छन्द अधिक अनुरूप है।

१२. मुक्तक-रचनाओ मे 'दोधक', 'तोटक' और 'नर्कुट' छन्दो का प्रयोग अत्यधिक उपकारक होता है।[1]

हिन्दी मे रीतिकाव्य मे वर्णिक छन्दो की अपेक्षा मात्रिक छन्दो का प्रयोग विशेष हुआ है। हिन्दी की प्रकृति को मात्रिक छन्द ही विशेष अनुकूल है। इस विषय में डॉ० नगेन्द्र का निम्न कथन द्रष्टव्य है—

"हिन्दी की प्रकृति एकात विश्लेषण-प्रधान है— अतएव उसकी रुचि स्वभाव से ही मात्रिक छन्दों पर रही। वीरगाथा काल मे वर्णिक छन्दो का भी प्रयोग हुआ परन्तु

१. आचार्य क्षेमेन्द्र : सुवृत्त तिलकम्, पृ० ४८ से ५४

उनकी अपेक्षा दोहा, छप्पय, पद्धटिका आदि मात्रिक छन्द ही कहीं अधिक प्रचलित थे। भक्तिकाल के गेय-पदों को तो मात्रिक छन्दों का कोमलतम रूप कहा जा सकता है, उनका सौंदर्य सर्वथा स्वरों पर ही आश्रित है। परन्तु भक्तिकाल के उपरान्त रीति काव्य को अचानक ही दो वर्णिक छन्दों ने—मेरा अभिप्राय सवैया और घनाक्षरी से है—आच्छादित कर लिया।"[1]

रीतिकाल का सर्वाधिक प्रिय एवं अधिकाधिक व्यवहृत छन्द है 'सवैया'। "रीति-काल के मुक्तक शृंगार-चित्रों में वह ऐसा जमकर बैठकर गया था मानो उसका जन्म उन्हीं के लिए हुआ हो।"[2]

इस युग के अन्य प्रमुख प्रयुक्त छन्दों में हैं—दोहा, बरवै, घनाक्षरी, कुंडलिया, कवित्त, छप्पय आदि। देव और पद्माकर ने घनाक्षरियों का, बिहारी ने 'दोहा' छन्द का, रहीम ने 'बरवै' छन्द का, गिरिधर कवि ने 'कुंडलियों' का, घनानन्द ने 'सवैया' का, भूषण ने 'छप्पय' एवं 'कवित्त' जैसे वीर रसात्मक छन्दों का, सेनापति ने कवित्त' और मतिराम ने दोहा, कवित्त एवं सवैयों का, सुन्दर सफल प्रयोग किया है। केशव ने प्रायः सभी प्रचलित (एवं अप्रचलित) छन्दों का प्रयोग किया है।

डॉ० विजयपाल सिंह ने केशव द्वारा प्रयुक्त भाव एवं रसानुकूल छन्दों का विस्तृत विवेचन किया है। छन्द-प्रयोग के वैविध्य व कौशल पर अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए, वे लिखते हैं कि 'हिन्दी में केशव को छोड़कर अन्य किसी कवि ने इतने छन्दों का प्रयोग नहीं किया, जितना केशव ने।"[3]

केशव द्वारा प्रयुक्त मात्रिक छन्द हैं दोहा, छप्पय, सवैया, पद्मावती, रोला, सोरठा, चौपाई, घत्ता, प्रज्झटिका, अरिल्ल, पादाकुलक, त्रिभंगी, सुखदा, डिल्ला, कुंड-लियाँ, गीतिका, मधुभार, मोहन, विजया, शोभना, हीर, हरिप्रिया, हरिगीतिका, चौबोला, रूपमाला, चचरी।

केशव द्वारा प्रयुक्त वर्णिक छन्दों के नाम इस प्रकार हैं—श्री सार, दंडक, तरणिजा, मदिरा, समानिका, सोमराजी, कुमारललिता, नगस्वरूपिणी, हंस, नाराच, विशेष, चचला, शशिवदना, शार्दूल विक्रीडितम्, मल्ली, विजोहा, तरंगम, कमला, सम्रता, मोदक, तारक, कलहंस, स्वागता, मोटनक, अनुकूला, भुजंग प्रयात, तामरस, मत्तगयंद, मालिनी, चामर, चन्द्रकला, किरीट, मोतियदाम, सारवती, स्वग्नि गति, द्रुतविलंबित, चित्रपदा, मत्त मातंग, लीलाकरण, दुर्मिल सवैया, अनंग शेखर, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, चन्द्रवर्त्म, वंशस्थविलम्, प्रतिभाक्षरा, पृथ्वी, कवित्त चामर, सुन्दरी, तोटक, गंगोदक, मनोरमा, कमल, हीरक, दोधक, हरिलीला एवं नलिनी।[4]

---

१. डॉ० नगेन्द्र : देव और उनकी कविता, पृ० २४४
२. वही, पृ० २४६
३. डॉ० विजयपालसिंह : केशव और उनका साहित्य, पृ० ३१७
४. वही, पृ० ३१८

केशव ने वीर, रौद्र एव भयानक रसो की उत्तम अभिव्यजना के लिए छप्पय, नाराच, वंशस्थ आदि छन्दो का प्रयोग किया है—

तहँ अमान पठ्ठान ठान हिय बान सु उठ्ठिव ।
जहँ 'केसव' कासी-नरेस दल-रोष भरिठ्ठिव ।
जहँ तहँ पर जुरि जोर ओर चहुँ दुदुभि बज्जिय ।
तहाँ त्रिकट भट सुभट छटक घोटक तन तज्जिय ।
जहँ रतनसेन रन कहँ लिव हल्लिव महि कंप्यो गगन ।
तहँ ह्वै दयाल गोपाल तव विप्रभेष बुल्लिय बयन ।।[1]

वशस्थ का प्रयोग भी वीर रस मे बहुत सफल हुआ है -

तपी जपी विप्रन क्षिप्रही हरौं ।
अदेव द्वेषी सब देव सहरौं ।
सिया न दैहौं यह नेम जी धरौं ।
अमानुषी भूमि अबानरी करौं ।।[2]

इसी प्रकार त्रिभगी का प्रयोग भी बहुत सफल हुआ है—

सुग्रीव-सँघाती, मुखदुति राती, 'केसव' साथ हि सूर नए ।
आकासविलासी, सूर प्रकासी, तबही बानर आइ गए ।
दिसि दिसि अवगाहन, सीतहि चाहन, जूथप जूथ सवै पठए ।
नल नीलरिक्षपति, अंगद के सँग, दक्षिन दिसि कौं विदा भए ।।[3]

केशव ने घोडे के वर्णन मे 'चंचला' छन्द को प्रयुक्त किया है, जिसकी गति अश्व की गति से मिलती है—

भोर होत ही गयो सु राजलोक मध्य बाग ।
बाजि आनियो सु एक इगितज्ञ सानुराग ।
सुभ्र सुद्ध चारिहून अंस रेनु के उदार ।
सीखि सीखि लेत हैं ते चित्त चंचला प्रकार ।।[4]

छन्द पढते समय ऐसा लगता है, मानो घोडा दौड रहा हो ।

अनौचित्य

औचित्य की ही भाँति अनौचित्य की भी द्विविध—भावात्मक एव अभावात्मक स्थितियाँ स्वीकृत है । औचित्य का अभाव, अनौचित्य की उपस्थिति ये दोनो 'अनौचित्य' सज्ञा में अंतर्भुक्त है । जिस प्रकार गुणो का अभाव ही 'दोष' नही, दोष

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र केशव ग्रंथावली, खड ३, पृ० ४६६
२ वही, खड २, पृ० ३१७
३. वही, पृ० २६७
४. वही, पृ० ३८२

की स्वतन्त्र सत्ता भी काव्यशास्त्र में गृहीत है उसी प्रकार औचित्य का अभाव ही अनौचित्य नहीं अनौचित्य की अलग सत्ता भी है। ये दोनों स्थितियाँ परस्पर इस प्रकार गुम्फित हैं कि एक का विचार करते ही दूसरी सहज ही उपस्थित हो जाती है।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने इस बात को इस रूप में प्रस्तुत किया है—

"भारतीय साहित्य-शास्त्र ने काव्य आदि का विचार करने के लिए एक विशेष प्रकार की दृष्टि विकसित की, जिसका मुख्य आधार रस हुआ। यह रस आस्वाद से उपमित किया गया है। किसी पदार्थ के खाने में उसका स्वाद अनेक कारणों से बिगड़ता है। स्वाद को बिगाड़ने वाले इन कारणों, तत्वों आदि को जो रोके रहे, वही औचित्य है।"[1]

आचार्यजी के विचार से रसास्वाद को बिगाड़ने वाला तत्त्व अनौचित्य तथा उसके परिहार करने में प्रयत्नशील तत्त्व औचित्य है। अतः औचित्य के अभाव में अनौचित्य अधिक उभर आएगा और रसास्वाद का अपकर्ष करेगा। जहाँ-जहाँ औचित्य का अभाव होगा, वहाँ-वहाँ अनौचित्य की व्याप्ति होगी। अनौचित्य का प्रसार रोकने के लिए औचित्य को उसके प्रयोक्ता को द्विविध कार्य करना पड़ेगा—अनौचित्य का परिहार करना एवं औचित्य की स्थापना करना।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने जहाँ औचित्य के प्रभेदों की सोदाहरण व्याख्या की है, वहीं अनौचित्य का भी उदाहरण सहित व्याख्यान कर दिया है। व्यावहारिक समीक्षा का मार्ग उद्घाटित कर आचार्य ने संस्कृत-समीक्षा को एक नितान्त नवीन भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उन्होंने ऐसा करते समय स्वयं अपनी रचनाओं के भी दोष प्रस्तुत किये हैं और अल्पज्ञात कवियों की सुन्दरता व प्रसिद्ध कवियों की त्रुटियों पर एक-सी सन्तुलित दृष्टि डाली है। अनौचित्य के प्रायः उतने ही भेद हैं, जितने औचित्य के। इस औचित्य-अनौचित्य का क्षेत्र बड़ा विशाल है। उसका कहीं पार नहीं। अतः सत्ताईस भेदों का (प्रमुख भेदों का) निरूपण कर चुकने के बाद लेखक कहता है—"अन्येषु वा काव्यांगेषु अनयैव दिशा स्वयम् औचित्यम् उत्प्रेक्षणीयम्। तदुदाहरणानि, आनन्त्यात्, न प्रदर्शितानि।" अर्थात् इसी प्रकार अन्य काव्यांगों में औचित्य-अनौचित्य की कल्पना कर लेनी चाहिए। प्रस्तुत विवेचन में हमने कुछ प्रमुख अनौचित्यों पर ही विचार किया है।

पदानौचित्य

अनुचित पद-प्रयोग को पद-अनौचित्य कहा जाता है। वक्ता, प्रसंग, परिस्थिति एवं भाव के सन्दर्भ में ही पद-प्रयोग के अनौचित्य का निर्णय किया जाता है। पद स्वयं शुद्ध एवं व्याकरण-सम्मत हो सकता है, परन्तु जिस सन्दर्भ में वह प्रयुक्त किया गया हो, वह उसके प्रयोग के लिए अनुरूप नहीं भी होता। व्याकरण में 'हन्' धातु गत्यर्थक भी है, किन्तु वह 'हनें' (to kill) मारणार्थ प्रयोग में इतना रूढ़ हो चुका है कि अब

1 देखिए परिशिष्ट में दिया गया आचार्यजी का पत्र।

कोई उसे गत्यर्थक रूप मे प्रयुक्त नही करता है—यथा—'कुज हन्ति कृशोदरी।' मे 'हन्' का गत्यर्थक प्रयोग व्याकरण-सिद्ध होते हुए भी प्रयोग-सिद्ध नही है। इसी प्रकार लिंग, साधन आदि शब्द विशेष सदर्भ का बोध कराने वाले शब्द है, जिनका प्रयोग भी उन सदर्भो से भिन्न रूप मे नही हो सकता है। सारांश यह कि कोषपलब्ध होने पर भी यदि शब्द उस अर्थ मे प्रयोग-रूढ नही है तो उसका उस अर्थ मे प्रयोग नही करना चाहिए।

रीतिकालीन कविता मे कुछ ऐसे उदाहरण अवश्य मिल जाते है, जहाँ पद-प्रयोग सुचिंतित नही प्रतीत होता, यथा—

विषमय यह गोदावरी अमृत के फल देति।
केशव जीवनहार को दु:ख अशेष हरि लेति ॥[1]
अमानुषी भूमि अवानरी करौ।[2]

प्रथम उदाहरण मे केशवदास ने 'विष' पद का 'जल' के अर्थ में प्रयोग किया है। 'जल' को 'जीवन' भी कहते है और 'विष' भी। 'अमरकोष' मे भी जल का एक पर्याय 'विष' (विषमप्सुच ३।३।२३२) मिलता है। किन्तु "विष" शब्द जहर के अर्थ मे इतना रूढ हो गया है कि अब उसका अर्थ—'जल' -केवल कोष मे ही सुरक्षित है। केशव ने विरोधाश्रित चमत्कार का प्रभाव दिखाने के लिए इस प्रकार के प्रयोग का आश्रय लिया है। इसी प्रकार 'जीवन' जल का वाचक है, फिर भी उसका उस रूप मे प्रयोग नही पाया जाता। लक्षणा के बल पर अथवा आयुर्वेद के ग्रथो मे उसका वैसा प्रयोग अगर मिल भी जाय तो भी साहित्य मे वह अरूढ ही है। 'आयुर्वैघृतम्' मे लक्षणा के बल पर 'घी' आयुष्य का बोध कराता है, किन्तु हम 'आयु' शब्द के स्थान पर 'घृत' का प्रयोग थोडे ही करते है। शास्त्रीय पदावली मे यहाँ निहतार्थ दोष हुआ। पद-सम्बन्धी सारे दोष पद-गत अनौचित्य के ही उदाहरण है।

इसी प्रकार 'अमानुषी भूमि अवानरी करौ' मे भी पदगत औचित्य का भग हुआ है। इष्टार्थ यह है कि मैं पृथ्वी को मानव एव वानरो से विहीन करूँगा। परन्तु क्रम उचित नही होने से अर्थ की भ्राति उत्पन्न होती है। भ्रान्त अर्थ यह है कि "भूमि प्रथम मे ही 'मानव विहीन' है और अब उसे केवल 'वानरविहीन' करना है।" इसे 'अक्रमत्व' दोष कहते हैं।

सेनापति कहत कहाँ है रघुवीर कहौ ?
छोह भर्‌यो लोह करिबै कौ निरधार है।[3]
आधे अन-सुलगि, सुलगि रहे आधे, मानौ
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं।[4]

---

१. लाला भगवानदीन केशव कौमुदी, भाग १, पृ० १७६
२. वही, पृ० २६५
३. उमाशकर शुक्ल . कवित्त-रत्नाकर, पृ० ७६
४. वही, पृ० ५५

सेनापति ने 'निरधार' शब्द का 'निर्मूल' अथवा 'निर्वंश' के अर्थ में प्रयोग किया है जो इष्टार्थ की कथमपि अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। प्रायः 'निरधार' में 'निश्चय ही' का बोध होता है। कभी-कभी 'निराधार' के अर्थ में भी 'निरधार' का प्रयोग किया जाता है परन्तु 'निर्वंश कर डालने' के अर्थ में 'निरधार' का प्रयोग नहीं पाया जाता। इष्टार्थ की अभिव्यक्ति नहीं कर पाने वाले पद का प्रयोग यह 'असमर्थत्व' दोष है। अतः यह पद-प्रयोग भी उचित नहीं है।

दूसरे उदाहरण में सेनापति ने छंदानुरोध से 'कोयला' को 'कवैला' कर दिया है। शब्द का रूप विकृत करने से अर्थ की प्राप्ति में अवरोध उपस्थित होता है। सेनापति ने कहीं-कहीं ऐसे शब्द गढ़े हैं जो व्याकरण-सम्मत न होने के कारण उचित नहीं प्रतीत होते : बुढ़ापा, एकाके, पतता आदि।

पलाश-पुष्प की उपमा अध-जले कोयले से देकर तथा विरही को जलाने के लिए उनकी कारण-कल्पना कर कवि ने कुछ नवीनता अवश्य उपजाई है किन्तु शब्द का रूप विकृत कर देने से अर्थ की प्रतीति कष्टकर हो गई है।

लपटी पुहुप-पराग-पट सनी स्वेद मकरंद।
आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद वायु गति मंद ॥[1]
मन सूक्यौ बीत्यौ बनौ उखउ लई उखारि।
हरी-हरी अरहरि अजौ धरि धरहरि हियनारि ॥[2]

बिहारी के इस दोहे में 'पुहुप' पद का प्रयोग अनावश्यक है। 'पराग' शब्द में ही 'पुष्प' का अन्तर्भाव हो जाता है। 'पराग' पुष्प का ही होता है। जिस प्रकार 'विन्ध्याचल' कहने के बाद 'पर्वत' कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि 'अचल' पर्वत का बोध करा देता है, उसी प्रकार 'पराग' कहने से ही 'पुष्प' का ग्रहण हो जाता है, अलग से 'पुहुप' कहना व्यर्थ है।

अन्य उदाहरण में बिहारी द्वारा 'धरहरि' पद का प्रयोग 'धैर्य' के अर्थ में किया गया है जो उस अर्थ को प्रगट नहीं कर पाता। यहाँ असमर्थत्व दोष आ गया है।

बैरि नारि दृग जलन सों बूडिजात अरि गाँव।[3]

भूषण ने एक ही पंक्ति में दो बार 'बैरि' और 'अरि' पदों का प्रयोग किया है। दोनों पद शत्रु के वाचक हैं। 'शत्रु-नारियों के नेत्र जल में शत्रुओं के गाँव डूब गए।' इसमें पुनरुक्ति दोष के कारण अर्थ-प्रभाव क्षीण हो गया है।

लाल अमोलक लालची, करत कोटि मनुहारि।
मन्दिर आवत इन्दिरा, दै न किवारि गँवारि ॥[4]

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० २११
२ वही, पृ० २१५
३. वही. भूषण ग्रंथावली, पृ० १०५
४ हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरंद, पृ० २१२

मतिराम ने लक्ष्मी के स्थान पर 'इन्दिरा' पद रखकर इस मुहावरे या कहावत को बे-जान कर दिया है। मुहावरे की व्यजना का सारा बल 'लक्ष्मी' पद पर ही है। उसके स्थान पर अन्य पर्याय रखने मे उसका सारा सौंदर्य ही खत्म हो गया है। कोई भी अन्य शब्द उसका स्थानापन्न नही बन सकता।

तऊ बिन बिचारनि ही जोति-जाल नमी है।[1]

ह्वै है सोऊ घरी भाग-उघरी अनन्द घन,
सुरस बरसि लाल देखिहौ हरी हमैं ॥[2]

इन उदाहरणो में घनानन्द ने 'बिचारनि' और 'हरी हमैं' प्रयोग किये है जो सुचिन्तित नही है। 'बिचारनि' विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है और अर्थ है 'बेचारे'। किन्तु इससे विचार के बहुवचन का बोध हो जाता है और इष्टार्थ नेत्र-पथ से विलुप्त हो जाता है। इसी प्रकार 'देखिहौ हरी हमैं' प्रयोग मे भी अर्थ-वैपरीत्य बोधित हो जाता है। ब्रजभाषा मे 'हरी होना' या 'हरी देखना' गाय, भैंसादि के गर्भ धारण करने की स्थिति मे प्रयुक्त होते है। जबकि कवि ने यहाँ 'हमे प्रसन्न देखोगे।' के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। संस्कृत मे अश्लीलता की तनिक भी सम्भावना पैदा कर देने वाले शब्दो या शब्द-योगो को सदैव वर्जित करने का शास्त्रादेश है—'रुचि' और 'कुरु' शब्दो का एक साथ प्रयोग इसी कारण निषिद्ध है। इस प्रकार यहा पर 'लाल देखिहौ हरी हमे' —पूरा प्रयोग अश्लील की सम्भावना मे ग्रस्त एव अनुचित है।

कीजन फिराद सुनि लीजियै हमारी गंगा
सावन के साथी दुख दिग्गज डिगाए तू ॥[3]

पद्माकर ने 'फरियाद' को 'फिराद' कर दिया है। फारसी के शब्दो को ब्रजभाषा की दीक्षा देने की इस प्रवृत्ति से अर्थ का अपकर्ष होता है।

ऊपर केशव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द, भूषण, सेनापति और पद्माकर के कुछ उद्धरणो द्वारा पद-गत अनौचित्य पर विचार किया गया है। इस श्रेणी मे देव का उल्लेख न होने से यह न मान लिया जाय कि देव की पद-योजना सर्वथा निर्दोष है। रीतिकालीन कवियो मे शब्दो का तोड-मरोड सर्वाधिक देव ने किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो देव की इस प्रवृत्ति से किंचित् खिन्न भी थे। इस विषय मे डॉ० नगेन्द्र जी का निम्नलिखित मतव्य देखा जा सकता है—

"देव पर शब्दो को विकृत करने का दोष लगाया जाता है। प० रामचन्द्र शुक्ल इस अपराध मे भूषण के साथ ही देव की भी गणना करते हैं। वास्तव मे इस प्रसंग मे भूषण के साथ देव की तुलना तो उनके साथ बडा अन्याय है। परन्तु वैसे यह आरोप उचित ही है। लाला भगवानदीन ने देव के द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्दो का विश्लेषण करते हुए उनके अनौचित्य का अत्यन्त प्रामाणिक विवेचन किया है। देव ने यमक, अनु-

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र घनानद कबित्त, पृ० २०
२ वही, पृ० ६२
३ वही, पद्माकर ग्रथावली, पृ० २६७

प्रास अथवा तुक के लिए शब्दों की बहुत बड़ी तोड़-मरोड़ की है। ऐसा करने में उन्होंने भाषा-विज्ञान के नियमों का उल्लंघन ही नहीं किया, कहीं-कहीं तो उनका रूप ऐसा बदल दिया है कि वे सर्वथा नवीन शब्द ही प्रतीत होते हैं, जिनका अर्थ लगाना असंभव हो जाता है। इस शब्द-विकृति के मूल में प्रायः दो कारण हैं : एक तुक का आग्रह दूसरा यमक अथवा अनुप्रास का आग्रह। तुक के आग्रह से कंदुक का कंद बन जाता है, इच्छा का ईछा, अभिलाषिणी का अभिख्या, हिरण्य का हिरन, तुला का तुलही, उल्लसित हृदयावली का हिये उलही, विदित का बयोत, द्वन्द्व का दंदरा।"[1]

वाक्य-अनौचित्य

वाक्य-विषयक अनौचित्य को वाक्य-अनौचित्य कहते हैं। वाक्य-गत समस्त दोषों का इसमें अन्तर्भाव हो जाता है—विशेषतः दूरान्वय दोष का। वाक्य में कर्त्ता, कर्म, क्रिया, विशेषण, विशेष्य इत्यादि की एक सुनिश्चित व्याकरणिक स्थिति होती है। इस क्रम या स्थिति का व्यतिक्रम व्याकरण में सामान्यतः असह्य है। मौखिक व्यवहार में भी एक सीमा तक ही वह सह्य होता है। यद्यपि काव्य में व्याकरणानुसार पद-क्रम नहीं होता तदपि उसका ऐसा होना तो आवश्यक माना ही गया है, जिससे अर्थ-प्रतीति विशृंखल व विघटित न हो। काव्यशास्त्र में इस प्रकार के व्यतिक्रम को 'दूरान्वय' संज्ञक दोष माना गया है।

रीतिकाल का कवि इन दोषों से बच नहीं पाया है। निम्न उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी

कहति न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति।
पंजर-गत मंजार-ढिग सुक लौं सूकति जाति॥[2]

बिहारी के इस दोहे में 'दूरान्वय' दोष के कारण अर्थ की क्लिष्टता उपस्थित हुई है। 'पंजरगत' विशेषण 'सुक' के लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु विशेष्य और विशेषण के बीच 'मंजार' पद आ पड़ा है। 'सुक' तो कहीं दूर पड़ गया है। फलतः 'पंजर गत' विशेषण का 'मंजार' पद से सम्बन्ध स्थापित कर विपरीत अर्थ की सम्भावना हो जाती है।

या गिरि पर सुग्रीव नृप, ता सँग मन्त्री चारि।
बानर लई छड़ाइ तिय, दीन्हो बालि निकारि॥[3]

केशव ने इन उक्तियों में पदान्वय की उलझी हुई योजना कर वांछित अर्थ को उलझा ही नहीं दिया बल्कि उलटे अर्थ की प्रतीति करा दी है। इस पद का इष्टार्थ इस प्रकार है—

"इस पर्वत पर राजा सुग्रीव रहते हैं। उनके साथ उनके चार मन्त्री हैं।

१. डॉ॰ नगेन्द्र : देव और उनकी कविता, पृ॰ २१७
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ॰ १७४
३. लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी, प्रथम भाग, पृ॰ २०४

बालि नामक वानर ने उनकी स्त्री छीन ली है और उन्हें निकाल दिया है।"

परन्तु पदान्वय की उलझन ने अर्थ को भी इस प्रकार गड़बड़ कर दिया है
"इस पर्वत पर राजा सुग्रीव रहते हैं। उनके चार मन्त्री हैं। वानरों ने बालि को निकाल दिया और उसकी स्त्री छीन ली।"

छरी सपल्लव लाल कर, लखि तमाल की बाल।
मुरझानी हिय माल धरि, फूल-माल सी हाल ॥[1]

मतिराम के इस दोहे में भी दूरान्वय दोष के कारण अर्थ प्राप्ति में विघ्न उपस्थित होता है। यहाँ पर 'लखि' 'उरमाल', और 'हाल' पदों का स्थान एक-दूसरे से दूर पड़ जाने के कारण अर्थ दुर्बोध बन गया है। इस पर डॉ० महेन्द्र कुमार का कथन इस प्रकार है -

"इसका अन्वय ऐसे होगा—तमाल की सपल्लव छरी लाल कर (में) लखि (और) उर (में) माल धरि, फूलमाल - ज्यों-बाल हाल कुम्हिलानी। इसमें स्पष्ट है कि 'लखि' और 'उरमाल' दूर पड़ गये हैं, जबकि 'हाल' को उचित स्थान ही नहीं मिल सका।"[2]

काके कहैं लूटत सुने हो दधि-दान में ॥[3]
धरत न धीर, उर अधिक अधीर मैं।[4]

ओठन ते उठि पीठि पै बैठि, कपोल पै ऐंठि मुर्यो मुख मोरनि।
देव कटाच्छन ते कढ़ि कोपि, लिलार चढ़्यो बढ़ि भौंह मरोरनि।
अँक में आय मयंक-मुखी लई, लाल को बंक चितै दृग-कोरनि।
आँसुन बूड्यो उसास उड्यो किधौं मान गयो हिलकी हिलोरनि ॥[5]

ऊपर उद्धृत तीनों उदाहरण देव की कविता से चुने गये हैं।

प्रथम उद्धरण में—'काके कहैं लूटत सुने हो दधि-दान मैं' में—पदक्रम कुछ ऐसा है कि अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है। वस्तुतः 'मैं सुनेहो' एक साथ और 'काके कहैं लूटत' एक साथ होने चाहिए।

इसी प्रकार 'धरत न धीर, उर अधिक अधीर मैं'—में अधिक अधीर आदि 'उर' के विशेषण हैं। इन विशेषणों का स्थान विशेष्य 'उर' के पूर्व होना चाहिए। 'अस्थान पद' दोष के कारण अर्थ उलझ गया है।

अंतिम उद्धरण में कर्ता 'मान' अंतिम पंक्ति में आने से बहुत दूर पड़ गया है, अतः 'दूरान्वय दोष' बन गया है। इस विषय में डॉ० नगेन्द्रजी की ये पंक्तियाँ

१ हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरंद, पृ० २०६
२. डॉ० महेन्द्रकुमार : मतिराम कवि और आचार्य, पृ० २२४
३. डॉ० नगेन्द्र : देव और उनकी कविता, पृ० २२७
४ वही, पृ० २२७
५. वही, पृ० २२८

द्रष्टव्य है —

"इस छंद में कर्त्ता 'मान' बिल्कुल अंत में आया है। रीतिकाल की परिपाटी के अनुसार इसको स्वीकार भी कर लिया जाये, परन्तु तीसरे चरण में एक गर्भित वाक्य और आ गया है, जिससे यह अन्तर और भी बढ़ गया है और फिर इस गर्भित वाक्य का अन्वय नहीं बैठता। इसके अतिरिक्त ऐसे पद-समूह, जिनका कोई भी अन्वय नहीं बैठता, देव में एक नहीं, अनेक है, कहीं-कहीं पाठ की अशुद्धि मानी जा सकती है ?"[1]

प्रबंध-अनौचित्य

नवीन अर्थोद्भावना, वस्तुसंगठन एवं अविच्छिन्न कथा-प्रवाह प्रबंधौचित्य के अंतर्गत समाविष्ट होते है, तो तद्विपरीत क्लिष्टकल्पना, वस्तु-शैथिल्य एवं अवरुद्ध कथा-प्रवाह प्रबंधगत अनौचित्य के अंतर्गत स्थान पाते हैं।

रीतिकाल में केवल एक ही महाकाव्य रचा गया है और वह है 'रामचंद्रिका'। उसमे 'क्लिष्ट कल्पना', 'वस्तु-शैथिल्य' और अवरुद्ध कथा-प्रवाह' सभी प्राप्त है।

'रामचंद्रिका' के प्रबंधत्व को लेकर समीक्षकों के परस्पर-विरोधी विचार प्रवर्तमान है। कुछ उसे नितान्त असफल प्रबंध-काव्य मानते है, तो कुछ उसे शिथिल प्रबंध-महाकाव्य कहते है। 'रामचंद्रिका' को असफल अथवा शिथिल प्रबंध-काव्य कहने वालो के प्रमुख तर्काधार है—

(१) वर्णन व्यामोह के कारण कथा उपेक्षित हो गई है।
(२) चिर-परिचित राम-कथा मे कुछ प्रसंग छोड़ देने से उसकी मार्मिकता आहत हुई है।
(३) कवि द्वारा की गई कुछ मौलिक उद्भावनाओं का काव्य की कथा, प्रबंधत्व व चरित्र-चित्रण पर विपरीत परिणाम हुआ है।
(४) भक्ति के स्थान पर राम के ऐश्वर्य-प्रभाव का वर्णन होने से रचना रसमयी व प्रभावपूर्ण नहीं बन पाई है।
(५) अलंकार व चमत्कारप्रियता के कारण भी काव्य-सौंदर्य को आघात पहुँचा है।
(६) छंद-बाहुल्य व पांडित्य-प्रदर्शन भी उसकी विफलता का एक प्रमुख कारण है।
(७) मार्मिक प्रसंग अव्याख्येय रह गए है या चलते ढंग से वर्णित कर दिये गए हैं।

विपक्ष के तर्क हैं—

(१) रामचंद्रिका, जीवन-चरित या इतिहास नहीं है।

---

१ डा० नगेन्द्र : देव और उनकी कविता, पृ० २२८

(२) रामकथा विश्रुत है, अत कुछ प्रसग छोड देने से एकसूत्रता मे आघात नही पहुँचता।

(३) तत्कालीन राजनीति व कूटनीति का संस्पर्श देकर कवि ने उसे अधिक मौलिक व आकर्षक बना दिया है।

(४) कवि का उद्देश्य राम का चरित लिखना या भक्ति-प्रदर्शन नही है। वह तो राम के ऐश्वर्य व वैभव की 'चन्द्रिका' को प्रकाशित करना चाहता है।[1]

दोनो पक्षो के विचार पर चिन्तन करने के उपरान्त भी यह तो कहा जा सकता है कि कथा स्थान-स्थान पर अवश्य अवरुद्ध होती प्रतीत होती है।

गुण-अनौचित्य

रस-विरोधी गुणो की योजना 'गुण-अनौचित्य' कही जाती है। ओज गुण के प्रकर्षक ट ठ ड ढ ण, रेफ युक्त ष आदि का शृगार-रस के प्रसग मे प्रयोग अनुचित है। गुणो को रस के स्थिर धर्म कहा गया है। अत विभिन्न रसो के उत्कर्ष-अपकर्षाधायक गुणो की व्यवस्था भी सुस्थिर की गई है। रीतिकालीन कविता मे कही-कही इसका व्यतिक्रम भी पाया जाता है—

लटकि लटकि लटकत चलत डटत मुकुट की छाँह।
चटक भर्‌यो नट मिलि गयौ अटक-भटक-बट माँह॥[2]

प्रस्तुत दोहे मे बिहारी ने 'ट' की बारम्बार आवृत्ति कर अर्थ को अटका दिया है। 'ड' की योजना भी वर्ण्यानुरूप नही है। यहा प्रतिकूल-वर्णत्व नामक दोष आ गया है। शृगार-रस के इस प्रसग मे वर्णयोजना ने नायिका के ही अभीष्टार्थ को भी भटका दिया है। ओजगुण-प्रधान यह योजना शृंगार-रस के प्रतिकूल है।

एक धर्म गृह खम्भ जभरिपु रूप अवनि पर।
एक बुद्धि गभीर धीर बीराधिबीर वर।
एक ओज अवतार सकल सरनागत रच्छक।
एक जासु करबाल निखिल खलकुल कहै तच्छक।
'मतिराम' एक दाता निमनि जग जस अमल प्रगट्टियउ।
चहुवान बस अवतंस इमि एक राव सुरज न भयउ॥[3]

मतिराम के इस छद मे ओज गुण की स्थिति ठीक-ठीक नही बन पायी है। 'सुर्ज्न राव' की वीरता का वर्णन करने मे कवि यहाँ सफल नही हो पाया है। इस असफलता का प्रमुख कारण है—रस-विरोधी गुण-योजना। ब्रजभाषा स्वभावत: कोमल है। वीर-रस की योजना करने के लिए ब्रजभाषा के स्वरूप को तोडना-मरोडना अनि-

---

१ डॉ० विजयपालसिंह : केशव और उनका साहित्य, पृ० २९५
२ विश्वनाथप्रसाद मिश्र . बिहारी, पृ० २११
३ डॉ० महेन्द्रकुमार : मतिराम, कवि और आचार्य, पृ० २३२

अनिवार्य होता है। मतिराम ने ब्रजभाषा को अपने प्रकृत रूप में ही अपनाया है। फलतः वे वीर रस का समुचित प्रकर्ष नहीं दिखा पाये हैं। डॉ० महेन्द्रकुमार का निम्नलिखित उद्धरण इस तथ्य का समर्थन करता है—

"वीररस की रचनाओं के लिए ब्रजभाषा 'ओज' गुण की दृष्टि से अनुकूल नहीं पड़ती और मतिराम इस गुण को जबर्दस्ती ठोकने के लिए शब्दों की तोड़-मरोड़ उपयुक्त नहीं समझते। ऐसी दशा में वे उतने सफल नहीं हो पाये जितने शृंगारिक रचनाओं में हुए हैं।"[1]

हाथ धरे हथियार सबै तुम सोभत हौ।
मारनहारहिं देखि कहा मन छोभत हौ।
छत्रिय के कुल ह्वै किमि बैन न दीन रचौ।
कोटि करो उपचार न कैसहु मीचु बचौ॥[2]

केशव के इस छन्द में भी गुण की योजना रौद्र रसानुरूप नहीं है। प्रसंग जितना रौद्र रस से पूर्ण है, उसका निरूपण उतने ओजगुण युक्त शब्दों में नहीं हुआ है। इस विफलता का एक कारण छन्द-योजना भी है। 'विशेषक' छन्द वीर या रौद्र रस के अनुकूल नहीं जान पड़ता है। यहाँ गुणौचित्य का निर्वाह नहीं हुआ है।

अलंकार-अनौचित्य

रीतियुगीन जीवन में सभी क्षेत्रों में अलंकार, प्रदर्शन व चमत्कृति का प्राधान्य रहा है। काव्य में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। अलंकारों की भरमार सर्वत्र दिखाई देती है किन्तु अलंकार यदि यत्नज, पृथक्-विन्यस्त हों तो वे शोभा बढ़ाने के स्थान पर शोभा घटाते हैं। अलंकार-योजना के लिए अवसर खोजते रहना, जरा-सा अवसर पाते ही अलंकारों की वर्षा-सी करना, यह प्रयोक्ता के अलंकार-पाण्डित्य का प्रदर्शन-मात्र हो सकता है, विशेष कुछ नहीं। 'तारा' नाम के सादृश्य मात्र से चन्द्रमा को अंगद का पिता कह देना; ध्रुव, भीम, अर्जुन शब्दों का अवसर पाकर वृक्षों को भीम, अर्जुनादि के समान कह देना, या 'जाह्नवी' में सभंग पद श्लेष द्वारा 'जाह', 'नवी' अर्थ कर गंगा का अद्भुत प्रभाव निरूपित करना आदि कवि के अलंकार-व्यामोह एवं स्थूल चमत्कार (शाब्दिक) के प्रति मोह को ही प्रकट करता है; विशेष कुछ नहीं। कहीं-कहीं तो यह प्रवृत्ति चित्र को बहुत ही भौंड़ा बना देती है। रीतिकालीन काव्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाएँगे, जहाँ अलंकार-योजना सुचिंतित व सहज-प्रभावोत्पादक नहीं हो पाई है।

अनुप्रास का अनौचित्य

नभलाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रतिपाली, आली अनत, आए बनमाली न॥[3]

---

१. डॉ० महेन्द्रकुमार : मतिराम, कवि और आचार्य, पृ० २३२
२. लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी भाग १, पृ० ११६
३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १६४

विरह एवं प्रिय-प्रतीक्षा के इस प्रसग मे यह अनुप्रास-योजना कथमपि भाव-सौदर्य की पोषक नही है, अपितु भाव की अवरोधक है। शुद्ध शब्द-चमत्कार पर आधृत होने से यह अनुप्रास किसी प्रकार से उपकारक सिद्ध नही होता। भाव की तीव्रता का बोध तो हो ही नही पाता बल्कि उल्टा भाव अवरुद्ध हो जाता है।

श्लेष का अनौचित्य

न्हाई कै बिसुन-पदी जाह तू बिसुन पद
जाह्नवी न्हाइ जाह नबी पास बाउरे ॥[1]

'विष्णु-पदी' में नहाकर तू विष्णु के चरणो मे स्थान प्राप्त कर एव 'जाह नबी' मे स्नान कर तू नबी (खुदा) के पास जा। सभग-पद का यह चमत्कार जरा भी मोहक या आकर्षक नही है।

अजौं तरौना ही रह्यौ स्रुति सेवत इक अग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के सग ॥[2]

बिहारी के इस प्रसिद्ध दोहे म 'श्लेष' का प्रयोग केवल शाब्दिक चमत्कार पर आधारित है। श्लेष-योजना स्वत सुन्दर हो सकती है परन्तु उसका सार्थक उपयोग तो वर्ण्य-विषय के सदर्भ मे ही निर्णीत होता है। 'तरौना' के वर्णन के प्रसग मे यह सारा श्लेष निरर्थक व निष्प्रभ है। इस श्लेष-योजना की निरर्थकता पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी के शब्दो से भी पुष्ट हो जाती है।[3]

सिसु सौ लसैं संग धाय। बनमाल ज्यों सुर राय।
अहिराज सों यहि काल। बहु सीस सोभनि माल ॥[4]

यहाँ पर केशव ने किसी प्रकार के सादृश्य या साधर्म्य का विचार किये बिना 'धाय' शब्द में श्लेष का चमत्कार दिखा दिया है। परिणामत. अप्रस्तुत (धाय रक्षक मा) के गुण प्रस्तुत धव वृक्ष मे ठूँसने का व्यर्थ प्रयत्न हो गया है। पर्वत की धाई और धव-वृक्ष की शिशु-रूप में कल्पना अधिक उचित जान पड़ती। तब तो जन्य-जनक या पाल्य-पालक सम्बन्ध का भी निर्वाह हो जाता। परन्तु इसके विपरीत यहाँ कल्पना यह की गई है कि धव-वृक्ष को धारण किए हुए यह पर्वत ऐसा लगता है मानो धाय के सग शिशु। यह कल्पना स्वत: बड़ी विसगति पूर्ण है। अन्यत्र भी केशव ने इस प्रकार की बेमेल ठूँस-ठाँस की है।

यमक का अनौचित्य

तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन कें उर बसी, ह्वै उरबसी समान ॥[5]

१. उमाशंकर शुक्ल कवित्त रत्नाकर, पृ० ११५
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १६८
३. वही, पृ० १२०
४ लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी, भाग १, पृ० २१०
५. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १६०

यमक-योजना का एक सामान्य नियम है कि छन्द के चारों चरणों में यमक हो तथा प्रत्येक बार उसका नवीन अर्थ प्रकट होता रहता हो। यहाँ पर तीन चरणों में यमक-योजना है चारों में नहीं। प्रथम और तृतीय चरणों में प्रयुक्त 'उरबसी' का अर्थ एक ही है। लाला भगवानदीन यमक सम्बन्धी ऐसे दोष को 'अप्रयुक्त' दोष मानते हैं।

उपमा का अनौचित्य

उपमा सादृश्याधृत अथवा साधर्म्याधृत होती है। उपमेय और उपमान का संबंध सुखद, सुरुचिपूर्ण, कल्पनाग्राह्य होना चाहिए। मूर्त के लिए अमूर्त, अमूर्त के लिए मूर्त; मूर्त के लिए मूर्त; अमूर्त के लिए अमूर्त की योजना की जाती है। योजना चाहे कैसी ही क्यों न हो, वह सहज एवं सुग्राह्य होनी चाहिए। जहाँ वह सहज व सुग्राह्य नहीं होती, वहाँ वह उचित प्रतीत नहीं होती। रीतिकाल में उपमा के क्षेत्र में क्लिष्ट कल्पना करने वालों में केशव मुख्य हैं।

कटि को तत्व न जानिए मुनि प्रभु त्रिभुवन राव।
जैसे सुनियत जगत के सत अरु असत सुभाव॥[१]

कटि की अति-सूक्ष्मता का बोध कराने के लिए केशव ने सत्-असत्-विलक्षण ब्रह्म को ही अप्रस्तुत के रूप में निरूपित कर दिया है। कटि की सूक्ष्मता भावक को किस प्रकार ग्राह्य हो सकती है। गूढ व दार्शनिक उपमान के स्थान पर यदि किसी पार्थिव उपमान का ग्रहण कवि करता, तो कल्पना अधिक ग्राह्य हो जाती।

बासर की सम्पत्ति उलूक ज्यों न चितवत।[२]

यहाँ पर राम की तुलना उलूक से कर कवि ने अनौचित्य उपस्थित कर दिया है। विरह-व्याकुल राम को दिन में सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता। वे प्राय. गुफा में ही रहते है, यहाँ मूल कथयितव्य तो एक ओर पड़ गया और अर्थ का अनर्थ हो गया। 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरं' वाली बात हो गई।

कहूँ रैन चारी गहे ज्योति गाढे
मानो ईश रोषाग्नि में काम काढे॥[३]

कवि ने लंका में जलते हुए राक्षसों की तुलना भव-नेत्र-जन्या वह्नि में जलते 'कामदेव' से कर उपमेय को अकारण गौरवान्वित कर दिया तथा 'अधिकोपमा' दोष ओढ़ लिया। तुलना-आधार केवल इतना ही है कि दोनों अग्नि में जलते हैं।

चतुर चोर से शोभित भए।[४]

यहाँ पुनः केशव ने राम की उपमा चोर से दी है। परम्परा विरुद्ध यह उपमा बड़ी अनुचित प्रतीत होती है।

---

१ लाला भगवानदीन . केशव कौमुदी, भाग २, पृ० २३५
२ लाला भगवानदीन केशव कौमुदी, भाग १, पृ० २४१
३ वही, भाग १, पृ० २६६
४ वही, भाग २, पृ० १७३

जानि न परत अति सूक्ष्म ज्यो देवगति,
भूत की चलाकी धौ कला है कोटि नटते ॥[1]

देवजी ने भी केशव की भाँति कटि की अति सूक्ष्मता का बोध कराने के लिए दुर्बोध उपमान चुना है। नट की कला में उसे उपमित करने मे तो कोई औचित्य-भंग नही हो जाता, परन्तु उसे 'भूत की चालाकी' कहकर तो कवि ने कल्पना को और भी क्लिष्ट कर दिया है।

ऊपर के उदाहरणो से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि कवियो ने जहाँ केवल प्रयोग दृष्टि को ही प्राधान्य दिया, वहाँ वे महज अलकार-योजना नही कर पाये हैं। निम्नलिखित बिहारी के दोहे में उपमान और उपमेय के बीच (सम्मात्रा)-अनुगुणता (प्रपोर्शन) का निर्वाह नहीं हो पाया है—

कुच गिरि अति थकित ह्वै, चली डीठि मुँह चाड।
फिरि न टरी परियै रही परी चिबुक की गाड ॥[2]

दृष्टि को किरण कहने के कारण ही कुचों को पहाड कहना पड़ा है. कुचों की उन्नतता या उठान की व्यंजना के लिए उन्हे 'गिरि' कहना तो निश्चय ही प्रपोर्शन का भंग है। उरोज चाहे कितने ही ऊँचे उठे हुए हों, वे पर्वत थोड़े ही कहे जाएँगे। मम्मटादि आचार्यो ने यहाँ उपमा दोष माना है—नाभि को पाताल; उरोजो को क्षितिधर; वेणी को यमुना प्रवाह कहना उपमा-गत सम्मात्रा का अविवेक ही है।

उत्प्रेक्षा का अनौचित्य

भाल लाल बेंदी ललन आखत रहे बिराजि।
इन्दुकला कुज मे बसी मनौ राहु भय भाजि ॥[3]

बेंदी और अक्षत का क्रमश इन्दुकला तथा कुज से केवल रग का ही (और वह भी सर्वांशत: नहीं) सादृश्य है। भय की स्थिति उपमेय एवं उपमान दोनों पक्षों मे नही प्रवर्तित होने से यहाँ साधर्म्य कथमपि नहीं है। यह उत्प्रेक्षा अधिक दृढ़-आधार पर स्थित न होने से केवल खिलवाड-सा प्रतीत होती है।

अरुन गात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेम मय ॥
परिपूरण सिंदूर पूर कैधौ मंगल-घट।
किधौ शक्र को छत्र मढ्यौ माणिक मयूख-पट ॥
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौ लसत दिग्भामिनी के भाल को ॥[4]

---

१. डॉ० नगेन्द्र देव और उनकी कविता, पृ० १९१
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी, पृ० १७६
३. वही, पृ० २०४
४. लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी भाग १, पृ० ६०

केशव की यह प्रसिद्ध उत्प्रेक्षा अनेक समीक्षकों के 'समीक्षानिकष' पर चढ़ चुकी है। उसके विपक्ष एवं पक्ष को लेकर केशव के आलोचकों ने बहुत कुछ कहा है। चाहे केशव ने एक आचार्य की भाँति, – दोष की जरा-सी स्थिति काव्य-सौदर्य की कैसी हानि करती है, - यह समझाने के लिए स्वयं पूरे सज्ञान के साथ ये पंक्तियाँ रची हों या अलंकार-प्रयोग के प्रवाह में लिख डाली हो, --इनमे अनौचित्य आ ही गया है। प्रथम चार पंक्तियों में उत्तरोत्तर सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ योजित करने के बाद एक असुन्दर, अभद्र उत्प्रेक्षा रखकर सारा सौदर्य चौपट कर दिया है। सद्योदित सूर्य के लिए अनु-राग, मंगल-घट, इन्द्र का छत्र, दिग्भामिनी के भाल का टीका आदि उत्प्रेक्षाओं की योजना कर जिस सौंदर्य की सृष्टि कवि ने की थी, वह 'कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को' पंक्ति द्वारा विनष्ट हो गयी है। निश्चय ही यहाँ उत्प्रेक्षा-गत अनौचित्य है।

रूपक का अनौचित्य

प्रेम-भय, भूप रूपसचिव संकोच सोच,
बिरह-बिनोद पील पेलियत पचि कै।
तरल तुरंग अवलोकनि अनत गति,
रथ मनोरथ रहे प्यादे गुन गचि कै।
दुहूँ ओर परी जोर घोर घन 'केसोदास'
होइ जीति कौन की को हारै जिय लचिकै।
देखत तुम्है गुपाल तिहि काल उहि बाल,
उर सतरज की सी बाजी राखी रचि कै॥[1]

यहाँ नायिका के शरीर-सौदर्य को निरूपित करते हुए केशव ने शतरंज के खेल की सारी सामग्री का विन्यास व उसकी संगति दिखा दी है, परन्तु इस प्रयत्न में औचित्य-बुद्धि से तनिक भी काम लिया गया प्रतीत नहीं होता। नायिका का शरीर न हुआ बाजीगर का अखाड़ा हुआ। यह रूपक निश्चय ही अनौचित्यपूर्ण है।

मंगल बिन्दु सुरंग, मुख ससि केसर आड-गुरु।
इक नारि लहि संग, रस मय किय लोचन जगत॥[2]

बिहारी ने यहाँ ज्योतिष का चमत्कार दिखाने के प्रयत्न मे नायिका के सहज अनाविल सौंदर्य को उलझा दिया है। एक नाड़ी स्थित चन्द्र, मंगल और गुरु जगत् को मोहित कर लेते हों तो हों, परन्तु नायिका के मुखचन्द्र पर मगल-बिन्दु एवं केसर-गुरु-ग्रहों का झमेला आकर्षक नहीं लगता है। रग-सादृश्य के सिवा अन्य कोई विशेषता यहाँ नहीं है। एतत्सम्बन्धी आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी की कतिपय पंक्तियाँ देखिए :—

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : केशव ग्रंथावली, प्रथम खड, पृ० ४८
२. वही, बिहारी, पृ० २०४

"कवि ने उपमान के लिए आकाश के तारे उतारे है। केवल रंग का साम्य और वह भी ज्योतिष की पुस्तकों मे वर्णित। नायिका के मुख पर बिंदु, केसर, आड आदि के कारण जो शोभा होती है, उसे सामने लाने मे यह नक्षत्र सस्था किसी प्रकार समर्थ नही।"[1]

त्रिबली त्रिवेणी लट रोमावली धूम-लट,
यौवन पटल ज्योति बेंदी छबि तुण्ड मैं।
बेद-ध्वनि बोलै गुणवत मुनि किंकणीक,
रसना रतन मणि मुकुतान झुण्ड मैं।
... ...
.. ...मनोजमख मा यो नाभिकुण्ड मैं ॥[2]

देव ने 'मनोजयज्ञ' का रूपक पूरा करने के लिए नाभि को कुण्ड, त्रिवली को त्रिवेणी, रोमावली को धूम-शिखा, किकणी को मुनि कहा है। रूपक-योजना बडी खींचातानी से की गई है। न सादृश्य-निर्वाह है, न साधर्म्य और न किसी प्रकार की सम्मावा (Proportion) का ही निर्वाह हो पाया है। केवल बेमेल की ठूँस-ठाँस है। डॉ० नगेन्द्र के तद्विषयक विचार द्रष्टव्य हैं—

"मनोज यज्ञ को पूरा करने के लिए त्रिवली को त्रिवेणी और रोमावली को धूम-शिखा बनना चाहे स्वीकार्य भी हो जाए लेकिन किंकिणी स्वयं मुनि बनकर अपनी झनकार को वेद-ध्वनि मे परिणत करने को कभी तैयार नही हो सकती।"[3]

अतिशयोक्ति का अनौचित्य

उरझत उरग चपल चरननि फन,
देखत बिबिध निसिचर दिसि चारि के।
गनति न लागत मुसल-धार सुनत न,
झिल्लीगन-घोष निरघोष जलधारि के।
जानति न भूषन गिरत, पट फाटत न,
कंटक अटकि उर उरज उजारि के।
प्रेतनि की पूछै नारि कौन पै तै सीख्यो यह
जोग कैसो सारु अभिसारु अभिसारि के।[4]

अतिशयोक्ति की झोंक में केशव ने अभिसारिका का चित्र बडा विरूप कर दिया। अभिसारिका न हुई, कोई प्रेतिनी या पिशाचिनी हुई। 'काम' की प्रबलता की व्यंजना करने के लिए गृहीत अत्युक्ति ने विपरीत प्रभाव उत्पन्न किया। अभिसारिका

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी (भूमिका), पृ० १२२
२. डॉ० नगेन्द्र : देव और उनकी कविता, पृ० १६१
३. वही, पृ० १६१
४. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : केशव ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ५४

रास्ते के सर्पों चतुर्दिक व्याप्त अंधकार, मूसलधार वर्षा, झिल्लीगण का घोष, वस्त्रों का फटना, भूषणों का गिर जाना, कंटकों से शरीर का क्षत-विक्षत होना आदि असंख्य कष्टों की जरा भी परवाह न कर अपने संकेत-स्थान पर पहुँचने के लिए तीव्र गति से जा रही है। नायिका के प्रबल अनुराग व दुर्दम्य काम की व्यंजना करना कवि का लक्ष्य था, परन्तु वह लक्ष्य भ्रष्ट हो गया। अभिसारिका का चित्र बनते-बनते किसी प्रेतनी का या जोगनी का चित्र अंकित हो गया है।

तद्गुण का अनौचित्य

> अधर धरत हरि के परत ओठ डीठि पट जोति।
> हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष-रंग होति ॥[1]

यह अलंकार-विधान इस दृष्टि से चित्य है कि हरे बाँस में प्रतिबिंब ग्रहण करने की शक्ति है क्या? फिर अधर, दृष्टि और हरित बाँसुरी के रंगों से ही इन्द्र-धनुष के सभी रंग समाविष्ट कैसे हो सकते हैं? आंतरिक प्रभाव की बात तो दूर रही, बाह्य रंग-संयोजन भी ठीक-ठीक नहीं हो पाया है।

निष्कर्ष यह है कि रीतिकालीन कवि जहाँ कहीं भी अलंकार-विधान में प्रयत्न-पूर्वक, खिलवाड़, चमत्कार या पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा प्रयोगवादिता से प्रेरित हुआ है, वहाँ उसकी अलंकार-योजना दूषित हो गई है और जहाँ भी उसने अलंकार को धर्म से धर्मी के रूप में निरूपित किया है, वहाँ सारा सौन्दर्य विघटित हो गया है।

रस-अनौचित्य

अनौचित्य-प्रवर्तित भाव एवं रस को काव्यशास्त्र में भावाभास एवं रसाभास कहा गया है। अतः जहाँ कहीं रसाभास की उपस्थिति हो, वहाँ रस-गत अनौचित्य मानना चाहिए। अनुचित विभाव, अनुचित अनुभावादि के निबन्धन से रस-विषयक अनौचित्य उत्पन्न होता है। रस की निष्पत्ति उचित रीति से हो पायी हो फिर भी यदि वह पात्र, प्रसंग, परिस्थिति आदि से आनुकूल्य-सम्बन्ध रखता न हो तो वह अनुचित सिद्ध हो जाता है। क्षेमेन्द्र के विचार से 'रस' काव्यात्मा होते हुए भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नहीं है। उस पर नियंत्रण है। रस का विचार भी उसके पूर्ण परिवेश में ही होता है। इसी प्रकार अनौचित्य (रस-विषयक) का भी विचार पूर्ण परिवेश में ही किया जाता है।

रीतिकालीन काव्य में रसगत अनौचित्य के कुछ उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं। शृंगार को ही लीजिए—अवस्था का अनादर कर योजित किया गया शृंगार कितना ही सुंदर क्यों न हो, वह न तो प्रभावकारी होता है, न ही आह्लादकारी।-

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १६८

शृंगार-रस का अनौचित्य

जानि आगि लागी वृषभान के निकट भौन,
दौरि ब्रजबासी चढे चहूँ दिसि धाइ कैं।
जहा तहाँ सोर भारी भीर नर नारिनि की,
सब ही की छूटि गई लाज हाइ माइ कै।
ऐसे मे कुँवर कान्ह सारी सुक बाहिर कैं,
राधिका जगाई और जुवती जगाइ कैं।
लोचन बिसाल चारु चिबुक कपोल चूमि,
चपे की सी माल लाल लीनी उर लाइ कैं।[1]

नायक कृष्ण के हृदय में नायिका राधा के लिए अनुराग उदित हुआ है। अपने अनुराग के प्रकाशन के लिए कृष्ण ने जिस अवसर को ग्रहण किया वह अपने सम्पूर्ण परिवेश मे 'शृंगार-रस' के लिए अनुकूल नही है। एक ओर पडौसी के घर मे आग लगी है, लोग—लाज छोड कर—उसे बुझाने के लिए व्यस्त एवं व्यग्र है। दौडा-दौडी मची हुई है; भारी शोरगुल है। ऐसे चिंता-व्याकुल वातावरण मे, भय-व्याप्त परिस्थिति मे कृष्ण ने अपनी चपाकली (राधिका) को हृदय से लगा लिया। केशव ने उद्दीपन-गत अनौचित्य की अवस्थिति कर शृगार रस के स्थान पर शृंगाराभास को योजित कर दिया है। कृष्ण का यह आचरण जुगुप्सा-प्रेरक ही लगता है। पूर्ण परिवेश रस-विरोधी है। एक अन्य उदाहरण भी लीजिए—

बल की बरस-गाठ ताकी रात जागिवे को,
आई ब्रज सुदरी सवारि तन सोनो सो।
'केसौदास' भीर भई नदजू के मदरनि,
अधौ मध्य ऊरध बचौ न काहू कोनो सो।
गावति बजावति औ नाचै नाना रूप करि,
जहाँ तहाँ उमगत आनद कौ औनो सो।
साँवरे की सूनी सेज सोवति ही राधिका जू,
सोए जानि साँवरेऊ मनि मन गौनो सो॥[2]

बलदेव की वर्षगाठ पर सब स्त्रियाँ उत्सव मे सम्मिलित होने के लिए नन्दजी के भवन मे आई है। गा-बजाकर वे थक गई है। राधा भी उनमें है। वह भी श्रमित-सी तनिक विश्राम के लिए कृष्ण की सेज पर लेट गई। तभी अचानक कृष्ण वहा आ धमके तथा गौनेका-सा मुख मनाने लगे। यहाँ पर भी पूरा परिवेश शृंगार-रस के अनुकूल नहीं है। कृष्ण के असयत व कामुक स्वभाव का ही परिचय यहाँ मिलता है।

बिना कञ्चुकी स्वच्छ वक्षोज राजैं।
किधौं साँचहू श्रीफलै सोभ साजैं॥

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : केशव ग्रन्थावली, खंड १, पृ० २९
२ पं० कृष्णशंकर शुक्ल . केशव की काव्य-कला. पृ० ३४-३५

किधौ स्वर्ण के कुंभ लावण्य-पूरे।
वशीकर्ण के चूर्ण सम्पूर्ण पूरे ।।[1]

अगद द्वारा घर्षिता, निपीडिता रावणेश्वरी मंदोदरी के अनावृत्त उरोजो का यह पूरा वर्णन अनुचित है। कचुकी-रहित उरोजो का केशव ने बहुत दूर तक बिभिन्न उत्प्रेक्षाओं के सहारे वर्णन किया है, जो रीतियुगीन रुचि (कुरुचि) शीलता का एक प्रतीक है। इस वर्णन से न भयानक रस ही उद्दीप्त हो पाया है न शृंगार ही।

शृगार-वर्णन की यह प्रवृत्ति केवल केशव तक ही सीमित नही रही। अन्य कुछ कवियो पर भी तत्सदृश प्रभाव पडे है। सेनापति का एक छंद देखिए—

बिन ही जिरह, हथियार बिन ताके अब,
भूलि मति जाहु सेनापति समझाए हौ।
करि डारी छाती घोर घाइन सौ राती राती,
मोहिं धौ बतावौ कौन भाँति छूटि आए हौ।
पौढौ बलि सेज, करौ औषद की रेज वेगि,
मै तुम जियत पुरबिले पुन्य पाए हौ।
कीने कौन हाल ! वह बाघिन है बाल ! ताहि
कोसति हौ लाल, जिन फारि-फारि खाए हौ ।।[2]

नायक परकीया के मन्दिर से क्या लौटा है, मानो रणभूमि मे लौटा न हो। खण्डिता की वाणी मे चाहे कितनी ही वचन-वक्रता अथवा नायक के प्रति स्नेहार्द्रता क्यों न हो, वियोग-विह्वला नारी के अतर्मन का, उसकी सवेदना का कतई प्रकाशन नही हो पाया है। परकीया को बाघिन कहना, नायक के क्षत-विक्षत शरीर पर मरहम पट्टी करने की व्यवस्था करना, 'फारि-फारि खाए हौ' जैसी पदावली का प्रयोग करना, वियोग शृंगार के निरूपण मे बाधा ही उपस्थित करता है। चित्र हमारी सहानुभूति के स्थान पर घृणा का ही भाजन बन जाता है। चाहे सयोग का स्वेद हो चाहे वियोग का रक्तपात, घात-आघात व मरहम पट्टी का उसमे कोई स्थान नही है।

अँगुरिन उचि, भरु भीति दै उलमि चितै चख लोल।
रुचि सो दुहूँ दुहूँन के चूमे चारु कपोल ।।[3]

परकीया और नायिक के बीच एक दीवार ही का व्यवधान है। परन्तु उन्हे इसकी चिंता नही। वे अपनी अँगुलियो के बल पर उचककर ऊपर उठ जाते है और परस्पर कपोलो का चुबन कर ही लेते है। उद्दीपनगत अनौचित्य के कारण चित्र कामुकता के पक्ष को अधिक उभारता है।

---

१ लाला भगवानदीन केशव कौमुदी, भाग १, पृ० ३४०
२. उमाशकर शुक्ल . कवित्त रत्नाकर, पृ० ४१-४२
३ विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी- पृ० १६८

लरिका लैंबे के मिसनि लगर मो ढिग आय।
गयौ अचानक आगुरी छाती छल छवाय।[१]

क्रिया-चतुर नायक ने परकीया के उरोजो का स्पर्श करने के लिए बच्चे को खिलाने का कष्ट उठाया है। शिशु-स्नेह यहाँ प्रमुख नही है, उरोजो का स्पर्श ही मुख्य है। 'काम' ने शिशु-स्नेह का गला घोट दिया है। भावाभास के कारण यहाँ शृंगार रस का अनौचित्य है।...

इसी प्रकार नायिका ने प्रिय द्वारा चूमे हुए पुत्र-मुख को चूमकर वात्सल्य का गला घोट दिया।

बिहँसि बुलाय विलोकि उत प्रौढ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजनि पूत को पिय-चूम्यौ मुँह चूमि।।[२]
दृग थिरकौहै अधखुले देह-थकौहै टार।
सुरन-सुखित-सी देखियत दुखित गरभ के भार।।[३]

गर्भ-भार-अलसा नायिका के सुरत-सुख व तज्जन्य खेद एव श्रम का चित्र प्रस्तुत कर बिहारी ने आयस्त मातृत्व के भाव को विकृत कर दिया है, सुरति-सुख ने आयस्त मातृत्व के गौरव से सम्पन्न गर्भ-गरिमा से दीप्त नारी की महिमा को लाछित कर दिया है।

इसी संदर्भ मे मतिराम का एक उदाहरण देखिए—

कंत चौक सीमंत की, बैठी गाँठ जुराइ।
पेखि परोसी कौ पिया, घूँघट मै मुसिक्याइ।[४]

सीमंत-संस्कार मे पूजार्थ पति के साथ बैठी हुई नायिका पडोसी को देख-देख कर घूँघट में ही मुस्करा रही है। यहाँ विवाहिता की पर-पुरुष-विषयक रति की व्यंजना शृंगार रस का अनौचित्य है। इसी प्रकार नीचे के उदाहरण में भी रसाभास की स्थिति स्पष्ट है —

पासे गर्भवती तिया, सिथिल हाथ ढरकाइ।
हसत लाल लोचन लखै, लोचन रही नवाइ।।[५]

यहाँ मतिराम ने भी बिहारी की भाँति आयस्त मातृत्व की गरिमा को पकिल बना दिया है।

देव ने नायिका एवं नायक के रंग-रास का एक चित्र उपस्थित किया है—

"नैन लागे बैन लागे देव-चत चैन लागै
दुहुन के क ख ख खेल ही सो खिलि गये।

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी. पृ० २११
२ वही, पृ० २०३
३. वही. पृ० १६२
४ हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरद, पृ० २०१
५. वही, पृ० २०८

झरि कै सरस रस ढर के सस्याने युग,
जाने न परत जल बूदनि ज्यो मिलि गये ।

..

फेरि-फेरि जहीं कहि नीके नेंक रैहो
कहि बैठि-बैठि उठि-उठि रग रच्यो रुचिकै ॥[1]

इस वर्णन के अनौचित्य का वर्णन करते हुए डॉ० नगेन्द्र इस प्रकार लिखते है—

"वास्तव मे इस प्रकार के चित्र उपस्थित करने मे कोई औचित्य नही है - वह रस नहीं रसाभास है और कुरुचि उत्पन्न कर आनन्द मे व्याघात उत्पन्न करना है। यही सन्तोष है कि ऐसे वर्णन केवल दो ही एक है।"[2]

हास्य-रस का अनौचित्य

यद्यपि हास्य का मूल कारण 'अनौचित्य' है। 'अनौचित्यात् हास्यम्' तथापि अनुचित रीति मे निबद्ध हास्य रसत्व को प्राप्त नही होता। आकार, वेष, वचनादि की विकृति के कारण हास्य उत्पन्न होता है, परन्तु यह उत्पन्न हास्य भी किसी न किसी रूप मे संगतिपूर्ण होना चाहिए। माता-पिता, गुरुजन एव आदरणीय जनो के प्रति किये गये हास्य-निबन्धन का स्वत. अनौचित्य सिद्ध है। देवताओ के प्रति भी हास्य का निबन्धन उचित नही। इसी प्रकार हास्य रस का स्व-शब्द वाच्यत्व-कथन भी उचित नहीं है। सारांश यह है कि अनुचित आलम्बन (मुनि, देव, माता-पिता) के कारण हास्य मे रस का अनौचित्य होता है। द्रष्टव्य है—

हँसि-हँसि भागै देखि दूलहै दिगम्बर कौं
पाहुनी जे आवैं हिमाचल के उछाह में।
कहै पदमाकर सु काहू सों कहै को कहा
जोई जहाँ देखै सो हँसैई तहाँ राह में।
मगन भएई हँसैं नगन महेस ठाढे,
औरौ हँसै येहू हसाहस के उमाह मे।
सीस पर गंगा हँसैं भुजनि भुजगा हँसैं
हास ही को दंगा भो सु नंगा के बिबाह मौ ॥[3]

यहाँ अन्तिम दो पंक्तियों में स्व-शब्दवाच्यत्व दोष आ गया है। 'वहाँ बहुत हँसा हस हुई' ऐसा कहने मात्र से हास्य आविर्भूत नहीं होता। इस छन्द के विषय मे आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी की टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"यहाँ आलंबन महादेव हैं, जिन्हे शब्दभेद से तीन बार नग्न कहा गया है, उनका

---

1 डॉ० नगेन्द्र . देव और उनकी कविता, पृ० १०४

२. वही, पृ० १०४

३ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : पदमाकर ग्रंथावली, पृ० २२१

स्वरूप चित्रण नही है। उद्दीपन का भी कोई विधान नहीं है। चौथे चरण मे गंगा सर्प आदि स्वयं आश्रय हो गये है, उनमे अनुभाव मात्र दिखाया गया है। हँसने वाले तो सभी है, पाहुनी, गह चलते। हास का दगा ही खडा हो गया है। 'हास' शब्द आ जाने से स्वशब्दवाच्यत्व दोष भी है। किसी रस का रूप खडा करने के लिए थोथे अनुभावो का जमघट कर देना ही पर्याप्त नही होता।"[1]

रस सांकर्य का अनौचित्य

टूटे टाट घुन घुने धूम धूरि सो जु सने
झींगुर छगोडी सॉप बीछिन की घात जू।
कंटक-कलित त्रिन-बलित बिगन्ध जल
तिनके तल्प-तल ताकों ललचात जू।
कुलटा कुचील गात अन्ध तम अधरात
कहि न सकत बात अति अकुलात जू।
छेंडी मे घुसौ कि घर ईंधन के घनस्याम
पर-घरनीनि पहँ जात न घिनात जू।[2]

यहाँ वीभत्स एवं शृंगार-रस का तो सांकर्य है, किन्तु बीभत्स-रस ने शृंगार को इस प्रकार दवा लिया है कि शृंगार-रस ऊपर उठ ही नही सका है।

क्रिया का अनौचित्य

क्रिया का प्रयोग कर्त्ता-कर्मादि के अनुसार होना चाहिए। व्याकरणसम्मत होते हुए भी अमुक क्रियाओ का अमुक अर्थ मे प्रयोग सस्कृत मे निषिद्ध है। ब्रजभाषा एवं अवधी मे भी इस प्रकार की व्यवस्था है। कोमलता की व्यजना के लिए क्रिया का रूप ईषत् परिवर्तित कर दिया जाता है। रीतिकाव्य मे क्रिया के रूपो मे मनमाना परिवर्तन करने के लिए देव बहुत ही ख्यात हैं।

'देवजू' गोहिंन लागे फिरै, गहिके गहिरे रंग मैं गहिराऊ—
पीत पटा पहिरे है भटू उन्हे नील पटा अपनो पहिराऊ—
बांसुरी की बनी तानन सों ब्रज की बनितान सबे बहिराऊ—[3]

यहाँ देव ने गहरा, बहरा आदि विशेषणो से गहराना, बहिराना आदि क्रियाएँ बनायी हैं। फिर उन क्रियाओ का आज्ञार्थक प्रयोग किया है। क्रियाएँ अंत मे दीर्घान्त कर दी गई है। डॉ० नगेन्द्र इसकी आलोचना करते हुए लिखते है—"यहाँ एक तो 'गहरो' मे आज्ञा में 'गहराउ' बना लेना ही व्याकरणसम्मत नही है, फिर दीर्घान्त कर

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र - पद्माकर ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० ७८
२. वही, केशव ग्रन्थावली, खड १ पृ० ८७
३. डॉ० नगेन्द्र - देव और उनकी कविता पृ० २२४

देना तो सर्वथा अनियमित है। यही बात 'पहिराऊ', 'बहिराऊ' के लिए भी कही जा सकती है।"[1]

प्रान लै साथ परी-पर-हाथ बिकानि की बानि पैं कानि 'बखेरी'।[2]

घनानद के इस उदाहरण मे 'बखेरना' क्रिया का 'बिकानी' के साथ सम्बन्ध असंगतिपूर्ण है। यहां प्रयुक्त क्रिया अभीष्टार्थ की अभिव्यक्ति करने मे असमर्थ है। यहाँ पर अनुपपत्ति नामक दोष आ गया है। एक स्थान पर घनानद ने 'परेखना' क्रिया का 'प्रायश्चित करना' के अर्थ मे प्रयोग किया है, जो उचित नही है।

कवि मतिराम आइ आरस जम्हाइ मुख,
ऐसो मनभावती की छबि सरसत है॥[3]

अत्य अनुप्रास के मोह मे मतिराम ने यहाँ 'सरसति है', क्रिया-प्रयोग के स्थान पर 'सरसत है' कर दिया है। क्रिया का कर्त्ता 'छबि' शब्द स्त्रीलिंग है, अत उसके अनुरूप क्रिया भी स्त्रीलिंग मे होनी चाहिए। उसी छद मे प्रयुक्त अन्य क्रियाएँ— बिलसत, बिगसत, सरसत ठीक है।

कारक का अनौचित्य

कारक का प्रयोग जब लुप्त, अनुक्त या अनुपयुक्त (रीति से) होता है तब उसे कारक-अनौचित्य कहा जाता है।

झूठे जानि न संग्रहे, मन मुँह-निकसे बैन।
याही ते मानहु किये बातन कौ बिधि नैन॥[4]

बिहारी ने यहाँ 'सग्रहे' क्रिया का भूतकालिक प्रयोग कर उसके कर्त्ता मे कर्त्ता कारक चिह्न का लोप कर दिया है। परिणामत अर्थ उलझ गया है।

प्रानपिया मनभावन संग
अनंग-तरगनि रग पसारे।[5]

यहाँ मतिराम ने मनभावन और सग के बीच सम्बन्ध-द्योतक चिह्न का लोप कर अर्थभ्राति की सभावना बढा दी है। इसी प्रकार —

छबि-जुत छीरधि तरगनि बढावत है,
जगत पसारत चमेली की सुबास कौ॥[6]

में 'तरंगनि बढावति' में करण कारक; 'छीरधि तरंगनि' मे सम्बन्ध कारक; 'जगत पसारत' में अधिकरण कारक का लोप भी अर्थ को उलझा देता है।

1. डॉ० नगेन्द्र देव और उनकी कविता, पृ० २२४
2. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घन आनद कवित्त, पृ० २०३
3. हृदयालुसिह · मतिराम-मकरद पृ० १४३
4. विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी, पृ० १८७
5. हृदयालुसिह . मतिराम-मकरद, पृ० ६५
6. वही, पृ० १७६

देव अहों वलि हौ बलिहारी, तिहारी सी प्रीति निहारी न मेरे।[1]
कल हंस कलोलत है कल 'सो'—[2]
खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि वक 'मैं'।[3]

देव ने इन स्थानों पर कारक लोप, एक कारक के स्थान पर दूसरे कारक का प्रयोग अथवा विकल्प मे कारक प्रयोग कर अर्थ को उलझा दिया है। उदाहरण संख्या १ मे 'मेरे' का प्रयोग 'मैने' के स्थान पर किया गया है। उदाहरण २ मे 'सो' कारक चिह्न व्यर्थ-निरर्थक प्रयुक्त किया गया है। उदाहरण ३ में 'मैं' का प्रयोग 'सो' के स्थान पर हुआ है। करण कारक के स्थान पर यहाँ अधिकरण कारक का प्रयोग हुआ है। देव के कारक-चिह्नों के प्रयोग पर डॉ० नगेन्द्र ने समुचित चिंता व्यक्त की है।[4]

लिंग का अनौचित्य

शब्दों का प्रयोग करते समय उनके लिंग-सम्बन्धी औचित्य का निर्वाह करना चाहिए। विशेषण-विशेष्य मे भी इस प्रकार के औचित्य के निर्वाह का बराबर ध्यान रखा जाए। इसका भग ही लिंग-अनौचित्य कहलाता है। केशव ने इसके पालन पर विशेष ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता है। कहीं-कहीं सस्कृत शब्दो को हिन्दी के विशेष अर्थ मे एवं विशेष लिंग मे प्रयुक्त करने से उनके काव्य मे यह दोष विशेष प्रबल हुआ है—

सीताजी के रूप पर देवता कुरूप को है।[5]
पीछे मघवा मोहि शाप दई।[6]
अंगद रक्षा रघुपति कीन्हों।[7]

यहाँ केशव ने 'देवता' शब्द को 'देव नारियाँ' अर्थ में प्रयुक्त किया है। 'देवता' शब्द सस्कृत में स्त्रीलिंग है, किन्तु ब्रजभाषा में वह पुल्लिंग है तथा 'देवियों' का अवाचक है। दूसरे उदाहरण मे 'शाप' के संदर्भ मे 'दई' क्रिया का स्त्रीलिंग-प्रयोग उचित नहीं है। इसी प्रकार 'अंगद रक्षा रघुपति कीन्हों' मे 'कीन्हों' क्रिया-प्रयोग भी उचित नहीं है। 'कीन्ही' ही उचित प्रयोग है।

कितौ मिठास दयौ दई इतैं सलोनैं रूप।[8]

---

१ डॉ० नगेन्द्र : देव और उनकी कविता, पृ० २२२
२. वही।
३ वही।
४. वही।
५ लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी, भाग २, पृ० ९३
६. वही, भाग १, पृ० १६६
७. वही, पृ० २२२
८. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० २०९

बिहारी ने मिठास शब्द का पुल्लिग मे प्रयोग किया है, जो उचित नही है।

बारिचर बिरची इलाज जय काज की।[1]

मतिराम ने 'इलाज' को स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त किया है। 'इलाज' पुल्लिग है और उसका पुल्लिग मे ही प्रयोग होना चाहिए था।

मतिराम तबै रसराज बखानी।[2]

मतिराम ने 'बखानी' क्रिया का स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है। यहाँ 'रसराज' के सदर्भ मे वह पुल्लिग मे प्रयुक्त होनी चाहिए थी।

उचकै कुच कंद कदब-कली-सी।[3]

भूपति भगीरथ के जसकी जलूस कैधो
प्रगटी तपस्या पूरी कैधौ जन्हु जन की।।[4]

अखियाँ सिराती ताप छाती की बुझाती
रोम रोम सरसाती तन सरस परसते।।[5]

उदाहरण संख्या ३ मे देव ने कुचकद शब्द का स्त्रीलिंग मे प्रयोग किया है, जो सर्वथा अनुचित है। उदाहरण ४ मे पद्माकर ने जस की जुलूम में जुलूस को स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त किया है, जबकि उसका पुल्लिग प्रयोग होना चाहिए। उदाहरण ५ मे सेनापति ने 'रोम रोम' का प्रयोग स्त्रीलिग मे किया है, वह उचित नहीं है।

रीतिकालीन कवियो ने लिंग-प्रयोग के विषय मे कोई विशेष सजगता से काम नही लिया प्रतीत होता है। कहीं छन्दानुरोध से, कही संस्कृत के प्रभाव से, कही लय की रक्षा मे, कही मनस्विता के कारण ऐसा हो गया है।

वचन का अनौचित्य

वर्ण्य-वस्तु को उसके अनुरूप एक वचन या द्विवचन एवं बहुवचन में विन्यस्त न करना वचन-औचित्य का भंग करना है। संस्कृत में नेत्र, स्तनादि का नित्य द्विवचन एव प्राण का नित्य बहुवचन प्रयोग शास्त्र-निर्दिष्ट है। हिन्दी में इस प्रकार का कोई बन्धन तो नही, फिर भी सर्वनाम (पुरुष वाचक) के उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुष-भेदों के एक वचन एवं बहुवचन सम्बन्धी प्रयोगों के साथ क्रिया की संगति का बराबर विचार करना चाहिए। इसी प्रकार विशेष्य एव विशेषण के बीच भी यह संगति ठीक-ठीक बैठनी चाहिए। भूषण में विशेषणों एवं क्रियाओ को बहुवचनान्त एव स्त्रीलिंग कर देने की प्रवृत्ति विशेष पाई जाती है। अविकारी विशेषण भी भूषण के हाथ मे पडकर विकारी बन जाते हैं—

---

१ हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरंद, पृ० १७१
२. वही, पृ० ६१
३ डॉ० नगेन्द्र . देव और उनकी कविता, पृ० २२०
३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : पद्माकर ग्रन्थावली, पृ० २६२
५ उमाशकर शुक्ल कवित्त रत्नाकर (भूमिका), पृ० ३८

लालियाँ मलिन मुगलानिया मुखन की ।[१]

'मुगल स्त्रियो की मुख-लाली मलिन हो गई' यह कहने के लिए उन्होंने लाली को भी बहुवचनात कर दिया है। इसी प्रकार—तनियाँ, सुथनियाँ, पगनियाँ, सेजिया, छाहियाँ, रहिया, बालियाँ, आलियाँ आदि प्रयोग भी किये गये हैं[२] जिनमे कुछ उचित है, कुछ अनुचित। संज्ञाओं का बहुवचन करना उचित क्रियाओ एव विशेषणो का बहुवचन करना कुछ जँचता नही है। एक अन्य उदाहरण देखिए—[३]

अगारे अगारन ह्वै फाँदती कगारन ह्वै
बाघनी न बारन मुखन 'कुम्हिलानियाँ'।

'मुख' के संदर्भ मे 'कुम्हिलानियाँ' प्रयोग संगतिपूर्ण नही जान पडता।

बोलत कैसे मृगुपति सुनिये सो कहिए तन मन बनि आवै।
आदि बड़े हौ बडप्पन रखिए, ताहित तूं सब जग जस पावै ॥[४]

उठो हठी होहु न काज कीजै। कहौ कछू राम सो मानि लीजै।
अदोष तेरी सुत मातु सोहै। सो कौन माया इनको न मोहै ॥[५]

केशव ने यहाँ भृगुपति के लिए प्रथम पंक्ति मे आदरसूचक 'सुनिये', कहिये' का प्रयोग किया है; दूसरी पक्ति के पूर्वार्द्ध मे तुम' और उत्तरार्द्ध मे 'तूँ' प्रयोग किया है। एक ही व्यक्ति के लिए आप, तुम और तू का प्रयोग उपेक्षा या अवज्ञा की व्यजना करते हुए भी उचित नही जँचता। 'तूं' प्रयोग तो निश्चय ही खटकता है। केशव-प्रेमी लाला भगवानदीनजी भी केशव के इस प्रयोग को चित्य मानते हैं।[६]

इसी प्रकार गंगाजी द्वारा भरत के लिए प्रारम्भ मे 'उठो', 'होहु', 'कीजै' का प्रयोग करवाया गया है और दूसरी पंक्ति में 'तेरी' का प्रयोग हुआ है। यह भी सुसंगत नही जान पडता।

जाके एक-एक रोम कूपनि मैं कोटिन,
अनन्त ब्रह्मांडनि को वृन्द विलसत है।[७]

मतिराम ने 'रोम' को एकवचन और 'कूपनि' को बहुवचन मे प्रयुक्त किया है, जो असंगत है।

पायनि के चित चायन को बल लीलत लोग अथायनि बैठ्यौ ॥[८]

१ पं० श्यामबिहारी मिश्र तथा पं० शुकदेव बिहारी मिश्र : भूषण ग्रन्थावली, पृ० ११०
२. वही।
३. वही, पृ० ११०
४ लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी, भाग १, पृ० ११४
५ वही, पृ० १६६
६ वही, पृ० ११४
७. हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरंद, पृ० १८४
८. डॉ० नगेन्द्र : देव और उनकी कविता, पृ० २२०

त्यों पुलक्यौ जल सो झलक्यौ उर, औचक ही उचकौ कुच-कद सौ।[1]
देव 'जू' बाढत ओप घरी पल, त्यों ही नितम्ब भयो कछु भारो ॥[2]

देव ने 'लोग' को एकवचन मे 'कुच' एव 'नितम्ब' को भी एकवचन मे प्रयुक्त किया है, जो उचित नही है।

विशेषण का अनौचित्य

विशेषण का अनुचित प्रयोग विशेषण-अनौचित्य है। प्रयुक्त विशेषण यदि विशेष्य की विशेषता का समुचित प्रकाशन न कर पाता हो और अर्थ वैपरीत्य प्रतिपादित कर देता हो, तो उसे उस रूप मे प्रयुक्त करना उचित नही।

प्रफुल्लित होन भान के उदोत कज-पुज,
ता बिन बिचारनि ही जोति-जाल तमी है।[3]

यहाँ घनानन्द ने 'विचारनि' विशेषण का 'बेचारे' के अर्थ मे प्रयोग किया है। चातको के लिए प्रयुक्त यह विशेषण उनकी विवशता का प्रकाशन करने मे उतना समर्थ नही होता, जितना 'विचार' शब्द के बहुवचन की भ्रांति फैलाने मे समर्थ होना है। इस विशेषण का रूप छन्दानुरोध से बिगाड़ दिए जाने के कारण 'अर्थान्तर प्रतीति' नामक दोष आ गया है। 'बिचारनि' विचार शब्द के बहुवचन का अर्थ भी देता है।[4]

घनानन्द की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण इस प्रकार के कुछ प्रयोग उनके काव्य मे पाये जाते है।

उपसर्ग का अनौचित्य

उपसर्ग भाषा की बडी शक्ति है। उनकी सहायता से शब्द-निर्माण मे बहुत सरलता होती है, किन्तु उनका प्रयोग भी सुचिंतित होना चाहिए। महज प्रयोग के खातिर उपसर्ग का प्रयोग काव्यार्थ की हानि करता है और इससे स्वय भी व्यर्थ सिद्ध होता है।

रीति-कवियों मे केशव ने उपसर्गो के प्रयोग मे स्वेच्छाचार से काम लिया है। निम्नलिखित उद्धरणो से यह बात भली-भाँति पुष्ट हो जाएगी।—

लै गये नृपनाथ को सब लोग श्री सरजूतटी।
राजपत्नि समेत पुत्रनि विप्रलाप रटी रटी।[5]

सस्कृत में वि और प्र उपसर्गों की सहायता से क्रमश विलाप और प्रलाप शब्द बनते है, जो रुदन की अधिकता की व्यंजना कर देते हैं। परन्तु केशव ने यहाँ पर वि,

---

१ डॉ० नगेन्द्र देव और उनकी कविता, पृ० २२०

२ वही पृ० २२०

३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घनआनन्द कवित्त, पृ० २०

४ डॉ० मनोहरलाल गौड . घनानद और स्वच्छन्द काव्यधारा, पृ० २०६

५ लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी, भाग १, पृ० १५८

और प्र दोनों उपसर्गों की सहायता से एक सर्वथा नवीन शब्द 'विप्रलाप' निर्मित कर दिया है, जो रुदन की तीव्रता का बोध कथमपि नही करा पाता, बल्कि विप्र + लाप विप्र का रुदन या विप्र का जल्पन ऐसे भ्रात अर्थ का बोध करा देता है। यह उपसर्ग-प्रयोग निश्चय ही अनुचित है और उससे इष्ट प्रभाव की व्यजना नही हो पाती है।

इत जामवन्त अनत राक्षस लक्ष लक्षन ही हने।
मृगराज ज्यो वनराज मे गजराज मारत नीगने ॥[1]

केशव ने यहाँ पर नीगने को 'असख्य' के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। नि + गने 'नीगने' प्रयोग मे संस्कृत-प्रत्यय और ब्रजभाषा-प्रकृति का बेमेल सयोग ही आपत्तिकर है, दूसरे यह कि उसका दीर्घीकरण भी उचित नही। इन्ही आपत्तियो का विचार करते हुए आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने उसका पाठ नागने कर दिया है, जो वस्तुत कुछ उचित प्रतीत होता है।[2]

निपात का अनौचित्य

च, वै. तु, अपि आदि निपातो का केवल पादपूरणार्थ प्रयोग काव्य मे आदृत नही होता। इन निपातो का प्रयोग अर्थ की गरिमा-वृद्धि करने में होना ही इष्ट है। इनमे काव्यार्थ का वैशिष्ट्य बढ़ना चाहिए। निपातो के निरर्थक व भ्रात प्रयोगो से अर्थ का अपकर्ष होता है।

सिर तें पावन पादुका लै करि भरथ विचित्र।
चरनकमल-तरहरि धरी हँसि पहिरी जगमित्र।[3]

केशव ने इस छन्द मे 'तरहरि' पद का 'नीचे' के अर्थ मे प्रयोग किया है। यह 'तरहरि' निपात इष्टार्थ की सद्य. व समुचित प्रतीति नही करा पाता।

राजसभा महँ स्वान बोलायो। रामहिं देखत ही सिर नायो।
राम कह्यो जु कछू दुख तेरे। स्वान निसक कहौ पुर मेरे ॥[4]

राजसभा मे राम के समक्ष स्वान का आगमन व उसका निवेदन आदि प्रसंग स्वतः कितना अनुचित व अप्रासंगिक है यह सुविदित है। केशव ने यहाँ अंतिम चरण मे 'पुर' निपात को संस्कृत के अर्थ में—'पुरस्' (पुरः)—प्रयुक्त किया है। पुरः का अर्थ होता है—समक्ष या सामने। संस्कृत मे पुर. सदैव विसर्गयुक्त ही प्रयुक्त किया जाता है। सन्धि के नियमो के अनुसार जहाँ विसर्ग का लोप होगा, वहाँ वह विसर्गहीन भी रहेगा (यद्यपि ऐसी स्थिति मे वहाँ 'ऽ' चिह्न आ जावेगा)। विसर्गहीन प्रयोग के कारण यहाँ पर यह निपात प्रकृतार्थ से भिन्न 'पुर' नगर का बोध करा देता है।

१ लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी, भाग २, पृ० १६
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : केशव ग्रंथावली, खड २, पृ० ३४५
३. वही, पृ० ३४७
४. वही, पृ० ३६७

मूल अर्थ है --तुम्हे जो कुछ दुःख हो मेरे समक्ष कह दो। भ्रांत अर्थ होगा—मेरे नगर मे तुम्हें जो दुःख हो सो कह दो।

दोनों उदाहरणों में निपातानौचित्य है।

काल का अनौचित्य

काल-अनौचित्य से तात्पर्य है किसी क्रिया का अनुचित काल मे प्रयोग और दूसरा—ऐतिहासिकता का भंग। इतिहास की दृष्टि से जो वस्तु-वर्णन-रीति-रस्म आदि किसी विशेष युग मे प्राप्त नही होते हो, उनका उस काल मे वर्णन कर डालना भी काल-अनौचित्य माना जाता है। मतिराम, सेनापति, केशव आदि की रचनाओ मे कुछ ऐसी काल-गत विच्युतियाँ उपलब्ध होती है।

लाल तिहारे चलन की, सुनी बाल यह बात।
सरद नदी के सोत लौं, प्रतिदिन सुखति गात॥[1]

प्रिय के चलने की बात सुनते ही बाल (नायिका) शरद् ऋतु के सरित्प्रवाह की भाँति सूखने लगती है। मतिराम की इस कल्पना मे स्पष्ट विसंगति यही है कि शरद् ऋतु मे तो प्रायः नदियों के प्रवाह में गति रहती है। वर्षा काल के पानी से भरी ये नदियाँ अपने दोनो किनारो को छूकर बहती है। यदि जेठ मास के सरित्प्रवाह से तुलना करते तो समीचीन होता।

चीर के हरत बलबीर जू बढायौ चीर,
दौरि मारि डार्‌यौ न दुसासन प्रगटि कै।
सेनापति जानि याकौ जान्यौ है निदान, सुनि
जुगति बिचारौ जौब रावरे मन टिकै।
जोई मुख माँग्यौ, सोई दीनौ बरदान, ओप
दीनी द्रौपदी कौं, रही पर सौ लपटि कै।
रोवत मैं श्रीवर कहत कही छीबर, सु
मेरे जान यातै चले छीबर उपटि कै॥[2]

सेनापति के इस वर्णन का तात्पर्य है कि द्रौपदी को छीवर (छींट) का वस्त्र पहनाकर बीच सभा मे उसकी लाज रख ली। यह निश्चित, पूर्णतया निस्सन्दिग्ध भाव से कहा नही जा सकता कि पाण्डवो के समय मे छींट का कपडा था ही। बल्कि यो कहा जा सकता है कि वह नहीं ही रहा होगा। इसी प्रकार सेनापति ने राम के द्यूत का वर्णन भी किया है। संस्कृत नाटको मे राम के द्यूत-क्रीडा का और द्यूत के समय बाजी मे सीता के वस्त्रालकारो को लगा देने का वर्णन पाया जाता है, अत. वह ऐसा आपत्तिकर नहीं, किन्तु पाण्डवो के काल में छींट का कपडा रहा होगा या नहीं यह प्रश्न निश्चय ही विकट है।

---

१ हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरद, पृ० २३०
२. उमाशकर शुक्ल . कवित्त रत्नाकर, पृ० १०७

केशव ने तो राम के समय में जैनों, मठधारियों, यवनों की निन्दा की है। सनाढ्य ब्राह्मणो की स्तुति की है। तथा भीम, अर्जुन आदि पेडो के नाम-सादृश्य-मात्र से पाण्डवो की चर्चा की है—

पाण्डव की प्रतिमा सम लेखो।
अर्जुन भीम महामति देखो॥[1]

यहाँ श्लेष के चमत्कार के लिए काल-भंग कर पाण्डु सुतों का स्मरण किया गया है।

पद्माकर ने युद्ध-वर्णन के प्रसंग में ऐसे अनेक आयुधो-बन्दूको का वर्णन कर डाला है, जो उनके समय में उस युद्ध में प्रयुक्त ही नही हुए थे।[2]

देश का अनौचित्य

देश और काल की अनुरूपता का विचार कर किया गया वर्णन तद्विषयक औचित्य कहलाता है। उसके अभाव को देश-अनौचित्य की सज्ञा प्राप्त होती है। वर्णन के प्रवाह मे या व्यामोह के कारण सम्यक् देशादि के अनुरूप वर्णन न करके कवि उसे अनौचित्य का भाजन बना देता है।

केशव कृत प्रकृति-निरूपण या प्रकृति-वर्णन बहुधा इस प्रकार के अनौचित्य से ग्रस्त है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि, केशव का प्रकृति से प्रत्यक्ष व जीवंत सम्बन्ध नही था। उनका प्रकृति-वर्णन अधिकांशतः शास्त्रीय परिपाटी पर निर्दिष्ट कुछ संकेतों पर ही आधृत है—जहाँ प्रति सरोवर को हंस युक्त, कमलयुक्त अंकित करने, चंद्रिका को शुक्लवर्ण, तमिस्रा रजनी के अंधकार को प्रगाढ अंकित करने आदि का (दे० आचार्य हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन, पृ० २३) बना-बनाया विधि-विधान है। केशव के प्रकृति-वर्णन के विषय मे डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने उचित ही कहा है—"मनुष्य-जीवन के भीतर तो केशव की अंतर्दृष्टि कुछ दिखाई भी देती है, पर प्रकृति के जितने भी वर्णन उन्होने दिए है, वे प्रकृति-निरीक्षण से प्रभावित होने का जरा भी परिचय नही देते।"[3]

केशव के उपवन-वर्णन, आश्रम-वर्णन, वाटिका-वर्णन मे देश-औचित्य के निर्वाह का कोई ध्यान नही रखा गया है। विशेषतः जनक के उपवन-वर्णन की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै।
शुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूर गन।
अति प्रफुलित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र बन॥[4]

---

१. लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी, भाग १, पृ० १७६
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : पद्माकर ग्रंथावली (भूमिका), पृ० ४६
३. डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : संक्षिप्त रामचंद्रिका (भूमिका), पृ० २६
४. लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी, भाग १, पृ० ३५

केशव ने यहाँ जनक के उपवन मे एला, लवग, नारिकेल, पुंगीफल आदि के वर्णन मे देशगत औचित्य का भंग किया है। वर्णन की झोक मे आकर कवि ने यह नही सोचा कि बिहार की भूमि मे ये सब वनस्पतियाँ एक साथ नही हो सकती।

स्वभाव-अनौचित्य

स्वभाव कहते है प्रकृति को। काव्य मे उत्तम, मध्यम व अधम प्रकृति के एवं दिव्य, अदिव्य एव दिव्यादिव्य प्रकृति के पात्रो का निरूपण होता है। इन पात्रो का आचरण उनकी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप होना है। उस अनुरूपता का निर्वाह न करना प्रकृति अथवा स्वभावगत अनौचित्य है।

धर्म करत अलि अर्थं बढावत।
संतनि हित रति कोविद गावत।
सतनि उपजत हो, निसि बासर।
साधत तन मन मुक्ति महीधर॥[1]

कुभकर्ण की यह उक्ति रावण के प्रति उपदेश के रूप मे कही गई है। उपदेश अच्छा है, परंतु राक्षस-प्रकृति के उपदेष्टा के मुख से निर्गत है। एक अन्य स्थान पर केशव ने रावण की पत्नी मंदोदरी द्वारा रावण की भर्त्सना तथा शत्रु राम की शक्ति की प्रशसा करवाई है।[2] ये सारे स्थल प्रकृति अथवा स्वभावगत औचित्य से विहीन है।

लोक-अनौचित्य

रीतिकाल मे कुछ रचनाएँ ऐसी भी हुई है, जो लोक-सीमा का अतिक्रमण कर जाने के कारण अनुचित समझी जा सकती है। उनके रचयिताओं ने युगीन प्रभाव में आकर या वर्णन के व्यामोह में पडकर इस बात का कतई विचार नही किया कि इस प्रकार के सृजन को समाज द्वारा अनुमोदन प्राप्त नहीं होगा। इन रचनाओं के औचित्य का निर्णय न तो काव्यशास्त्र करेगा, न कवि की अतर्वृत्ति। इनके औचित्य-अनौचित्य की कसौटी है लोक-हृदय।

रति-योग, दिवा-रति, विपरीत रति, आलिगन, देवर-भाभी के बीच अनुचित सम्बन्ध, पर-पुरुष के प्रति विवाहिता की अनुरक्ति, केलि-भवन की क्रीडाओ का असंयत वर्णन, एक साथ ही दो रमणियो से अनुरक्ति व उसका प्रकट प्रकाशन, होली का अनियंत्रित वर्णन आदि ऐसे कुछ चित्र हैं, जो सामाजिकता के आधार पर निश्चय ही अनुचित माने जाएँगे।

देवर-भाभी का अनुचित सम्बन्ध

औरि सबैं हरषी हँसति गावति भरी उछाह।
तुही बहू बिलखी फिरैं क्यो देवर के ब्याह॥[3]

१. लाला भगवानदीन : केशव कौमुदी, भाग १. पृ० ३१
२ वही, पृ० ३२०-३२३
३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १७१

देवर से अनुरक्त इस नायिका की—देवर के विवाह के अवसर पर—उदासीनता की कवि ने व्यंजना की है। घर और पड़ौस की सारी स्त्रियाँ उत्साहित है, अकेली वह ही बिलखी फिरती है। देवर के प्रति अनुराग ही इस उदासीनता का मुख्य कारण है।

देवर फूल हने जु हठि उठे हरपि अँग फूलि।
हँसि करत औषधि सखिन देह ददोरनि भूलि ॥[1]

नायिका का अपने देवर के साथ गुप्त प्रेम है। देवर ने नायिका पर फूल फेंके। जिन अंगों पर फूल लगे, वे सब हर्षोत्फुल्ल हो गए है। सखियाँ इन फूलनो को ददोरा (मच्छर आदि काटने से होने वाला फूलन) समझकर औषधि करने को उद्यत होती है। सखियो के इस भ्रम पर नायिका हँस पडती है। देवर-भाभी के गुप्त प्रेम का यह वर्णन भी अनुचित है।

कहति न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति।
पंजर-गत मंजार-ढिग सुक लौ सूकति जाति ॥[2]

यहाँ भाभी तो सुशीला कुलवधू है, मगर देवर छैला है। वह निरन्तर इस प्रतीक्षा मे है कि कब अवसर प्राप्त हो। भौजाई बेचारी न तो देवर की बात कह सकती है न सह सकती है। एक तरफ गृह-कलह का डर है तो दूसरी तरफ पातिव्रत भंग का। बिल्ली के पास पिंजड़े मे बन्द शुक की भाँति वह नित्य प्रति सूखती जाती है।

ऊपर के उद्धरणों में प्रथम दो तो निश्चय ही अनुचित हैं, क्योंकि इनमें देवर-भाभी के प्रेम का, अनुचित सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। तीसरा भी एक रीति से अनुचित ही समझा जावेगा, जहाँ देवर की वासनामूलक कुवृत्ति का संकेत किया गया है।

बिपरीत-रति-वर्णन

पर्‌यौ जोर बिपरीत रति रूपी सुरत-रन धीर।
करति कुलाहल किंकिनी गह्यौ मौन मंजीर ॥[3]

ऊर्ध्ववर्ती मंजीर विपरीत रति के कारण अधोवर्ती होने से मौन हो गए हैं तथा अधोवर्ती किंकिणी ऊर्ध्ववर्ती होकर मुखर हो उठी है। सुरत-रण-धीरा नायिका दृढता-पूर्वक ऊपर डटी है और नायक नीचे पड गया है। विपरीत-रति का यह वर्णन किसी प्रकार से उचित नही समझा जा सकता।

बिनती रति बिपरीति की करी परसि पिय पाय।
हँसि अनबोलें हीं दियौ ऊतर दियौ बुलाय ॥[4]

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० १९३
२ वही, पृ० १९४
३ वही, पृ० १९८
४. वही, पृ० २०२

प्रिय ने प्रिया के चरण छूकर विपरीत रति की कामना संकेतित की। प्रिया ने हँसते हुए दीपक को बढाकर बिना बोले ही अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

यह वर्णन ऊपर के वर्णन की तुलना में ईषत् संयत है फिर भी विपरीत-रति की कामना का प्रकाशन होने से वह सहृदय-श्लाघ्य नही बन सकता।

मेरें बूझत बात तूँ कत बहरावति बाल।
जग जानी बिपरीत-रति लखि बिंदुली पिय-भाल ।।[1]

नायिका ने नायक का तथा नायक ने नायिका का वेश धारण कर विपरीत रति की क्रिया सम्पन्न की है। सखी द्वारा प्रश्न किए जाने पर नायिका बात बहराती है। इस पर सखी कहती है कि तू बात क्यो बहराती है—प्रिय के भाल मे तेरी बिंदिया देखकर सारा संसार जान गया है कि तुम दोनो विपरीत-रति मे प्रवृत्त रहे हो।

यहाँ विपरीत-रति क्रिया की सम्पन्न होने की अवस्था का वर्णन बहुत अरुचिकर प्रतीत होता है।

राधा हरि हरि राधिका बनि आए संकेत।
दपति रति-बिपरीत-सुख सहज सुरत हूँ लेत ।।[2]

कृष्ण ने राधा का, राधा ने कृष्ण का वेश धारण किया है। और साधारण रति मे भी विपरीत-रति का-सा सुख प्राप्त करते है। यहाँ रति तो स्वाभाविक ही वर्णित है, परन्तु वेश-धारण से विपरीत का सुख अनुभव किया जा रहा है।

विपरीत-रति का वर्णन अकेले बिहारी ने ही किया हो सो बात नही। मतिराम ने भी अपनी 'मतिराम सतसई' में स्थान-स्थान पर विपरीत रति का वर्णन किया है।[3]

ये सारे वर्णन सामाजिकता के विचार से अनुचित है तथा उनसे किसी प्रकार का आस्वाद संभव नही है।

दिवा-रति

विपरीत-रति की ही भाँति दिवा-रति की इच्छा अथवा उसका क्रिया-व्यापार-वर्णन भी अनुचित समझा जाता है। मतिराम ने एक स्थान पर ऐसा वर्णन किया है—

केलि की रात अघाने नही,
दिन में ही लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाय,
यो भीतर बैठि कै बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही,
हँसि हेरि हरै 'मतिराम' बुलाई।

---

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृ० २०६
२. वही, पृ० २१०
३ [illegible] : मतिराम-मकरद, पृ० २२८

कान्ह के बोल मे कान्ह न दीन्ह्यौ,
सु गेह की देहरी पै धरि आई ॥[1]

यहाँ मूल प्रश्न है 'दिवा-रति' के औचित्य-अनौचित्य का। साहित्यशास्त्र को दिवा-रति के प्रति कोई आपत्ति सभवत' न हो, परतु आचार-शास्त्रीय विधान उसे उचित नही ही समझेगा—

दिवाभागे महाभाग यो गच्छेत् रमणी नर ।
स्वल्पायु स भवेदाशुः मत्य सत्य न सशय ॥
दिवाभागे व्रजेत कोऽपि रमणी यदि कामत ।
तज्जाततनयो ब्रह्मन् महापापी भविष्यति ॥[2]

पर पुरुष के प्रति विवाहिता की अनुरक्ति

इसका अनौचित्य तो काव्यशास्त्र मे भी 'रसाभास' शीर्षक के अन्तर्गत स्वीकार किया है। ऐसे स्थानों पर शृगार नही, शृंगाराभास ही समझा जाएगा। मतिराम के कुछ स्थल इस दृष्टि से चिन्त्य है—

कत चौक सीमन्त की, बैठी गाँठ जुराइ।
पेखि परोसी कौ पिया, घूँघट मे मुसिक्याइ ॥[3]

पति के साथ सीमन्त सस्कारार्थ पूजा मे बैठी नायिका पडौसी की ओर देख कर घूँघट मे ही मुस्करा रही है। व्यंजना यह है कि पुरुषार्थ किसी का है, फल-प्राप्ति कोई कर रहा है।

बिहारी ने भी एक-दो स्थान पर ऐसे वर्णन किए हैं—

चाले की बातै चली सुनत सखिनु कै टोल।
गोएँहूँ लोइन, हँसत, बिहँसत जात कपोल ॥[4]

अपनी ससुराल के ही समीपवर्ती किसी ग्राम मे रहने वाले अपने उप-पति से मिलन की सम्भावना से नायिका गौने की चर्चा चलते ही अपार हर्षित हुई कि वह हर्ष नेत्र, कपोलादि, के द्वारा फूट पडा।

देह-लग्यौ ढिग गेहपति, तऊ नेह निरबाहि।
नीची अँखियनु ही इतै गई कनखि मनु चाहि ॥[5]

स्वपति मे मिली नायिका ने नीची अँखियो से कनखियो से ही उपपति के प्रति अनुराग प्रकट कर उसे प्रसन्न कर दिया।

---

१ हरदयालुसिह . मतिराम-मकरंद, पृ० ६४
२. पं० कृष्णबिहारी मिश्र : मतिराम ग्रन्थावली (परिचय भाग), पृ० १३८
३. हरदयालुसिह : मतिराम-मकरद, पृ० २०१
४ रत्नाकर · बिहारी रत्नाकर, पृ० ६०
५ वही, पृ० १६३

दो नायिकाओं के प्रति एक साथ ही प्रेम-प्रदर्शन

रसशास्त्रीय दृष्टि से यह स्थिति अनुचित एव असूयोत्पत्तिजनक है, और समाजशास्त्रीय विचार से आपत्तिकर भी। मतिराम ने सस्कृत कवि अमरुक की रसिकता को मात करते हुए दो कदम आगे बढकर ही वर्णन किया है—

बैठी एक सेज पै सलोनी मृगनैनी दोऊ,
आनि तहाँ प्रीतम सुधा समूह बरसे।
कवि 'मतिराम' ढिग बैठयो मनभावन के,
दुहूँ के हिये मे अरविन्द मोद सरसे।
आरसी दै एक सों कह्यो यों निज मुख लखो,
अरविंद बारिद बिलास बर दरसे।
दरप भरी सो जौ लौ दरपन देखे तौ लौ,
प्यारे प्रान प्यारी के उरोज हरि परसे ॥[1]

अमरुक का कृष्ण एक गोपी के नेत्र बन्द कर दूसरी के कपोल चूम लेता है। अमरुक के ऐसा करने मे एक उद्देश्य है—असूया भाव की उत्पत्ति होती ही नही। दोनो अपने-अपने सौभाग्यातिशय को सराहती है। मतिराम ने वह स्थिति भी न रहने दी। एक को हाथ मे दर्पण दे दिया तथा दूसरी के उरोजों का स्पर्श करवा दिया। असूया की स्थिति बराबर बनी रहेगी। यो भी वर्णन अरुचिकर है।

केलि-प्रसंग और वस्त्रहरण

बसन हर्‌यो पिय सुरत में, तिय तन जोति समीप।
केलि भौन मे राति हूँ, भये द्यौस के दीप ॥[2]

नायिका की अग-दीप्ति का वर्णन करने मे कवि ने केलि-भवन मे उसके प्रिय द्वारा उसका वस्त्र-हरण करा तो दिया, परन्तु इसका ध्यान नही रखा कि इससे लोक-मर्यादा भी अनावृत हो गई और केलि-भवन मे रात को ही सूर्योदय तो हो गया, किंतु लोक-भवन का सूर्य अस्त हो गया।

सखियों की अवज्ञा और राधा का निकुंज प्रवेश

नंदलाल गयो तित ही चलिकै जित खेलत बाल अलीगन में।
तहाँ आपु ही मूँदे सलोनी के लोचन चोर मिहीचनि खेलनि मे।
दुरिबे को गई सिगरी सखियाँ 'मतिराम' कहै इतने छिन मे।
मुसकाय कै राधिका कठ लगाय छिप्यौ कहूँ जाय निकुजन मे ॥[3]

मतिराम के कृष्ण सखियो के बीच से राधा को कुज मे ले जाते है, तो क्या आपत्ति है? केशव के कृष्ण भी तो पडौसी के घर मे आग लगने पर राधा का आलिंगन करते है।

निश्चय ही ऐसे वर्णनो का औचित्य चिन्त्य है। पद्माकर ने भी होली के वर्णन मे ऐसा उन्मादक चित्र प्रस्तुत किया है। यथा—

---

१ हरदयालुसिंह : मतिराम-मकरद, पृ० ६८
२. वही, पृ० २२१
३. डॉ० महेन्द्रकुमार : मतिराम कवि और आचार्य, पृ० २५१

ऊधम ऐसो मचो ब्रज में सबै तरग उमगनि सोचैं
त्यों पद्माकर छज्जनि छातनि छ्वै छि छि छाजती केसरि कीच
दे पिचकी भजी भजी तहाँ परै पीछू गुपाल गुलाल उलीचैं।
एक ही संग इहाँ रपटै सखि य भए ऊपर हौ भयी नीचैं ।।[1]

होली का यह वर्णन बहुत ही अनुचित है।

रतियोग एवं आलिंगन

सब गोपी अरु कूबरी सेनापति सब भोग।
नै आलिंगति गिरधरै परी एक रति योग ।।[2]

आलिंगन और रति योग का यह वर्णन उचित प्रतीत नही होता। केशव का यह चित्र भी उचित नही है—

श्री रामचन्द्र हँसी अंक लगाय लीन्हो।
संसार-साक्षि शुभ पावक आनि कीन्हो ।।[3]

इन्द्र, अग्नि, वरुण, ब्रह्मा एवं दशरथ (दिवात्मा) की उपस्थिति मे रामचन्द्रजी का सीता को गले लगा लेना उचित नहीं जँचता। इसी प्रकार रावण-मंदिर में अगद का मदोदरी के केश पकड़ कर घसीटना, उसके अनावृत उरोजो का बहुत दूर तक वर्णन आदि भी अनुचित ही है।

ये सभी उदाहरण सामाजिकता व लोक-सीमा का अतिक्रमण करने वाले होने से अनुचित ही कहे जाएँगे।

सघटना का अनौचित्य

पदक्रम को संघटना कहते हैं। काव्य मे पदो का क्रम, अर्थ की स्पष्ट एव निर्मल अभिव्यक्ति एवं सद्य प्रतीति के लिए उपकारक होना चाहिए, साथ ही यह भी वाछनीय है कि वर्ण्य-विषय का उपमान-उपमेयादि के क्रम का निर्वाह भी बराबर बना रहे। इसका अभाव या भंग ही संघटना-गत अनौचित्य है।

इहि बसंत न खरी अरी गरम न सीतल वात।
कहि क्यों झलकै देखियत पुलक पसीजे गात ।।[4]

यहाँ प्रथम पक्ति मे जिस क्रम से गरम और सीतल पद है उसी क्रम से दूसरी पंक्ति मे पुलक और पसीजे पद नही है। पहले पसीजै पद होना चाहिए और बाद मे पुलक।

भाषागत अनौचित्य

न्हाइ कै बिसुन-पदी जाह तू विसुन-पद।
जाह्नवी न्हाइ जाह नबी पास बाउरे ।।[5]

'जाह्नवी' सस्कृत पद का सभंग-पद श्लेष कर जाह+नबी कर देने से कोई सौन्दर्य-वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार के भाषा-प्रयोग विशेष रुचिकर प्रतीत नही होते।

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : पद्माकर ग्रन्थावली, पृ० ६८
२ उमाशंकर शुक्ल · कवित्त रत्नाकर पृ० १२१
३ लाला भगवानदीन केशव कौमुदी, भाग १, पृ० ३२५
४. विश्वनाथप्रसाद मिश्र · बिहारी, पृ० १७१
५ उमाशंकर शुक्ल कवित्त रत्नाकर, पृ० ११५

कलागत अनौचित्य

'कवि समय' या 'कवि परम्परा' की अवज्ञा कर देने से एव तद्विपरीत वर्णन कर देने से काव्य की अवश्य हानि होती है। इसे ही कलागत अनौचित्य माना जा सकता है।

जटित नीलमणि जगमगति, सीक सुहाई नाक।
मनौ अली चपक-कली बसि रस लेत निसाँक।।[1]

भ्रमर का चंपे की कली मे रत होना ख्यातिविरुद्ध है। कवि-परम्परा है कि भौरा चपे की कली मे अनुरक्त नहीं होता। एक अन्य स्थान पर बिहारी ने वर्षा ऋतु की संध्या में चक्रवाक मिथुनो का वर्णन किया है।

छद का अनौचित्य

छंद-सम्बन्धी समस्त दोष यथा हतवृत्तत्व, यति भगादि छंदगत अनौचित्य के अतर्गत समाविष्ट हो जाते हैं।

या द्वादशे प्रकाश खर, दूषण त्रिशिरा नाम।
सीता हरण विलाप सु, ग्रीव मिलन हरि राम।।[2]

यहाँ प्रथम पंक्ति मे खर के बाद और दूसरी पक्ति में स के बाद यति पड़ती है, परिणामत. खर दूषण और सुग्रीव शब्द टूट जाते है। यति के कारण शब्द भग होने से छंद दूषित हो जाता है।

सेनापति की भी छद-रचना कही-कहीं दूषित हो जाती है।

(१) सारंग धुनि सुनावै घन रस बरसावै
मोर मन हरषावै अति अभिराम है।[3]

इस छंद मे लय बिगड़ती है। यदि 'सारग सुनावै धुनि' पाठ होता तो लय ठीक हो जाती, परन्तु सर्वत्र पाठ यही है। पक्ति के पूर्वार्द्ध मे ८ अक्षरो की व्यवस्था इस प्रकार होती है—

(१) ४+४=८
(२) २+२+२+२=८
(३) ३+३+२ =८
(४) ५+३ =८

परतु यहाँ तो '**सारंग धुनि सुनावै**' व्यवस्था है। यदि '**सारंग सुनावै धुनि**' का
३ २ ३ ३ ३ २
पाठ होता तो यह दोष नहीं रहता।

(२) जागरन कारी जाके होत है बिहारी मैं नि-
हारी अमरावती सी भावती लसति है।।[4]

यहाँ पर भी 'नि' एक स्थान पर 'हारी' दूसरे स्थान पर आने से 'निहारी' शब्द के टुकड़े हो गए है। यति ने शब्द को द्विधा विभक्त कर अर्थ मे असुन्दरता प्रकट कर दी है।

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी, पृ० १८४
२ लाला भगवानदीन · केशव कौमुदी, भाग १ पृ० १८५
३. उमाशंकर शुक्ल . कवित्त रत्नाकर, पृ० ४
४. उमाशंकर शुक्ल . कवित्त रत्नाकर पृ० ७

उपसंहार

रीतियुगीन कविता मे तत्त्वक्रम मे औचित्य-अनौचित्य के विमर्शोपरान्त सामूहिक रूप से उस पर विचार कर निष्कर्ष रूप मे किन्ही तथ्यो तक पहुँचने के लिए निम्नलिखित दो आधारो पर अग्रसर होना अत्यन्त उपादेय होगा (१) सामाजिकता अर्थात् लोकदृष्टि, तथा (२) शास्त्रदृष्टि ।

सामाजिकता का निकष ग्रहीत काव्य-वस्तु की नैतिकतापरक व सामाजिक दृष्टि से ग्राह्यता-अग्राह्यता सबधी व्यवस्था देता है । वस्तु के सामाजिकता विरोधी होने का अर्थ है कि वह आस्वाद्य या रसात्मक नही हो सकती । काव्यशास्त्र के अनुसार ऐसी वस्तुएँ रसाभास के अन्तर्गत ही आती है । काव्यशास्त्रीय निकष इस बात पर भी विचार करता है कि काव्य मे प्रयोजित सब कुछ सगतिपूर्ण है या नही ? इसमे समस्त विमर्श का केन्द्र रस रहता है ।

सामाजिकता या सामाजिक व्यवहार निरपेक्ष अवधारणा नही है, चूँकि समाज न व्यक्ति है और न मात्र कुछ व्यक्तियो का समूह ही, इसमे अनेक वर्गो व समुदायो का सन्निवेश रहता है । जिस प्रकार जन-जीवन बदलता रहता है, सामाजिक मान्यताएँ बदलती रहती है, उसी प्रकार सामाजिकता के रूप में भी यत्किचित् परिवर्तन होता रहता है । इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी जैसे यह स्पष्ट हुए बिना नही रहता कि रीतियुगीन साहित्य अपने प्राप्त रूप मे समस्त समाज का, उसकी यथार्थ अन्तर्वृत्तियों का वास्तविक प्रतिबिम्ब न होकर मात्र सामन्त-वर्गीय प्रवृत्तियो का प्रकाशन है । इतस्ततः कुछ अपवादो को छोड़कर वह शासकों तथा उनके चतुर्दिक् व्याप्त एक विशिष्ट वर्ग की रुचि-कुरुचि से ही सम्बद्ध है । सम्भवतः इसी का परिणाम है कि उसमे चमत्कार-प्रदर्शन व अलकरण की प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई देती है । साथ ही, वासनाओ को खुलकर खेलते हुए देखने की प्रवृत्ति सामन्तवादी तो हो सकती है किन्तु उसे तत्कालीन सामान्य जन-जीवन के नैतिक मानदण्डो पर खरा उतरता हुआ नही बताया जा सकता । ऐसे सभी वर्णन असदिग्ध रूप से अनौचित्य के ही प्रमाण गिने जायँगे ।

रीतिकाल की सबसे बड़ी दुर्बलता वही पर दिखाई देती है, जहाँ कवि की अलकरण-प्रवृत्ति या भाषागत पाण्डित्य की झोक अतिशयता को प्राप्त हो गई है । आलोच्य काव्य में अनौचित्य के मूल मे यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है ।

आलोच्य कविता को काव्यशास्त्रीय निकष पर कसते समय यह ध्यातव्य होगा

कि उसमे रस नियोजन छन्द विधान अलकार निरूपण आदि यथास्थान वतमान है या नही ? रीतिकालीन काव्य मे शृगार रस का सर्वाधिक निरूपण हुआ है। कतिपय स्थानो को छोडकर, जहाँ औचित्य का निर्वाह या तो हो नही पाया है या उसे करने का प्रयत्न नही किया गया है, शेष काव्य औचित्य के मान पर खरा ही उतरता है। रीतिकालीन काव्य मे सामान्यतया भाषा, छन्द तथा अलकारो के प्रयोग परस्पर अनुकूल हैं ही, साथ ही, रस, वस्तु आदि के उपकारक तत्त्वो के रूप मे प्रतिष्ठित होकर प्राय सर्वत्र औचित्य का निर्वाह करते है। कलावादी या सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से उसका वास्तविक मूल्याकन होना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है।

अन्त मे, उक्त अभावो व उपलब्धियो की ओर सकेत कर लेने के पश्चात् इतना तो निस्सकोच भाव से कहा जा सकता है कि रीतिकालीन काव्य, अपने समस्त अभावो के उपरान्त भी, निश्चय ही एक औचित्यपूर्ण साहित्यिक प्रयास है। इसमे औचित्य की अवहेलना कम और उसका निर्वाह अधिक हुआ है।

परिशिष्ट

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी का पत्र

वाणी वितान भवन
ब्रह्मनाल, वाराणसी-१
१५-११-६६

प्रिय महोदय,

आशी।

आपका पत्र बहुत दिनों से उत्तर की प्रतीक्षा में पड़ा है। स्वस्थ न रहने से मैं उत्तर न दे सका। आपकी जिज्ञासाओं का क्रमश: संक्षिप्त उत्तर दे रहा हूँ।

(१) भारतीय साहित्य शास्त्र ने काव्य आदि का विचार करने के लिए एक विशेष प्रकार की दृष्टि विकसित की, जिसका मुख्य आधार रस हुआ। यह रस आस्वाद से उपमित किया गया है। किसी पदार्थ के खाने में उसका स्वाद अनेक कारणों से बिगड़ता है। स्वाद को बिगाड़ने वाले इन कारणों, तत्त्वों आदि को जो रोके रहे, वही औचित्य है। मैंने तो वाद आदि शब्दों को ठीक न मान कर 'मत' शब्द का व्यवहार किया है। अलंकार-मत, वक्रोक्ति-मत, औचित्य-मत आदि। यह मान्यता या धारणा है। औचित्य नैतिक व्याख्या भी है, असंगति भी है और इसके अतिरिक्त भी है, क्योंकि इसकी प्रसक्ति रस के बाहर भी है। चारुत्व में भी कोई कमी होगी तो औचित्य के अभाव के ही कारण।

(२) औचित्य रस आदि की भाँति तो नहीं माना जा सकता। केवल औचित्य काव्य नहीं हो सकता। औचित्य स्थिर भी नहीं माना जा सकता। समय, समाज आदि से सम्बद्ध ही उसे मानना पड़ेगा। यह तो काव्योक्ति का विशेषण प्रतीत होता है। जैसे वक्रोक्ति को काव्य मानते हैं। वक्र विशेषण है। वैसे ही उचित भी विशेषण है। विशेषण किसी विशेष्य का होगा। वह भेदक हो सकता है, भेद्य नहीं।

(३) लोक या शास्त्र की मान्यता पर अवलम्बित होने से स्थिर पूर्णतया नहीं कह सकते। सनातन मान्यताएँ स्थिर कही जा सकती हैं।

(४) विषयनिष्ठ ही कहना ठीक है। स्थिति विशेष में वह विषयिनिष्ठ भी हो सकता है। उसका अस्तित्व निरपेक्ष हो, पर साहित्य में वह सापेक्ष ही गृहीत दिखाई देता है।

(५) पाश्चात्य मॉरैलिटी का विचार औचित्य के अन्तर्गत ही आ सकता है। पर धर्मशास्त्र से ही मुख्य रूप से उसे सम्बद्ध मानना पड़ेगा।

(६) काव्य के शब्द का औचित्य की दृष्टि से व्याकरण से सम्बन्ध हो सकता है।

(७) विकृति के निरोधक रूप में उसे आत्मा कह सकते हैं। चारुत्व की दृष्टि से प्राण।

(८) आचार-संहिता से अधिक इसकी प्रसक्ति है। शब्द और अर्थ दोनों से सम्बद्ध होकर।

(९) कोई एक इसके समग्र रूप को व्यक्त नहीं कर पाता। यह वह काव्य-रहस्य है, जिसके कारण अन्य काव्यमत भी अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। काव्योत्कर्षाधायक रहस्य है यह।

आपने जितने प्रश्न उठाये हैं उन सबका सम्यक् विचार पत्र के द्वारा सम्भव नहीं। न मुझे सब पर परिपूर्ण विचार करने का अवसर है और न किसी उत्तर के अनन्तर आपके अनुप्रश्नों की कल्पना ही कर पा रहा हूँ। फिर भी जो ध्यान में आया, आपको लिख दिया, इसीसे संतोष करें।

आशा है आप सानन्द हैं।

भवदीय,
विश्वनाथप्रसाद मिश्र
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, गया।

ग्रंथानुक्रमणिका

मूल ग्रंथ

औचित्य विचार चर्चा—क्षेमेन्द्र, निर्णय सागर प्रेस, ई० १९२९
कवित्त-रत्नाकर (सेनापति कृत)—उमाशंकर शुक्ल, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद ई० १९५६
केशव-ग्रंथावली भाग १—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ई० १९५४
केशव-ग्रंथावली भाग २—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, ई० १९५५
केशव-ग्रंथावली भाग ३—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, ई० १९५९
केशव-कौमुदी भाग १—लाला भगवानदीन, रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, सं० २०१८
केशव-कौमुदी भाग २—लाला भगवानदीन, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, सं० १९८०
घनआनन्द कवित्त—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, सरस्वती मंदिर, बनारस, सं० २०१२
देव-दर्शन—हरदयालुसिंह, इंडियन प्रेस, प्रयाग, ई० १९५३
देवकाव्य रत्नावली—दूगड और जावलिया, रामप्रसाद एंड संस, आगरा-३, ई० १९६२
पद्माकर-ग्रंथावली—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१६
बिहारी—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, सं० २०१६
बिहारी-सतसई—लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, भारतवासी प्रेस, इलाहाबाद, ई० १९५०
बिहारी-सतसई-सार—अम्बिकाचरण शर्मा, विश्वम्भर 'अरुण', प्रसाद बुक ट्रस्ट, आगरा, ई० १९६५
भूषण-ग्रंथावली—पं० श्यामबिहारी मिश्र, प० शुकदेवबिहारी मिश्र, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, सं० १९८३-२०१५
भूषण—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी-वितान कार्यालय, वाराणसी, सं० २०१०
मतिराम मकरंद—हरदयालुसिंह, इंडियन प्रेस, प्रयाग, सं० १९९६

मतिराम ग्रन्थावली (परिचय भाग)—पं० कृष्णबिहारी मिश्र, गगा ग्रथागार, लखनऊ, ई० १९५१

मतिराम ग्रंथावली (परिचय भाग)—पं० कृष्णबिहारी मिश्र, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, स० २०१८

रामचंद्रिका (पूर्वार्द्ध)—लाला भगवानदीन, रामनारायणलाल बेनीमाधव, प्रयाग स० २०२२

सक्षिप्त रामचद्रिका—पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, ना० प्र० सभा, काशी, स० २०१६

सुवृत्त तिलकं—क्षेमेन्द्र, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, ई० १९३३

संस्कृत काव्यशास्त्र

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग—रामलाल वर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ई० १९५९

अलकार सग्रह—अमृतानन्द योगी, सम्पादक वी० कृष्णमाचारी, अडयार लायब्रेरी, मद्रास, ई० १९४९

अलकार सर्वस्व—रुय्यक, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, ई० १९३९

काव्यादर्श —दण्डी, प्रो० रगाचार्य, भा० ओ० रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, ई० १९३८

काव्यादर्श—दण्डी, रामचन्द्र मिश्र, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, ई० १९५८

काव्यानुशासन वाग्भट द्वितीय, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, प्रथम आवृत्ति

काव्यालंकार—रुद्रट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, ई० १९२८

काव्यालंकार—भामह, बलदेव उपाध्याय, चौखबा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, ई० १९२९

काव्यालकार—भामह, देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, ई० १९६२

काव्यालंकार सूत्र—वामन, डॉ० नगेन्द्र, हिंदी अनुसन्धान परिषद्, स० २०११

काव्यालकार संग्रह उद्भट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, ई० १९२८

काव्य प्रकाश—मम्मट, डॉ० सत्यव्रतसिंह, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, ई० १९६०

काव्य मीमासा—राजशेखर, केदारनाथ सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं० २०११

काव्य मीमासा – राजशेखर, डॉ० गगासागरराय, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, ई० १९६४

कुवलयानन्द —अप्पय दीक्षित, डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, ई० १९५६

चन्द्रालोक—जयदेव, चौखंबा सस्कृत सीरिज, वाराणसी, ई० १९३८

ध्वन्यालोक (प्रथम खड)—आनन्दवर्धन, डॉ० रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, ई० १९६३

ध्वन्यालोक (द्वितीय खंड)—आनन्दवर्द्धन, डॉ० रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, ई० १९६३

ध्वन्यालोक आनन्दवर्द्धन, आ० विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, ई० १९५२

नाट्य-दर्पण—रामचन्द्र-गुणचन्द्र, डॉ० नगेन्द्र, आ० विश्वेश्वर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, ई० १९६१

नाट्य-शास्त्र—भरत, बटुकनाथ शर्मा, नि० सा० प्रे० बम्बई, ई० १९२९

प्रताप रुद्रीय—विद्यानाथ, नि० सा० प्रे० बम्बई, ई० १९५०

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा—डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, ई० १९६८

रस गंगाधर—जगन्नाथ, बदरीनाथ झा, मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, ई० १९५५

रस-विमर्श—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, विद्यामन्दिर वाराणसी, ई० १९६५

रस-सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, ई० १९६४

रस-सिद्धान्त, स्वरूप विश्लेषण—डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, ई० १९६०

वक्रोक्ति जीवितम्—कुतक, डॉ० नगेन्द्र, आ० विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, ई० १९५५

वाग्भटालंकार—वाग्भट प्रथम, डॉ० सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, स० २०१८

सरस्वती कंठाभरण—भोज, नि० सा० प्रेस बम्बई, ई० १९३४

Alamkar Sarvasva—Ruyyak, Kum. S S. Janki Meharchand Lachhamandas, Delhi, 1955

History of Sanskrit Poetics—P V. Kane, Motilal Banarsidas, Delhi, 1961

Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit— Kuppuswami Shastri, Kuppu Swami Shastri Research Institute, Madras, 1945

Some Concepts of the Alamkar Shastra—Dr. V Raghavan, Adyar Library, Madras, 1942

Shrinagar Prakas—Bhoi Dr V. Raghavan, Punarvasu, Krishnapuram, Madras, 1940

Kavyanushasan—Hemchandra, R C Parikh, Mahaveer Jain Society, Bombay. 1938

Kshemendra Studies—Dr. Suryakant, Oriental Book Agency, Poona, 1954

हिन्दी-काव्य-शास्त्र

अलंकार मंजूषा—लाला भगवानदीन, रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, स० २००८

काव्य कल्पद्रुम—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, मथुरा, स० २००३

काव्य-शास्त्र—डॉ० भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, ई० १९६६

काव्य शास्त्र सपा० आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, ई० १९६६

काव्य-शास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन—डॉ० शंभुनाथ पाण्डेय, सरस्वती संवाद आगरा, सं० २०१७

जसवंत भूषण— मुरारिदान, ना० प्र० सभा, पुस्तकालय से उपलब्ध

ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—डॉ० भोलाशंकर व्यास, ना० प्र० सभा काशी, सं० २०१३

भारतीय साहित्य शास्त्र भा० १—पं० बलदेव उपाध्याय, नन्दकिशोर एण्ड सन्स काशी, ई० १९६३

भारतीय साहित्य शास्त्र भा० २—पं० बलदेव उपाध्याय, प्रसाद परिषद् काशी, सं० २०१२

भिखारीदास ग्रन्थावली भाग २—संपा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ना० प्र० सभा काशी, सं० २०१४

रस कलस—अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस, ई० १९५२

रस-मीमांसा रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० सभा काशी, स० २०१७

रस-सिद्धान्त की दार्शनिक व नैतिक व्याख्या—डॉ० तारकनाथ बाली, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, ई० १९६४

रसज्ञ-रंजन—महावीरप्रसाद द्विवेदी, साहित्य रत्न भण्डार आगरा, ई० १९२०

रीतिकाल और आधुनिक काल के सन्धि सूत्र—डॉ० कृष्णदत्त त्रिपाठी (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध)

वाङ्मय विमर्श – पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिंदी साहित्य कुटीर वाराणसी, सं० २०१८

व्यंग्यार्थ कौमुदी—लाला भगवानदीन, ना० प्र० सभा, पुस्तकालय में उपलब्ध

समीक्षा दर्शन—भाग २—डॉ० रामलाल सिंह, इण्डियन प्रेस लिमिटेड इलाहाबाद ई० १९५४

हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास—डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सं० २०१५

गुजराती

साहित्यालोक—रा० वि० पाठक, गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, ई० १९५४

पाश्चात्य-काव्य-शास्त्र

Abercrombie—Principles of Literary Criticism, Indian Edition Vora & Co, Bombay, 1959

Abrams M.H—The Mirror and the Lamp, Oxford University Press London, 1953

Aristophanes—Frogs; (Tr.) Murray Gilbert, George Allen & Unwin 1938

Aristotle Aristotle's Poetics and Rhetorics (Ed) Moxon T A J M Dent & Sons Everyman's Library, London, 1955

Aristotle—Aristotle-Poetics (Ed) Humphry House, Rupert Hart Dawis, London, 1961

Basil Worsfold—Judgement in Literature, J M. Dent & Sons, London, 1957

Butcher S. H.—Aristotle's Theory of Peotry and Fine Arts, Dover Publishing, U S A, 1951

Coleridge S. T—Biographia Literaria, Vol II, Oxford University Press, London, 1949

Jones Edmund D.—English Critical Essays (16th, 17th, 18th centuries), Oxford University Press, London, 1961

Longinus—On the Sublime (Ed) A. O, Prickard, Oxford University Press, London, 1954

Richards I. A.—Principles of Literary Criticism, Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1959

Sidney Philip—Defence of Poesy (Ed) Dorothy M Marcardle, Macmillans & Co. Ltd., London, 1959

William K. Wimsatt and Cleanth Brooks—Literary Criticism, Alfred Aknopf, New York, 1959

Gilbert A. H.—Literary Criticism Plato to Dryden, Wayne State University Press Datroit, London, 1962

Scott James R. A—Making of Literature, London, Martin Secker, 1963

Wellek, Rene and Warren, Austin—Theory of Literature, Harcourt, Brace & World, New York, 1956

Wordsworth and Coleridge—Lyrical Ballads, Oxford University Press, London, 1959

अरस्तू का काव्य-शास्त्र (हिन्दी)—डॉ० नगेन्द्र तथा श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, भारती भण्डार इलाहाबाद, सं० २०१४

एरिस्टोटल चें काव्यशास्त्र (मराठी)—प्रो० गो० वि० करन्दीकर, मौज प्रकाशन बम्बई, ई० १९५७

काव्य मे उदात्त तत्त्व—डॉ० नगेन्द्र तथा श्री नेमिचन्द्र जैन, राजपाल एण्ड संस दिल्ली, ई० १९६१

हिन्दी आलोचना-ग्रन्थ

आचार्य केशवदास—डॉ० हीरालाल दीक्षित, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सं० २०११

आचार्य क्षेमेन्द्र—डॉ० मनोहरलाल गौड, भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ, प्र० आवृत्ति

औचित्य-विमर्श—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, भारती भण्डार इलाहाबाद, सं० २०२४

केशव और उनका साहित्य—डॉ० विजयपालसिंह, राजपाल एण्ड संस दिल्ली, ई० १९६१

केशवदास—चन्द्रबली पाण्डेय, शक्ति कार्यालय इलाहाबाद, ई० १९५१

केशव की काव्य कला—पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पुस्तक-सदन, वाराणसी, सं० २०१८

घनानन्द—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रसाद परिषद् काशी, सं० २००६

घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य-धारा—डॉ० मनोहरलाल गौड, ना० प्र० स० काशी, सं० २०१५

चिन्तामणि भाग-१—रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस (प्रा०) लि० प्रयाग, ई० १९६६

देव और उनकी कविता—डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, ई० १९५७

पद्माकर कवि—शुकदेव दुबे, साहित्यभवन लिमिटेड इलाहाबाद, ई० २०१३

बिहारी बोधिनी—लाला भगवानदीन, साहित्य सेवा सदन, वाराणसी, सं० २०१८

बिहारी रत्नाकर—जगन्नाथदास रत्नाकर, ग्रन्थकार प्रकाशन शिवाला बनारस, ई० १९५१

बिहारी की वाग्विभूति—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान कार्यालय वाराणसी, सं० २०१३

बिहारी और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा डॉ० परमानन्द शास्त्री, भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ, द्वि० सं०

महाकवि भूषण—भगीरथप्रसाद दीक्षित, साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद, ई० १९५३

मतिराम कवि और आचार्य—डॉ० महेन्द्रकुमार, भारतीय साहित्य मन्दिर दिल्ली, ई० १९६०

महाकवि मतिराम—डॉ० त्रिभुवनसिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय बनारस, ई० २०१७

रीतिकालीन काव्य में लक्षणा का प्रयोग—डॉ० अरविन्द पाण्डेय, जवाहर पुस्तकालय मथुरा, ई० १९६६

रीतिकाव्य की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो दिल्ली, ई० १९५३

रीतिकालीन कविता एवं शृंगार-रस का विवेचन—डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, सं० २०१०

रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन—डॉ० ओमप्रकाश शर्मा, हिन्दी साहित्य भण्डार, दिल्ली, १९६५

क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि—डॉ० रामपाल विद्यालंकार, मोतीलाल बनारसीदास पटना, सं० २०१६

सौंदर्य शास्त्र

हिन्दी

सौंदर्य तत्त्व—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता, अनु० डॉ० आ० प्र० दीक्षित, भारती भण्डार इलाहाबाद, सं० २०१७

सौंदर्य-शास्त्र के तत्त्व - डॉ० कुमार विमल, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, ई० १९६७

मराठी

सौंदर्य शोध आणि आनन्द बोध—प्रो० रा० श्री० जोग, व्हीनस प्रकाशन पुणे, ई० १९५४

ENGLISH

Aesthetics - Mondoe C. Beardsley, Har court, Brace and Company, New York 1958

तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र व आचारशास्त्र

तर्क-संग्रह – अन्नम् भट्ट, आथले एण्ड बोडास, भांडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, ई० १९३०

वेदान्त शब्द कोष—स्वामी आत्मानन्द गिरि, सस्तु साहित्यवर्द्धक कार्यालय, अहमदाबाद सं० २०२०

आचारशास्त्र—डॉ० कंचनलता सब्बरवाल, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, ई० १९५४

Ethics – Oesterle, Prentice Hallinc Engle Wood Cliffs, N J. 1957

इतिहास-ग्रंथ तथा साहित्येतिहास ग्रंथ

उत्तर मध्यकालीन भारत—डॉ० अवधबिहारी पाण्डेय, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, ई० १९६५

आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास—डॉ० पी० आर० साहनी, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, ई० १९६१

हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, सं० २००७

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)—डॉ० नगेन्द्र, ना० प्र० सभा, काशी, सं० २०१५

भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास - डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, सरस्वती सदन, मसूरी, ई० १९६०

A short History of Muslim Rule in India—Ishvariprasad, Indian Press (Publications) Ltd, Allahabad, 1958

The Mughal Empire—Dr A. L Shrivastava, Shivlal Aggrawal & Sons, Agra, 1959

Mughal Rule in India—S. M. Edwards and others, S Chand & Co., Delhi, 1956
Some Aspects of Society and Culture during the Mughal age—P.N Chopra, Shivlal Agrawal & Sons, Agra, 1963
Society and Government in Medieval India—Dr A. B. Pandey, Central Book Depot, Allahabad, 1965

प्रकीर्ण

अवदान कल्पलता (खंड १)—क्षेमेन्द्र, सम्पादक परशुराम शर्मा, द मिथिला इंस्टिट्यूट आफ पोस्ट-ग्रेजुएट स्टडीस इन संस्कृत लर्निंग, दरभंगा, १९५९
अवदान कल्पलता (खंड २)—क्षेमेन्द्र, सम्पादक परशुराम शर्मा, द मिथिला इंस्टिट्यूट आफ पोस्ट-ग्रेजुएट स्टडीस इन संस्कृत लर्निंग, दरभंगा, १९५९
कवि कंठाभरण—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला ४, ई० १९३७
कला विलास—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला ४, ई० १९२६
गीता—तिलक, तिलका बन्धु प्रकाशन गृह, पूना २, ई० १९५६
चतुर्वर्ग संग्रह—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला ५, ई० १९३७
चारु चर्या—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला २, ई० १९३२
दर्पदलन—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला ६, ई० १९३०
दशावतार चरित—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला २६, ई० १९३०
देशोपदेश—क्षेमेन्द्र, रिसर्च डिपार्टमेंट जम्मू एण्ड कश्मीर स्टेट, श्रीनगर, ई० १९२३
नर्म माला—क्षेमेन्द्र, रिसर्च डिपार्टमेंट जम्मू एण्ड कश्मीर स्टेट, श्रीनगर, ई० १९२३
नीति कल्पतरु—क्षेमेन्द्र, डॉ० महाजन, भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, ई० १९५६
भारत मंजरी—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला ६४, ई० १८९८
महाभारत (वन पर्व)—गीता प्रेस गोरखपुर, ई० १९५६
बृहत्कथा मंजरी—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला ६९, ई० १९३१
रामायण मंजरी—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला ८३, ई० १९०३
व्यासाष्टक—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला ८३, ई० १९०३
समय मातृका—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला, ई० १९२५
साहित्य सागर—बिहारीलाल भट्ट, ना० प्र० सभा काशी के पुस्तकालय में उपलब्ध
सेव्य सेवकोपदेश—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, काव्यमाला २, ई० १९३२
शाकुंतलम्—कालिदास, ए० बी० गजेन्द्रगडकर, पोप्युलर बुक स्टोर, सूरत, षष्ठ संस्करण
शिशुपाल वध—माघ, चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, ई० १९२९

कोष एवं व्याकरण ग्रंथ

लोक प्रकाश कोष—क्षेमेन्द्र, रिसर्च डिपार्टमेंट आफ कश्मीर स्टेट, श्रीनगर, ई० १९४७
वाचस्पत्यम् – तारानाथ-तर्कवागीश, चौखबा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, ई० १९६२
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी तारिणीश झा, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, ई० १९५७
सिद्धान्त कौमुदी—भट्टोजि दीक्षित, नि० सा० प्रेस, बम्बई, ई० १९४२
शब्दकल्पद्रुम—राजा राधाकान्तदेव, शब्द कल्पद्रुम कार्यालय ७१, पथुरिया घाट स्ट्रीट, कलकत्ता, ई०-१८८७
शब्द-चिंतामणि – सवाईलाल वोरा, दौलतराम शाह, बडौदा, सं० १९५६
व्याकरण महाभाष्य (भाग १)—पतंजलि भाष्य—वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी, पूना, शकाब्द १८६०
हलायुध कोश—जयशंकर जोशी, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश लखनऊ, सं० २०१४
हिन्दी साहित्य कोश—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञान मंडल, वाराणसी, सं० २०२०
The Concise Oxford Dictionary—Fowler & Fowler, Oxford University Press, London, 1959
Sanskrit-English Dictionary—V.S. Apte, Motilal Banarasidas Delhi, 1957
The Students' Sanskrit-English Dictionary – V. S. Apte, Motilal Banarasidas, Delhi, 1963
Sanskrit-English Dictionary—Moneir Williams, Oxford University Press, London, 1956

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना—अप्रैल १९५७
नागरी प्रचारिणी पत्रिका—वर्ष ६६, अंक १
कविता—(निराला व रांगेय राघव स्मृति अंक) १९६३